आचारशास्त्र के मूल सिद्धान्त

प्रो० अनिरुद्ध झा
भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

तथा

प्रो० रामनन्दन मिश्र
अध्यक्ष, दर्शन विभाग, एच० डी० जैन कॉलेज, आरा
(वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय)

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली : मद्रास : वाराणसी
बंगलोर : पटना

तृतीय संशोधित संस्करण, १९९४

मोतीलाल बनारसीदास

भारतीय संस्कृति साहित्य के प्रमुख प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता

मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली 110 007

शाखाएँ : चौक, वाराणसी 221 001
अशोक राजपथ, पटना 800 004
120, रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास 600 004
16, सेन्ट मार्क्स रोड, बंगलोर 560 001

मूल्य : 40·00

श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, पटना-4 द्वारा प्रकाशित तथा चन्द्रोदय प्रेस, पटना-4 द्वारा मुद्रित ।

तृतीय संस्करण के विषय में

इस पुस्तक का तृतीय संस्करण आपके हाथ में है । इस संस्करण के प्रकाशन में कतिपय अपरिहार्य कारणों से काफी देर हो गई । इसमें पूर्व संस्करण की त्रुटियों के मार्जन का यथासाध्य प्रयास किया गया है । साथ ही, भारतीय आचारशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन जोड़ दिया गया है । आशा है बी० ए० (पास एवं ऑनर्स) के छात्रों एवं सामान्य पाठकों के लिए यह पुस्तक अब अधिक उपयोगी होगी ।

नवम्बर, 1993

—लेखकद्वय

दो शब्द

आचारशास्त्र की यह नई पुस्तक आपके समक्ष है। इस पुस्तक के मूल्य तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में आप पाठकों का ही निर्णय अन्तिम निर्णय समझा जायेगा। इस सम्बन्ध में हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि हमलोगों ने इस पुस्तक में आचारशास्त्र के मूल सिद्धान्तों को सरल तथा प्रामाणिक रूप से उपस्थित करने का यथाशक्ति प्रयास किया है। अब आप कह सकते हैं कि इस प्रयास में हमें कहाँ तक सफलता मिली है। यों तो हिन्दी में इस विषय पर कुछ पुस्तकें निकल चुकी हैं; पर ऐसा लगता है कि इन पुस्तकों में इस विषय के सरल तथा जटिल प्रश्नों पर प्रामाणिक रूप से शायद विचार नहीं किया गया है। यही कारण है कि हमलोगों ने इस पुस्तक के माध्यम से इन प्रश्नों पर विचार किया है।

इस पुस्तक के लिखने में जिन आचारशास्त्र के महारथियों की पुस्तकों से हमें सहायता मिली है, हम हृदय से उनका आभार व्यक्त करते हैं। अंग्रेजी के अनेक लेखकों की पुस्तकों से यत्र-तत्र उद्धरण लिये गये हैं। इन लेखकों के प्रति आभार प्रकट करने के लिए हमारे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं। यदि इनके विचारों से हमारा पूर्ण परिचय न होता तो यह पुस्तक ही न लिखी जा सकती। इन आचारशास्त्र के लेखकों तथा महारथियों को हम अपने गुरुजनों की कोटि में रखते हैं। इस पुस्तक के लिखने में, विशेषकर समकालीन आचारशास्त्र के विवेचन में, हमें प्रो० इन्द्रदेव नारायण सिंह, पटना-कॉलेज, पटना, से जो अमूल्य सहायता मिली है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। श्रीवल्लभ त्रिपाठी ने, जो एच० डी० जैन कॉलेज, आरा के दर्शन-प्रतिष्ठा के छात्र हैं, इस पुस्तक की पांडुलिपि तैयार की है। इसमें उन्होंने जो तत्परता, संलग्नता तथा अध्यवसाय का परिचय दिया है, उसके लिए हम उन्हें धन्यवाद देते हैं और उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

अन्त में, हम अपने सहकर्मियों तथा अपने अनेकानेक विद्यार्थियों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करते हैं, क्योंकि उनकी दर्शन के प्रति अभिरुचि तथा जिज्ञासा ही इस पुस्तक के सृजन की प्रेरणा है। आशा है, विद्यार्थियों तथा साधारण पाठकों को इस पुस्तक के माध्यम से केवल आचारशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान की ही वृद्धि नहीं होगी, बल्कि नैतिक आचरण के सम्पादन में भी सहायता मिलेगी।

पटना,
जुलाई, 1968

—लेखकद्वय

विषय-सूची

पहला अध्याय

आचारशास्त्र की परिभाषा, स्वरूप, लक्ष्य और उपयोग

दूसरा अध्याय

नैतिकता का विकास

तीसरा अध्याय

आचारशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

चौथा अध्याय

आचारशास्त्र की पद्धतियाँ

पाँचवाँ अध्याय

आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार

छठा अध्याय

नैतिक चेतना

सातवाँ अध्याय

नैतिक निर्णय

आठवाँ अध्याय

नैतिकता की आवश्यक मान्यताएँ

नवाँ अध्याय

मौलिक नैतिक प्रत्यय

दसवाँ अध्याय

नैतिक आदर्श या मापदंड

ग्यारहवाँ अध्याय

सुखवाद

बारहवाँ अध्याय

विकासात्मक सुखवाद

तेरहवाँ अध्याय

बुद्धिमूलक उपयोगितावाद

चौदहवाँ अध्याय

अन्त:अनुभूतिवाद

पन्द्रहवाँ अध्याय

बुद्धिवाद

सोलहवाँ अध्याय

आत्मपूर्णतावाद

सत्रहवाँ अध्याय

मूल्यवाद या मूल्यवादोमापदण्ड

अठारहवाँ अध्याय

दण्ड के सिद्धान्त

उन्नीसवाँ अध्याय

व्यक्ति और समाज

बीसवाँ अध्याय

आचारशास्त्र का इतिहास

इक्कीसवाँ अध्याय

समकालीन नैतिक विचार

(मूर, स्टीवेन्सन तथा हेअर)

बाइसवाँ अध्याय

भारतीय आचारशास्त्र

पहला अध्याय

1. विषय-प्रवेश

यह सर्वविदित है कि मनुष्य एक व्यक्ति होने के अतिरिक्त सामाजिक प्राणी भी है। किसी परिवार में जन्म लेने के कारण यह सहज रूप में कहा जा सकता है कि मनुष्य किसी समाज के सदस्य के ही रूप में जन्म लेता है। यह बात तो कुछ दूर तक पशुओं के सम्बन्ध में भी सत्य प्रतीत होती है। किन्तु जन्म के बाद पशु-जगत् और मनुष्य-जगत् में बहुत अधिक भेद हो जाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य चेतन तथा विवेकशील प्राणी है तथा वह जो कुछ करता है, किसी चेतन उद्देश्य की पूर्ति के लिये करता है। अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता हो, इसके लिये वह विभिन्न प्रकार के ज्ञान, विज्ञान तथा कला की सृष्टि करता है तथा पूर्व-संचित ज्ञान, विज्ञान तथा कला को सीखता है। किन्तु विभिन्न प्रकार के पशु कुछ अंश तक सामाजिक होते हुए भी अपनी जन्म-जात अंध-प्रवृत्तियों के घेरे में ही आबद्ध रह जाते हैं तथा उनकी दुनिया मनुष्य की दुनिया जैसी जटिल, दिनानुदिन नवीन तथा परिवर्तनशील नहीं हो पाती। वे तो सिर्फ मनुष्य के हाथ की कठपुतलियाँ बनते जाते हैं। वे तो मनुष्य के उपभोग के केवल साधन-रूप में आज संसार में वर्तमान हैं।

यह चेतन और सामाजिक मनुष्य जीवन भर विभिन्न प्रकार के कर्मों को करता रहता है। मनुष्य के कुछ कर्मों के फल अच्छे होते हैं और कुछ के बुरे। कुछ कर्मों को करने से मनुष्य को सन्तोष और सुख मिलता है तथा कुछ को करने से असन्तोष और दुख। कुछ कर्मों की समाज में प्रशंसा होती है और कुछ कर्मों की घोर निन्दा। बचपन से ही प्रत्येक मनुष्य को यह बोध कराया जाता है कि क्या करना उचित है तथा क्या करना अनुचित।

मनुष्य की सहज-प्रवृत्ति तथा विवेक में प्रायः संघर्ष हुआ करता है और इस संघर्ष के कारण उसे उचित-अनुचित तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध होने लग जाता है। बच्चों में क्रोध आने पर सहज-प्रवृत्ति होती है तोड़-फोड़ करने की। जब वह ऐसा करने लग जाता है तो माता-पिता उसे समझाते हैं कि ऐसा करना उचित नहीं है। आगे चलकर वह भी बुद्धि या विवेक के कारण उचित तथा अनुचित के भेदों को समझने लग जाता है।

समाज में जितनी संस्थाएँ हैं या होती हैं, जिनके द्वारा मानव-जीवन संचालित होता है, विभिन्न प्रकार के नियमों से आबद्ध रहती हैं। प्रत्येक परिवार के अपने तौर-तरीके होते हैं, प्रत्येक राज्य के अपने नियम, प्रत्येक धर्म के अपने मूल सिद्धान्त, आदि। इन संस्थाओं के नियमों के अनुकूल कर्म को उचित तथा प्रतिकूल कर्म को अनुचित कहा जाता है। अतः यह देखा जाता है कि उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, शुभ-अशुभ का भेद व्यक्ति या समाज के हर क्षेत्र में पाया जाता है।

इस सम्बन्ध में यह बात भी स्मरणीय है कि जिस प्रकार मनुष्य अनेक प्रकार के हैं, या होते हैं उसी तरह विभिन्न प्रकार के परिवार, विभिन्न प्रकार के राज्य, विभिन्न प्रकार के धर्म आदि हैं या होते हैं। इस विविधता के कारण उन संस्थाओं के नियम तथा उद्देश्य भी भिन्न-भिन्न हैं या होते रहे हैं। यही कारण है कि उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, शुभ-अशुभ सम्बन्धी विचार-विमर्श भी विभिन्न स्थान-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न हुए हैं या हैं।

यह हमें मालूम है कि विज्ञान तथा दर्शन का उद्देश्य रहा है अनेकत्व में एकत्व की खोज, विविधता में एकता का अनुसन्धान। उसी प्रकार आचारशास्त्र भी विभिन्न नैतिक नियमों तथा मूल्यों के मध्य एक सार्वभौम नियम या मूल्य की खोज करता है या कराता आ रहा है। वह नैतिक नियम कौन-सा है जो सभी मनुष्यों के लिये सभी स्थान तथा सभी काल में सत्य माना जाय? वह कौन-सा नैतिक नियम है जो मनुष्य के कर्मों का निर्णय कर सके कि कौन-सा कर्म उचित है और कौन-सा अनुचित? वह कौन-सा नैतिक मूल्य या शुभ है जिसकी प्राप्ति से मनुष्य-जीवन सर्वदा सफल तथा आनन्दमय समझा जा सकता है? जीवन का चरम उद्देश्य क्या है?—सुख की प्राप्ति या आनन्द की या आत्मपूर्णता की।

आचारशास्त्र इन्हीं मूल प्रश्नों पर विचार करता है तथा प्रयास करता है कि मनुष्य-जीवन उत्तरोत्तर सुख और आनन्द की प्राप्ति करते हुए आत्मपूर्णता की ओर अग्रसर हो।

2. आचारशास्त्र की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों ने आचारशास्त्र की परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी है। इन परिभाषाओं को जानने के पहले हमें इसके शाब्दिक अर्थ पर ध्यान देना चाहिए। आचारशास्त्र को अंग्रेजी में 'एथिक्स' (Ethics) कहा जाता है, जिसकी उत्पत्ति यूनानी विशेषण 'एथिका' (Ethica) से हुई है जो स्वयं 'इथौस' (Ethos) संज्ञा से उत्पन्न है। 'इथौस' का अर्थ रीति-रिवाज, व्यवहार या अभ्यास होता है। आचारशास्त्र के लिए 'मोरल फिलोसफी' (Moral Philosophy) शब्द का भी प्रयोग होता है। 'मोरल' शब्द लैटिन भाषा के 'मोरस' (Moras) संज्ञा शब्द से

उत्पन्न है जिसका भी अर्थ होता है रीति-रिवाज या अभ्यास। इस तरह 'एथिक्स' का शाब्दिक अर्थ है, 'मानव की रीति-रिवाजों या अभ्यासों का विज्ञान'। अभ्यास चरित्र की अभिव्यक्ति है। अतः आचारशास्त्र को 'चरित्र का विज्ञान' कहा जा सकता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर मैकेन्जी ने आचारशास्त्र की इस तरह परिभाषा की है—"आचारशास्त्र मनुष्य की आदतें यथा रीति-रिवाज अथवा उसके चरित्र की विवेचना करता है तथा उन सिद्धान्तों के औचित्य या अनौचित्य पर विवेचन करता है, जिनके कारण मानवीय आदतें उचित या अनुचित, शुभ या अशुभ होती हैं।"[1]

आचारशास्त्र उचित तथा अनुचित आचरण का विज्ञान है।[2] उचित कर्म वह है जो मानव-शुभ की प्राप्ति में सहायक होता है तथा अनुचित कर्म विपरीत दिशा में ले जाता है। मानव-शुभ विभिन्न प्रकार तथा कोटि के होते हैं। उनमें परम शुभ सर्वोच्च शुभ है। अतः आचारशास्त्र सर्वोच्च शुभ का विज्ञान है। आचारशास्त्र में विभिन्न मापदण्डों के आधार पर मानव-आचरण का मूल्यांकन किया जाता है। यह शास्त्र हमें बतलाता है कि मानव-जीवन के चरम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए मनुष्य के कर्मों के सम्बन्ध में किस प्रकार नैतिक निर्णय किया जा सकता है अर्थात् कैसे उन्हें उचित या अनुचित, शुभ या अशुभ कहा जा सकता है। प्रो० पी० बी० चटर्जी ने इसे ठीक ही "नैतिकता का विज्ञान" कहा है। अरस्तू के अनुसार आचारशास्त्र मानव-जीवन के चरम लक्ष्य का अन्वेषण है।

विलियम लिली ने आचारशास्त्र की इस प्रकार की परिभाषा की है। उनके अनुसार "आचारशास्त्र समाज में रहनेवाले मनुष्य के आचरण का आदर्शवादी विज्ञान है—एक विज्ञान जो इस आचरण को उचित या अनुचित शुभ या अशुभ निर्णीत करता है।"[3]

---

1. "Ethics discusses men's habits and customs, or in other words; their characters. the principles on which they habitually act, and considers what it is that constitutes the rightness or wrongness of those principles, the good or evil of those habits."
—Mackenzie : Manual of Ethics, P. 1.
2. "Ethics is the science of rightness and wrongness of conduct."
—Dr. J. N. Sinha : A manual of Ethics, P. 2.
3. "........ethics (is) the normative science of the conduct of human beings living in societies—a science which judges this conduct to be right or wrong, to be good or bad, or in some similar way."
—William Lillie : An Introduction to Ethics, P. 2.

लिली के अनुसार आचारशास्त्र सर्वप्रथम एक विज्ञान है। विश्व के किसी विशेष विभाग के व्यवस्थित अध्ययन को विज्ञान कहते हैं। आचारशास्त्र मानवीय आचरण के सम्बन्ध में किए गए निर्णयों का व्यवस्थित अध्ययन करता है; अतः यह एक विज्ञान है। पुनः विज्ञान दो तरह का होता है—वस्तुवादी तथा आदर्शवादी। वस्तुवादी विज्ञान यथा भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि वह है जो घटनाओं या वस्तुओं का वर्णन ठीक उसी रूप में करता है जिस रूप में वह उनका निरीक्षण करता है। यहाँ वस्तुओं के मूल्यांकन का कोई प्रश्न नहीं उठता। इसके विपरीत आदर्शवादी विज्ञान यथा सौन्दर्य विज्ञान आदि में उन मापदंडों का अध्ययन किया जाता है जिनके द्वारा हम वस्तुओं का मूल्यांकन करते हैं। ये विज्ञान मापदंडों का केवल वर्णन नहीं करते बल्कि उनकी सत्यता पर भी विचार करते हैं। आचारशास्त्र एक आदर्शवादी विज्ञान है क्योंकि इसमें हम उन मापदंडों का केवल वर्णन नहीं करते जिनके द्वारा मानवीय आचरण का मूल्यांकन किया जाता है अपितु उनकी सत्यता का भी प्रश्न उठाते हैं।

पुनः, लिली महोदय ने आचारशास्त्र को आचरण का आदर्शवादी विज्ञान कहा है। आचरण ऐच्छिक कर्मों का सामूहिक नाम है। ऐच्छिक कर्म वह कर्म है जो मनुष्य अपनी इच्छा से करता है। यदि वह चाहे तो उसकी जगह दूसरा कर्म भी कर सकता है—अर्थात् इच्छानुसार विभिन्न काम करने की उसे स्वतंत्रता है। ऐच्छिक कर्म वे सारे कर्म हैं जो मनुष्य जान-बूझकर, सोच-समझकर चेतन रूप से करता है, जैसे—किसी विद्यार्थी का कॉलेज में अध्ययन करना। अभ्यास-जन्य कर्म, यथा सिगरेट पीना, ऐच्छिक कर्म है यद्यपि वह चेतन रूप से नहीं होता है। यदि कर्त्ता चाहे तो उन्हें दूसरे प्रकार से कर सकता है या अपनी आदत बदल सकता है। अतः आचारशास्त्र का मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि कर्म सोच-समझकर किया जाता है या नहीं; बल्कि यह है कि कर्म को रोका जा सकता है या नहीं। यदि इसे रोका जा सकता है तो यह अवश्य ही ऐच्छिक कर्म होगा और इसे उचित या अनुचित कहा जाएगा। आचरण के अन्तर्गत इच्छा, प्रयोजन आदि अन्तःक्रियाएँ भी आती हैं।

पुनः, आचारशास्त्र केवल मनुष्य के आचरण का अध्ययन करता है, पशुओं के कर्मों का नहीं, क्योंकि पशुओं की क्रियाएँ ऐच्छिक नहीं होतीं। दूसरी बात यह है कि आचारशास्त्र में केवल समाज में रहनेवाले मनुष्यों के आचरण का अध्ययन किया जाता है। इसका कारण है कि समाज में रहकर ही मनुष्य सच्चे अर्थ में मनुष्य बन पाता है। अरस्तू ने इस तथ्य का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—"जो समाज में रहने में असमर्थ है अथवा जिसे कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि

वह पूर्ण है, वह अवश्य ही या तो पशु है अथवा ईश्वर।"[1] अतः आचारशास्त्र में हम उन्हीं मानवीय ऐच्छिक कर्मों पर विचार करते हैं जिनका असर समाज पर पड़ता है। मनुष्य के वैयक्तिक कर्म जो समाज पर असर नहीं डालते, आचारशास्त्र के क्षेत्र के बाहर हैं।

यद्यपि परोक्षरूप से इन कर्मों का भी प्रभाव समाज के दूसरे सदस्यों पर पड़ता है और इस तरह वृहत् अर्थ में वे भी आचारशास्त्र के क्षेत्र के भीतर हैं तथापि प्रारम्भ में नैतिक जीवन की सामाजिक पृष्ठभूमि पर बल देना आवश्यक है।

3. आचारशास्त्र का स्वरूप

(क) एक आदर्शवादी विज्ञान : ऊपर हम लोग देख चुके हैं कि आचारशास्त्र वस्तुवादी विज्ञान नहीं, बल्कि आदर्शवादी विज्ञान है। कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें आचरण का हम ठीक उस रूप में वर्णन नहीं करते जिस रूप में हम उसका निरीक्षण करते हैं, बल्कि एक आदर्श के आधार पर उसका मूल्यांकन करते हैं। मुरहेड ने इस कथन की पुष्टि करते हुए कहा है—"आचारशास्त्र मुख्य रूप से देश-काल स्थित वस्तुओं के अध्ययन से सम्बन्धित नहीं है। वह आचरण सम्बन्धी निर्णय से सम्बन्धित है, जिसके द्वारा कोई आचरण उचित या अनुचित निर्णीत होता है।[2] आदर्शवादी विज्ञान मानवीय चरम आदर्श या मूल्य निर्धारित करने का प्रयास करता है। मानव-जीवन के तीन परम मूल्य या आदर्श प्राचीन काल से माने जाते हैं—सत्य, शिव तथा सौन्दर्य। तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र तथा सौन्दर्य-विज्ञान क्रमशः इन तीनों आदर्शों से सम्बन्धित हैं। अतः तीनों आदर्शवादी विज्ञान हैं। मैकेन्जी का इस सम्बन्ध में कथन है—"वस्तुस्थिति का मात्र ज्ञान एवं विश्लेषण की अपेक्षा ये उनके मूल्यांकन से सम्बन्धित हैं।"[3] आचारशास्त्र परम शुभ को आदर्श मानकर मानव-कर्मों का मूल्यांकन करता है अर्थात् यह निर्णय करता है कि कौन कर्म उचित है तथा कौन अनुचित।

---

1. "He who is unable to live in society, or who has no need because he is sufficient for himself, must be either a beast or a god." —Aristotle.
2. Ethics is not primarily concerned with conduct as a fact in space and time...It is concerned with the judgement upon conduct, the judgement that such and such conduct is right or wrong." —Muirhead.
3. "They are concerned with standards of value rather than with the simple apprehension and analysis of what exists or occurs." —Prof. J. S. Mackenzie : A Manual of Ethics, P. 5.

(ख) **आचारशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान के रूप में :** आचारशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है या नहीं, इस सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद है। प्रो० मैकेन्जी इसे व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानते। उनके अनुसार आचारशास्त्र को आदर्श के स्वरूप को जानकर ही सन्तोष करना चाहिए। इसे आदर्श को प्राप्त करने के नियमों के निर्माण का प्रयास नहीं करना चाहिए। इसमें शुभ रूपी आदर्श का विवेचन होता है, पर उन साधनों के सम्बन्ध में विचार नहीं किया जाता जिनसे इस आदर्श की प्राप्ति हो सकती है। अतः उनके अनुसार आचारशास्त्र आदर्शवादी विज्ञान होते हुए भी व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। डा० यदुनाथ सिन्हा भी इसे व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानते। उनके अनुसार आचारशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं है, क्योंकि यह केवल नैतिक आदर्श की स्थापना का प्रयास करता है पर उस आदर्श को प्राप्त करने के नियमों या साधनों को नहीं बतलाता। वे यह स्वीकार करते हैं कि आचारशास्त्र के अध्ययन का प्रभाव हमारे नैतिक जीवन पर पड़ता है पर इससे आचारशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं हो जाता।

पर मैकेन्जी आदि के कथन असंगत प्रतीत होते हैं। वास्तव में, सिद्धान्त और व्यवहार को बिल्कुल एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। यदि आचार-शास्त्र का काम आदर्श-निर्धारण है, तो इसमें उस आदर्श को प्राप्त करने के नियमों और साधनों और साधनों का भी वर्णन आवश्यक है। इस अर्थ में वह व्यावहारिक हो जाता है। पाश्चात्य दार्शनिक प्रो० सेथ के अनुसार सैद्धान्तिक दर्शन या तत्त्व-मीमांसा के विपरीत आचारशास्त्र को बहुधा व्यावहारिक कहा जाता है। उनके अनुसार आचारशास्त्र व्यवहार का दर्शन या सिद्धान्त है। सिद्धान्त को व्यवहार से अलग करना असम्भव है। अरस्तू के अनुसार आचारवान की अभिरुचि सैद्धान्तिक के साथ-साथ व्यावहारिक भी रहती है। नैतिक सूझ नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। आचारशास्त्र, जो इस सूझ को गहरा बनाता है, एक ही साथ सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों है।

(ग) **आचारशास्त्र कला है या नहीं :** कुछ विचारकों के अनुसार आचारशास्त्र कला नहीं है। आचरण की कोई कला नहीं होती है। अध्ययन की कोई भी ऐसी शाखा नहीं जो नैतिक जीवन की कला सिखला सके। नैतिक जीवन व्यतीत करने में अनुभव की सबसे बड़ी आवश्यकता होती है, उपदेश से काम नहीं चलता है। अतः यदि हम मान भी लें कि आचारशास्त्र का काम उपदेश देना है तो भी हम इसे कला नहीं कह सकते; क्योंकि ये उपदेश नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

मैकेन्जी के अनुसार भी आचारशास्त्र कला नहीं है। विलियम लिली के अनुसार कुछ लोग आचारशास्त्र को कला इसलिए नहीं मानते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में शुभ

आचरण और ललित कला में कुछ मौलिक भेद हैं। शायद उनकी नजर इन भेदों पर है :

1. शुभ आचरण तथा कला के बीच पहला अन्तर है कि कला मनुष्य की एक विशिष्ट प्रकार की क्रिया से सम्बन्धित है जबकि शुभ आचरण उसकी सारी क्रियाओं से सम्बन्धित है।

2. कलाकार अपने इच्छानुसार किसी समय अपनी कला का अभ्यास कर सकता है और किसी समय नहीं भी, पर आचारवान व्यक्ति को हमेशा सदाचार का पालन करना पड़ता है, नैतिक जीवन से कुछ क्षण के लिए भी अवकाश नहीं लिया जा सकता है। जागते-सोते, खाते-पीते, जीवन की सभी अवस्थाओं में आचारवान को सदाचार का पालन करना पड़ता है।

3. अच्छा कलाकार वह है जो अच्छी तरह अपनी कला का प्रदर्शन कर सकता है, पर अच्छा आदमी वह नहीं है जो उचित तरीके से काम कर सकता है, बल्कि वह जो उचित तरीके से काम करता है। अच्छाई एक शक्ति या सम्भावना नहीं बल्कि एक क्रिया है।

4. एक अच्छा कलाकार वह है जो अच्छी कला-कृति उत्पन्न करता है न कि वह जो अच्छी कलाकृति उत्पन्न करने की इच्छा, प्रयोजन या अभिप्राय रखता है। पर एक अच्छा आदमी हम उसे भी कहते हैं जो अच्छे काम करने की इच्छा, अभिप्राय या प्रयोजन रखता है, भले ही उसकी इच्छा अच्छे कार्य में परिणत न हो सके। कांट के अनुसार शुभ इच्छा अपने परिणाम के कारण शुभ नहीं है बल्कि केवल इच्छा होने के कारण ही शुभ है। यदि ऐसा भी हो कि किसी खास प्रतिकूल परिस्थिति के कारण यह इच्छा अपने उद्देश्य की प्राप्ति करने में असमर्थ हो, यदि कठिन प्रयास के बाद भी यह कुछ प्राप्त न कर सके और शुभ इच्छा मात्र रहे, तो भी रत्न की तरह यह अपने ही प्रकाश से तथा अपने ही प्रकाश में चमकता रहेगा। रत्न की तरह ही इसमें भी इसके सम्पूर्ण मूल्य अपने आप में निहित हैं।

कला और आचरण के बीच इन अन्तरों के कारण ही मैकेन्जी आदि विचारक आचरण को कला कहना उचित नहीं समझते। पर जैसा कि विलियम लिली ने कहा है, कला और आचरण में कुछ समानताएँ भी हैं।

1. कला तथा आचरण दोनों की सफलता का रहस्य व्यवहार है यद्यपि सिद्धान्त से हमें कुछ सहायता अवश्य मिलती है। व्यवहार द्वारा ही हम उचित कर्म करना सीखते हैं जिस तरह संगीतज्ञ व्यवहार द्वारा ही संगीत सीखता है।

2. दोनों प्रत्यक्ष रूप से बाह्य जगत में परिवर्तन लाते हैं।

3. शुभ कर्म तथा ललित कला दोनों ही से एक ही प्रकार की प्रशंसा उपलब्ध होती है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि शुभ आचरण को हम कला कहें या नहीं, यह निश्चित है कि कला से इसका कुछ अंशों में भेद तथा कुछ अंशों में साम्य है।

4. आचारशास्त्र का क्षेत्र

आचारशास्त्र के क्षेत्र से तात्पर्य है, इसकी विषय-वस्तु की व्यापकता अर्थात् वे विशिष्ट विषय जिनके साथ आचारशास्त्र सम्बन्धित है। आचारशास्त्र नैतिक चेतना के तत्त्वों का अध्ययन करता है। वे तत्त्व हैं—औचित्य तथा अनौचित्य, नैतिक बाध्यता एवं उत्तरदायित्व, पाप-पुण्य, अभिप्राय, प्रयोजन आदि। अतः आचारशास्त्र इन्हीं विषयों का अध्ययन करता है। आचारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है, नैतिक आदर्श की स्थापना करना जिसके द्वारा मनुष्य के कर्मों का नैतिक निर्णय किया जा सके। वह इस तरह के प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करता है, नैतिक आदर्श क्या है? सर्वोच्च शुभ क्या है? आदि। अतः आचारशास्त्र की प्रमुख समस्याएँ निम्न-लिखित हैं :

1. **नैतिक गुण** : आचारशास्त्र मुख्यतः उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य आदि नैतिक गुणों से सम्बन्धित है। इन्हीं के द्वारा मानव आचरण का मूल्यांकन किया जाता है। अतः आचारशास्त्र इनके वास्तविक अर्थ जानने का प्रयास करता है।

2. **नैतिक निर्णय** : आचारशास्त्र हमारे कर्मों का नैतिक निर्णय करता है अर्थात् वह बतलाता है कि कौन-सा कर्म उचित है तथा कौन-सा अनुचित। नैतिक निर्णय से सम्बन्धित होने के कारण नैतिक निर्णय का स्वरूप, उसका विषय, उसकी मान्यताएँ तथा नैतिक निर्णय करने की शक्ति का अध्ययन भी आचारशास्त्र के विषय हो जाते हैं।

3. **नैतिक मापदण्ड** : नैतिक मापदण्ड का अध्ययन आचारशास्त्र की सबसे प्रमुख समस्या है क्योंकि नैतिक निर्णय इसके बिना सम्भव नहीं हो सकता। आचारशास्त्र ऐसे मापदण्डों की स्थापना करता है जिनके आधार पर मानव आचरणों का नैतिक निर्णय किया जा सके। अतः नैतिक मापदण्ड का स्वरूप, वास्तविक आदर्श, परम लक्ष्य या सर्वोच्च शुभ आदि की समस्याएँ आचारशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाती हैं।

4. **नैतिक पद्धति** : नैतिक निर्णय करने के लिए किसी प्रणाली का अनुसरण करना आवश्यक है। अतः नैतिक निर्णय करने के लिए नैतिक पद्धति या प्रणाली का ज्ञान आवश्यक है।

5. **कर्त्तव्य, अधिकार और नैतिक बाध्यता** : उचित तथा अनुचित की चेतना के साथ कर्त्तव्य एवं नैतिक बाध्यता की चेतना भी रहती है। जिसे हम उचित समझते हैं उसे करना और जिसे अनुचित समझते हैं उसे नहीं करना, हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हम एक प्रकार के बन्धन का अनुभव करते हैं जो हमें उचित कर्म करने को बाध्य करता है तथा अनुचित कर्म नहीं करने को, इसी को नैतिक बाध्यता कहते हैं। हम अनुभव करते हैं कि हम नैतिक नियम के बन्धन से जकड़े हुए हैं। कांट का कहना है कि उचित का कोई अर्थ नहीं है यदि उसका करना कर्त्तव्य नहीं समझा जाए। एक व्यक्ति का कर्त्तव्य दूसरे के लिए अधिकार हो जाता है तथा एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे के लिए कर्त्तव्य; अतः कर्त्तव्य, बाध्यता और अधिकार का विचार आचारशास्त्र में किया जाता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्न उठते हैं जिनका समाधान करना आचारशास्त्र का काम है, क्यों कुछ कर्म कर्त्तव्य हो जाते हैं? नैतिक बाध्यता का स्वरूप क्या है? नैतिक बाध्यता की उत्पत्ति कैसे होती है?

6. **पाप, पुण्य एवं उत्तरदायित्व** : उचित कर्म करने वाले को हम पुण्यात्मा कहते हैं तथा अनुचित कर्म करने वाले को पापात्मा। हमारी यह मान्यता है कि सामान्य मनुष्य अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है; क्योंकि उसमें इच्छा-स्वातन्त्र्य है। अतः निम्नलिखित विषयों पर विचार-विमर्श करना भी आचारशास्त्र का कर्त्तव्य हो जाता है—पाप, पुण्य तथा उत्तरदायित्व का क्या अर्थ है? पाप-पुण्य की मात्रा का निर्णय कैसे किया जाय? आदि।

7. **दण्ड तथा पुरस्कार** : हम कहते हैं कि उचित कर्म करने वाले को पुरस्कार मिलना चाहिए तथा अनुचित कर्म करने वाले को दण्ड। अतः दण्ड तथा पुरस्कार का अर्थ, उनके विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त आचारशास्त्र के अध्ययन विषय हैं।

8. **नैतिक भावना** : उचित कर्म करने से जो आनन्दानुभूति या सन्तोषानुभूति होती है तथा अनुचित कर्म करने से जो विषाद या पश्चात्ताप की अनुभूति होती है, उसी को नैतिक भावना कहते हैं। इन अनुभूतियों का नैतिक निर्णय में क्या स्थान है, इस प्रश्न पर भी आचारशास्त्र में विचार-विमर्श होता है। नैतिक भावना का स्वरूप तथा उसकी उत्पत्ति के प्रश्न भी आचारशास्त्र के क्षेत्रान्तर्गत हैं।

9. आचारशास्त्र परोक्ष रूप से अनेक मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं से भी सम्बन्धित है।

मानव के सर्वोच्च शुभ के अध्ययन के सिलसिले में इसे उपर्युक्त समस्याओं से उलझना पड़ता है। ऐच्छिक कर्मों का स्वरूप, उनके उद्गम के कारणों का वर्गीकरण तथा इच्छा-स्वातन्त्र्य आदि मनोवैज्ञानिक समस्याओं से भी आचारशास्त्र सम्बन्धित है। दार्शनिक प्रश्न हैं—मानव का वास्तविक स्वरूप, उसका विश्व में स्थान, इच्छा-स्वातन्त्र्य, आत्मा की अमरता तथा ईश्वर का अस्तित्व एवं स्वरूप। समाजशास्त्र

की समस्याएँ हैं—व्यक्ति तथा समाज का सम्बन्ध और राजनैतिक समस्या है—व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध। इन समस्याओं से आचारशास्त्र का सम्बन्ध होने के कारण वह उन शास्त्रों से भी सम्बन्धित हो जाता है जिनकी वे समस्याएँ हैं। फलतः आचारशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।

5 आचारशास्त्र का लक्ष्य तथा उपयोग

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचारशास्त्र का लक्ष्य है मानव-जीवन के सर्वोच्च शुभ का अन्वेषण करना एवं उस शुभ की प्राप्ति के साधनों को बतलाना। इस तरह आचारशास्त्र हमें बतलाता है कि हमें किस तरह जीवन व्यतीत करना चाहिए। वह हमें नैतिक सूझ देता है जो नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। सुकरात की प्रसिद्ध उक्ति "ज्ञान ही धर्म है।"[1] निराधार नहीं है। यह भी सही है कि ज्ञान से ही अनायास कोई धार्मिक नहीं हो जाता जैसा कि निम्नांकित श्लोक से स्पष्ट है— "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।"

अर्थात् मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है लेकिन उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती। यह भी जानता हूँ कि अधर्म क्या है, पर उससे निवृत्ति नहीं होती। फिर भी ज्ञान हम में धार्मिक प्रवृत्ति को उत्पन्न करने का प्रयास करता है और ज्ञानी मनुष्य के धार्मिक बनने की सम्भावना बहुत अधिक होती है। आचारशास्त्र प्रचलित रीति-रिवाजों, आदतों और नैतिक मूल्यों का विश्लेषण कर, उनकी बुराइयों, असंगतियों तथा दोषों को दूर कर सही नैतिक नियमों और मूल्यों की स्थापना करने में सफल होता है। यह केवल इतना ही नहीं बतलाता कि अमुक कर्म अनुचित है और अमुक उचित, बल्कि यह भी आदेश देता है कि उचित कर्म करना चाहिए तथा अनुचित का परित्याग करना चाहिए। इस तरह यह मानव को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयास करता है। इस तथ्य को गिजीकी तथा क्वायट ने बिल्कुल ही स्पष्ट ढंग से रखा है। उन लोगों का कहना है कि "आचारशास्त्र व्यक्ति को अपने जीवन के आचरण में सलाह देता है तथा उनके अन्तःकरण को प्रकाशित करता है जिसमें वह अपने तथा अन्य मनुष्यों के कर्मों, इच्छाओं तथा विचारों का सही ढंग से मूल्यांकन कर सके।"[2] इस तरह स्पष्ट होता है कि आचारशास्त्र के निषेधात्मक तथा भावात्मक दोनों पक्ष हैं और प्रत्येक पक्ष में इसका सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक मूल्य है।

1. "Knowledge is virtue." —Socrates.
2. "...it (Ethics) will furnish counsel to the individual in the conduct of his own life and enlighten his conscience, so that he may judge and rule aright both his own actions, wishes and thoughts and those of his fellowmen." —Gizyckis and Coit.

हमारे व्यावहारिक जीवन के सभी पक्षों पर आचारशास्त्र परोक्षरूप से गहरा प्रभाव डालता है। धर्म, राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, शिक्षा आदि की प्रमुख समस्याओं का सही समाधान उचित तथा अनुचित की सही धारणा पर निर्भर करता है। धर्म अवश्य ही आचारशास्त्र पर आधारित होना चाहिए। महात्मा गाँधी इस बात पर सदा जोर देते थे कि नैतिकता धर्म की जान है। उन्होंने हमें सदा नैतिक धर्म का पाठ पढ़ाया। प्राचीन भारतीय ऋषियों की तरह गाँधीजी ने बतलाया कि नैतिकता ही धर्म है (आचारः परमो धर्मः)। नैतिकता से रहित होने पर धर्म अन्धविश्वासों का पिटारा हो जाता है। राजनीति भी आचारशास्त्र के साँचे में ढाली जानी चाहिए। अनैतिक नियमों का नाश होना चाहिए। ऐसे नियम बनने चाहिए जिससे मानव का नैतिक उत्थान हो। उसी तरह उत्पादन, वितरण और खपत, न्याय और समानता के आधार पर होना चाहिए। हमारी शिक्षा भी आचारशास्त्र पर आधारित होनी चाहिए। उसे यह निर्णय करना चाहिए कि बच्चों की किन प्रवृत्तियों का विकास करना चाहिए और किन प्रवृत्तियों का दमन करना चाहिए और तदनुकूल शिक्षा देनी चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि आचारशास्त्र हमारे जीवन के सभी पहलुओं से गहरा सम्बन्ध रखता है और फलतः मानवता के उत्थान में उसका बहुत बड़ा हाथ है। फाउलर का कहना है कि 'आचारशास्त्र का अध्ययन मात्र मानव जिज्ञासा की सन्तुष्टि नहीं करता बल्कि यह मानव के लिए अत्यन्त लाभदायक निष्कर्ष प्रस्तुत करता है।"[1]

1. "The study of the grounds and principles of morals is not one of those branches of science which merely gratify a barren curiosity; it is a living and fruitful subject which ever has been, and ever will be fraught with the most important results to the highest interests of mankind."—Fowler : The Principles of Morals, P. 22.

दूसरा अध्याय

नैतिकता का विकास

1. विकास की सतहें

नैतिकता के विकास में तीन सतहें देखी जा सकती हैं : (1) जन्मजात प्रवृत्ति की सतह जिसमें किसी कर्म का औचित्य या अनौचित्य मानव की मौलिक आवश्यकताओं या जन्मजात प्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है; (2) रीति-रिवाज या प्रथा की सतह जिसमें कर्म का उचित या अनुचित होना समूह के रीति-रिवाज पर निर्भर करता है; तथा (3) अन्तःकरण की सतह जिसमें औचित्य या अनौचित्य का निर्धारण वैयक्तिक निर्णय द्वारा होता है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह विकास-क्रम ऐतिहासिक है। अत्यन्त प्रारम्भिक समाज में रीति-रिवाज एवं वैयक्तिक निर्णय कुछ अंशों तक औचित्य या अनौचित्य को निर्धारित करते हैं तथा अत्यन्त समुन्नत समाज में भी जन्मजात प्रवृत्तियाँ आचरण के मापदण्डों को प्रभावित करती हैं। अतः इस विकास-क्रम को ऐतिहासिक न कहकर तार्किक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

2. जन्मजात प्रवृत्ति की सतह

अत्यन्त प्रारम्भिक स्थिति के मानव के दो विरोधी चित्र प्रायः उपस्थित किए जाते हैं। फ्रेन्च दार्शनिक रूसो के अनुसार अत्यन्त प्रारम्भिक मानव स्वभावतः स्वतंत्र तथा भला था। उस स्थिति में मानव-जीवन अत्यन्त शान्त, प्रेमपूर्ण एवं सुखमय था। दूसरी ओर अंग्रेज दार्शनिक हॉब्स का कहना है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है तथा केवल अपने सुख की खोज करता है। इस स्थिति में मानव-मानव के बीच द्वन्द्व होना स्वाभाविक है; क्योंकि 'एक अनार सौ बीमार' वाली बात इस विश्व के लिए चरितार्थ होती है। प्रत्येक मनुष्य विश्व की अल्प सुखदायक वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयास करता है और इस प्रयास में आपसी संघर्ष स्वाभाविक है। हॉब्स के अनुसार "मानव-जीवन कष्टपूर्ण, भयपूर्ण, एकाकी एवं दुःखपूर्ण है।"[1]

प्रारम्भिक मानव स्वभाव की दोनों तस्वीरें एकांगी हैं। रूसो इस बात का ध्यान नहीं रखते कि मानव में घृणा और स्वार्थपरता की भी उत्कट प्रवृत्ति है तथा हॉब्स इस बात को भूल जाते हैं कि मनुष्य में समाज में रहने की प्रवृत्ति एवं

1. "......the life of man, solitary, poor, nasty, brutish and short."
—Hobbes.

सहानुभूति, प्रेम, दया आदि की भी प्रवृत्तियाँ हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मानव में प्रारम्भ से ही कुप्रवृत्तियाँ तथा सुप्रवृत्तियाँ दोनों हैं।

प्रारम्भिक समाज में आचरण का विकास अवश्य ही दोनों दिशाओं में हुआ होगा।

1. मानव-आचरण अधिक सामाजिक तथा सहयोगपूर्ण क्रमशः हुआ होगा। अकेला मनुष्य न अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुओं का निर्माण कर सकता था और न शत्रुओं से अपनी रक्षा ही कर सकता था। अतः स्वभावतः सामाजिक प्राणी होने के कारण तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अच्छी तरह से करने के लिए मनुष्य दूसरे मनुष्यों के साथ अस्थायी एवं स्थायी सम्बन्ध स्थापित करता है। इसके फलस्वरूप कार्य का बँटवारा हुआ होगा और अपनी प्रवृत्ति एवं योग्यता के अनुसार विभिन्न मनुष्य विभिन्न कार्यों में संलग्न हो गये होंगे। उदाहरणस्वरूप पुरुष बाहर के काम करने लगे होंगे तथा स्त्रियाँ गृह-कार्य सम्भालने लगी होंगी। ऐसा कहा जाता है कि कार्य के आधार पर ही भारत में लोग चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में विभक्त हुए।

2. अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए जैसे-जैसे मनुष्य ने बुद्धि का प्रयोग किया उसका आचरण उसी अनुपात में तर्कसंगत होता गया। उत्पादन तथा युद्ध के निमित्त बने उपकरणों से यह बात प्रमाणित होती है। बुद्धि का प्रयोग कर कमजोर मनुष्य बलवान से अपनी रक्षा करने लगा और इसीलिए 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य' वाली कहावत प्रचलित हुई होगी।

ऐसे समाज के अस्तित्व की कल्पना यथार्थ नहीं मालूम पड़ती जिसमें केवल जन्मजात प्रवृत्तियों के द्वारा ही मानव आचरण का मूल्यांकन किया जाता हो। यहाँ हम केवल उन प्रवृत्तियों का संकेत कर रहे हैं जो मानवीय आचरण के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में वर्तमान होंगी।

3. रीति-रिवाज या प्रथा की सतह

इस अवस्था में मनुष्य अपने कर्मों का मूल्यांकन अपने समाज की प्रथाओं के आधार पर करता है। इस सतह का महत्त्व इस बात से स्पष्ट है कि 'Ethics' तथा 'Morals' दोनों का शाब्दिक अर्थ होता है—रीति-रिवाज या प्रथा। इस स्थिति में लोग उस कर्म को उचित समझते हैं जिसे उनके दल के प्रमुख लोग उचित कहते हैं और उस कर्म को अनुचित जिसे वे लोग अनुचित बतलाते हैं। समाज में उसके वृद्ध, अनुभवी तथा नेताओं का जीवन आदर्श तथा अनुकरणीय समझा जाता है—(महाजनो येन गतः स पन्थाः)। इस नैतिकता का आधार मानव की सामाजिक प्रवृत्ति तथा इससे सम्बन्धित सहानुभूति, प्रेम आदि अन्य

प्रवृत्तियाँ हैं। समाज के नैतिक विचार मनुष्य के सामने स्वयं-सिद्ध सिद्धान्तों के रूप में आते हैं जिन पर कोई भी विवेकी पुरुष संदेह नहीं करता।

इस सतह की एक प्रमुख विशेषता है कि इसमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। अनेक तरीकों से समाज अपने व्यक्तियों से रीति-रिवाजों का पालन कराता है जिनमें कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है :

1. इनमें सर्वप्रथम जनमत का बल है। हमारी स्वाभाविक सहानुभूति आदि प्रवृत्तियाँ हमें वही कर्म करने की सलाह देती हैं जिनका समर्थन हमारे पड़ोसी करते हैं।

2. प्रथाओं का दूसरा आधार है टैबू। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कर्म करता है जिसका करना समाज में निषेध है तो उसे भय होता रहता है कि दैवी शक्तियाँ उसे इसके लिए सजा देंगी। अतः यह धार्मिक भय की अनुभूति सामाजिक प्रथाओं के पालन में सहायक होती है।

3. इसके साथ-साथ विभिन्न प्रकार के धार्मिक रीति-रिवाज सामाजिक प्रथाओं की आधारशिला को और भी मजबूत बना देते हैं। जब व्यक्ति युवक होता है तो उसे अपने समाज की प्रथाओं के पालन तथा उसके प्रभुत्व को स्वीकार करने की सांस्कारिक शिक्षा दी जाती है। हिन्दुओं के विभिन्न रीति-रिवाज यथा अन्नप्राशन, उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि भी परोक्ष रूप से प्रथाओं के पालन में मदद करते हैं।

4. अन्त में, समाज बल प्रयोग द्वारा भी अपनी प्रथाओं का पालन कराता है। शारीरिक बल प्रयोग के अतिरिक्त भी समाज अन्य कई प्रकार के बलों का प्रयोग करता है। सामाजिक नियमों के उल्लंघन करने वालों को बहिष्कृत कर दिया जाता है। ऐसी सामाजिक प्रवृत्ति के अनेक दोष हैं। समाज की विभिन्न प्रथाएँ इस तरह से मिली-जुली रहती हैं कि तर्क तथा अनुभव पर आधारित प्रथाओं को हम अन्ध-विश्वास पर आधारित प्रथाओं से अलग नहीं कर पाते। कभी-कभी एक साधारण भूल जैसे धार्मिक कर्म के समय किसी गलत शब्द का प्रयोग, हिंसा से अधिक भयानक समझा जाता है। सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि इस तरह के सामाजिक वातावरण में मानव नए एवं क्रियात्मक नैतिक मूल्यों की खोज करने में स्वतन्त्र नहीं रहता। पुनश्च, इसमें कर्म के अभिप्राय एवं प्रयोजन पर थोड़ा भी विचार नहीं किया जाता है।

इन दोषों के रहते हुए भी यह स्पष्ट है कि सामाजिक प्रथाओं ने मानव के नैतिक विकास में सक्रिय योगदान किया है। प्रथाओं के पालन से निश्चय ही मनुष्य में सामाजिकता, सहानुभूति, प्रेम, एकता आदि प्रवृत्तियों का विकास हुआ है तथा होता है।

4. अन्तःकरण की सतह

इस सतह में व्यक्ति स्वयं किसी कर्म के औचित्य या अनौचित्य को निर्धारित करता है। इस तरह के निर्णय करने में मनुष्य अपनी अन्तरात्मा तथा अनुभव द्वारा परिचालित होता है। इस सतह के विकास की तीन दिशाएँ हैं :

1. व्यक्ति स्वयं चिन्तन द्वारा नैतिक मापदण्डों की स्थापना करता है। वह सक्रिय एवं स्वतन्त्र होकर नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करता है। इस कोटि में बुद्ध, क्राइस्ट, गाँधी आदि आते हैं।

2. कभी-कभी अन्तःकरण की दिशा व्यक्तिवादी तथा आत्मनिष्ठ हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति उसी कर्म को उचित समझने लग जाता है जिससे उसके स्वार्थ की सिद्धि होती है या जिसे वह पसन्द करता है। हॉब्स का कहना है कि जो काम हमें पसन्द है वही हमारे लिए उचित है और जो नापसन्द है वह अनुचित है। इस विचारधारा का गहरा असर आधुनिक तार्किक भाववादियों पर पड़ा है।

3. इस व्यक्तिवादी नैतिकता और आचारशास्त्र का क्षेत्र संकुचित होने लगता है। राजनीति और आचारशास्त्र, जो एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं, अब पृथक् होने लगे हैं। राजनीति में आचारशास्त्र की महत्ता लुप्तप्राय होने लगी है।

रीति-रिवाज की सतह से अन्तःकरण की सतह का विकास मानव-स्वभाव की मौलिक प्रवृत्तियों पर आधारित है। सभी मनुष्यों में दो विरोधी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं जिनमें एक सदा नूतनता की खोज करता है तथा दूसरी प्राचीनता से चिपके रहना पसन्द करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। एक प्रवृत्ति उसे स्थापित प्रथाओं से प्रेम करना सिखलाती है तथा दूसरी प्रवृत्ति नये नैतिक प्रत्ययों की खोज करने को प्रेरित करती है।

अन्तःकरण की सतह की उत्पत्ति का दूसरा कारण है वैयक्तिक तथा सामाजिक स्वार्थों में द्वन्द्व। समाज में जब कोई व्यक्ति अत्यधिक प्रतिभाशाली हो जाता है तब वह समाज के स्वार्थों से भिन्न अपने स्वार्थ की बात सोचने लगता है। गाँव में रहनेवाला कुम्हार यदि अद्भुत कला-कृति उत्पन्न करता है तो दूसरे गाँव वाले उसके सामान को खरीदने आते हैं। अपने को अन्य कलाकारों से अत्यधिक कुशल समझ वह अपने स्वार्थ के लिए सामान को ऐसे बाजार में ले जाने की बात सोचने लगता है, जहाँ उसे अधिक-से-अधिक कीमत मिल सके। व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना मानव में सदा विद्यमान रहती है लेकिन प्रथा की सतह में यह प्रथाओं द्वारा नियन्त्रित रहती है। सुअवसर पाकर व्यक्ति उन नियन्त्रणों से मुक्ति पाकर व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। मानव में अपने अस्तित्व को प्रदर्शित करने की

प्रवृत्ति होती है और ऐसा करने का पहला तरीका है नैतिक मामलों में अपना निर्णय व्यवहृत करना। वह जब भी ऐसा करता है प्रथा की सतह से अन्तःकरण की सतह पर पहुँच जाता है।

5. प्रथा की सतह तथा अन्तःकरण की सतह में तुलना

विश्व की वर्तमान नैतिकता बहुत अंशों में प्रथा पर ही अवलम्बित है जिसमें यत्र-तत्र वैयक्तिक चिन्तन का भी स्थान है। सामाजिक दृष्टिकोण से यह एक उपलब्धि है कि अधिकांश मनुष्य बिना प्रश्न किए अपने समाज के नैतिक मापदण्डों को स्वीकार कर लेते हैं। क्योंकि यदि प्रत्येक मनुष्य नैतिक मामलों में प्रश्न करना शुरू करे तो नैतिकता में स्थिरता नहीं आ सकती और न बच्चे अचेतनरूप से अपने समाज की नैतिक परम्परा को सीख सकते। नैतिक मामलों में चिन्तन करने वाला व्यक्ति भी नैतिकता सम्बन्धी अधिकांश बातों को बिना प्रश्न किए परम्परा के रूप में ग्रहण करता है। जब वह प्रचलित मापदण्डों में असंगति पाता है अथवा उन्हें अपनी नैतिक सूझ के अनुकूल नहीं पाता, वह विचार-विमर्श शुरू करता है और तदनुकूल उनमें परिवर्तन लाने का प्रयास करता है।

प्रथा की सतह की नैतिकता तथा अन्तःकरण की सतह की नैतिकता में निम्नलिखित भिन्नताएँ हैं :

1. प्रथा की सतह में धार्मिक कृत्य तथा नैतिक आचरण का समान महत्त्व है। पुनः, नैतिक नियम तथा राजनैतिक नियमों में भेद नहीं किया जाता है। नैतिकता तथा सभ्यता में भी स्पष्ट भेद नहीं पाया जाता है। अन्तःकरण पर आधारित नैतिकता में ये सारे भेद स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। यद्यपि यह मानता है कि सभ्यता, राजनैतिक नियम आदि का प्रभाव भी परोक्ष रूप से नैतिकता पर पड़ता है।

2. प्रथा की सतह में व्यक्ति दूसरों की नकल करता है पर अन्तःकरण की सतह में वह अपने समाज की प्रथाओं पर विचार-विमर्श करता है। इस विचार-विमर्श के फलस्वरूप वह स्थापित प्रथाओं के सम्बन्ध में विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचता है। इसके कारण वह पाता है कि कुछ प्रथाएँ जो पहले लाभदायक थीं अब नहीं हैं बल्कि वे समाज के लिए हानिकारक हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में वह समाज-सुधार का काम करने लगता है। आर्य-समाज तथा ब्रह्म-समाज के नेताओं ने प्राचीन हिन्दू प्रथाओं में परिवर्तन लाने का अथक प्रयास किया है। इस व्यक्तिगत ज्ञान के कारण वह समझने लगता है कि विभिन्न प्रथाएँ विभिन्न महत्त्व की हैं। कोई प्रथा कम महत्त्वपूर्ण है तथा कोई अधिक। वह जान पाता है कि कुछ प्रथाएँ उसकी नैतिक सूझ के अनुसार असंगत हैं।

3. प्रथा की सतह में विकास, परिवर्तन या उन्नति सम्भव नहीं है पर अन्तःकरण की सतह में परिवर्तन या विकास सम्भव है।

4. प्रथा की सतह में कर्म की केवल बाह्य अभिव्यक्तियों पर ध्यान दिया जाता है, उसके अभिप्राय एवं प्रयोजन पर नहीं। पर अन्तःकरण की सतह में कर्म के अभिप्राय एवं प्रयोजन पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि ईश्वर मनुष्य के हृदय को ही देखता है।[1]

5. प्रथा की सतह में बड़े-बड़े नैतिक द्रष्टा प्रकट होते नहीं पाए जाते हैं पर अन्तःकरण की सतह में महान् सन्त तथा ऋषियों का प्रादुर्भाव सम्भव है। हाँ, प्रथा की सतह में यह लाभ अवश्य है कि मानव को वह अधोपतन से बचाता है जबकि अन्तःकरण की सतह में यदि कोई मनुष्य गलत रास्ता अपनाता है तो उसका अधोपतन अवश्यम्भावी है।

6. प्रथा की सतह प्रत्येक व्यक्ति की विशेष परिस्थितियों में नैतिक मार्ग दर्शन नहीं कर सकता। किसी विशेष परिस्थिति में कौन-सा कर्म उचित है अथवा कौन-सा अनुचित, यह व्यक्ति की नैतिक सूझ पर निर्भर करता है।

अन्तःकरण की सतह में भी अनेक दोष हैं : सर्वप्रथम, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यदि कोई व्यक्ति बुरा मार्ग ग्रहण करता है तो उसे रोकने वाला कोई नहीं होता। दूसरा दोष यह है कि व्यक्ति उन नैतिक नियमों का पालन करना छोड़ देता है जिनका अर्थ तथा जिनकी उपयोगिता वह नहीं समझता। इसका समाज पर बड़ा बुरा असर होता है। अतः हमें परम्परागत प्रथाओं का परित्याग तभी करना चाहिए जब हम यह देख पाएँ कि ये निश्चित रूप से हानिकारक हैं।

6. नैतिकता का ऐतिहासिक विकास

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी प्रथा की सतह से अन्तःकरण की ओर विकास वास्तविक है यद्यपि यह विकास क्रमिक नहीं कहा जा सकता। इस विकास से हमें निम्नलिखित नैतिक विवेचन उपलब्ध हुए हैं :

1. नैतिक निर्णय में कर्म के बाह्य पक्ष की अपेक्षा अन्तःपक्ष पर अधिक ध्यान देना चाहिए। अपराधियों के प्रति हमारा वर्तमान दृष्टिकोण इसका प्रमाण है। अपराधी के मानसिक इतिहास जानकर तदनुकूल उसके साथ व्यवहार किया जाता है।

2. नैतिक जीवन का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। हम अपने दल या राष्ट्र के संकुचित दायरे से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता की बात सोचते हैं। हमारा दृष्टि-

1. "Man looketh on the outward appearance, but the Lord looketh on the heart." —Quoted by William Lillie.

कोण इतना व्यापक हो जाता है कि पशुओं को भी अकारण कष्ट देना हम अनुचित एवं अनैतिक मानते हैं। इसके कारण ही वर्तमान युग में लोग नैतिकता के क्षेत्र में भी विश्व-दृष्टि की बात जोरों से कर रहे हैं। आज के युग की पुकार है कि हमारे सारे सम्बन्ध—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि व्यापक नैतिक मूल्यों पर आधारित होना चाहिए। यदि आज अन्तःकरण की सतह का विकास नहीं होता तो शायद विभिन्न प्रथा-ग्रस्त समाज में विश्व-नैतिकता की बात नहीं उठती और समाज का नैतिक दृष्टि से उत्थान होना सम्भव नहीं होता।

तीसरा अध्याय

आचारशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

1. आचारशास्त्र और मनोविज्ञान

आचारशास्त्र तथा मनोविज्ञान में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। आचारशास्त्र में आचरण या ऐच्छिक कर्म के औचित्य तथा अनौचित्य के निर्धारण किया जाता है। पर आचरण के औचित्य एवं अनौचित्य के निर्धारण के लिए आचरण के स्वरूप, उद्गम आदि का अध्ययन आवश्यक है। आचरण के स्वरूप उसके उद्गम आदि की मीमांसा मनोविज्ञान में की जाती है। अतः आचारशास्त्र मनोविज्ञान पर आधारित है। संकल्प-स्वातंत्र्य, विभिन्न कर्मों के स्रोत, उनका वर्गीकरण आदि प्रश्नों पर आचारशास्त्र में विवेचन किया जाता है। पर वास्तव में, ये प्रश्न मनोवैज्ञानिक हैं। आचारशास्त्र मानव-जीवन के चरम लक्ष्य का अन्वेषण करता है और उस परम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए यह बतलाता है कि हमें किस प्रकार जीवन-यापन करना चाहिए। पर इसके पहले हमें यह जानना चाहिए कि हम कैसे जीवन व्यतीत करते हैं। यह प्रश्न मनोविज्ञान का है। अतः आचारशास्त्र में नैतिकता के मनोवैज्ञानिक आधार का भी विवेचन होता है। आचारशास्त्र मनोविज्ञान पर आधारित होते हुए भी प्रमुख बातों में इससे भिन्न है। सर्वप्रथम, मनोविज्ञान का क्षेत्र आचारशास्त्र के क्षेत्र से विस्तृत है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध मानसिक जीवन के ज्ञानात्मक, रागात्मक तथा क्रियात्मक, तीन पहलुओं से है जबकि आचारशास्त्र का सम्बन्ध केवल क्रियात्मक पहलू से है।

दूसरे, मनोविज्ञान वस्तुवादी विज्ञान है जबकि आचारशास्त्र आदर्शवादी विज्ञान है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान 'वास्तविक का विज्ञान' है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध 'है' से है जबकि आचारशास्त्र का सम्बन्ध 'चाहिए' से है। मनोविज्ञान यह जानने का प्रयास करता है कि आचरण या ऐच्छिक कर्म का स्वरूप क्या है। आचारशास्त्र का लक्ष्य यह निर्धारित करना है कि हमारा आचरण कैसा होना चाहिए। स्टाउट ने ठीक ही कहा है—"आचारशास्त्र का प्रश्न है कि हमें कैसे कर्म करना चाहिए न कि यह हम कैसे कर्म करते हैं...मनोविज्ञान यह जानने का प्रयास करता है कि हम कैसे कर्म करते हैं, कर्म के औचित्य या अनौचित्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता।[1]" नैतिक तथ्य मानसिक तथ्य हैं अतः वे मनोविज्ञान

1. "Ethics inquires how we ought to will, not how we actually will...psychology deals with the process of volition as it actually occurs, without reference to its rightness or wrongness."
—Stout : Manual of psychology, p. 6.

के क्षेत्र में आते हैं पर मनोविज्ञान उनका अध्ययन सिर्फ मानसिक घटनाओं के रूप में करता है, नैतिक तथ्यों के रूप में नहीं। पर आचारशास्त्र उन घटनाओं के नैतिक मूल्य से सम्बन्धित है। प्रो० सेथ ने ठीक ही कहा है कि "आचारशास्त्र 'चाहिए' का विज्ञान है।[1]" पुनः, आचारशास्त्र नैतिक जीवन के तथ्यों को स्पष्ट करने में दूसरी सहायक मानसिक प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है। पर उनका अध्ययन सिर्फ उनके नैतिक प्रभाव के कारण किया जाता है, न कि मानसिक तथ्यों के रूप में।

मनोविज्ञान मानसिक जीवन के सभी तथ्यों का अध्ययन सैद्धान्तिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए करता है। पर आचारशास्त्र किसी आदर्श की पृष्ठभूमि में हमारे नैतिक जीवन के तथ्यों की व्याख्या का प्रयास करता है और हमें नैतिक आदर्शों पर चलने की शिक्षा देता है। जबकि मनोविज्ञान केवल सैद्धान्तिक शास्त्र है, नीतिशास्त्र सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों है।

कुछ नैतिक चिंतक, जैसे सुखवादी, आचारशास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा मानते हैं। पर ऐसा समझना गलत है। मनोविज्ञान और आचारशास्त्र में जो भिन्नताएँ ऊपर बतलायी गई हैं उनसे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि दोनों एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं।

2. आचारशास्त्र तथा समाजशास्त्र

समाजशास्त्र का अर्थ है समाज का विज्ञान। इसमें समाज की बनावट, उत्पत्ति और विकास की मीमांसा की जाती है। यह सामाजिक वर्गों का प्राकृतिक इतिहास है। समाजशास्त्र का उद्देश्य है मानव-समाज की आदतों, रीति-रिवाजों, संस्थाओं आदि का अन्वेषण तथा वर्णन। आदि काल से मानव का विकास वर्तमान रूप में किस प्रकार हुआ, यही जानना समाजशास्त्र का लक्ष्य है। विभिन्न सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति तथा विकास कैसे हुआ, यही समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय है।

आचारशास्त्र तथा समाजशास्त्र के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है। आचारशास्त्र में मनुष्य के आचरण का अध्ययन किया जाता है। पर आचरण के अध्ययन के लिए सामाजिक जीवन का अध्ययन परमावश्यक है। मनुष्य और समाज के सम्बन्ध पर विचार किए बिना मनुष्य की नैतिक बनावट को समझना सम्भव नहीं है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका आचरण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस सामाजिक व्यवस्था की ओर संकेत करता है जिसका वह सदस्य है। उसका वैयक्तिक श्रेय सामाजिक श्रेय से जुटा है। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि समाज से अलग मनुष्य वास्तविक अर्थ में मनुष्य नहीं कहा जा सकता। जैसा कि डा० सिजविक ने कहा है, "हम लोग व्यक्ति को केवल किसी समाज के एक सदस्य के रूप में जानते

1. "Ethics is par excellence the science of the ought."—Seth.

हैं। उसके सद्गुण उसके सामाजिक व्यवहार द्वारा ही प्रदर्शित होते हैं तथा उसके प्रमुख सुख अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार से ही प्राप्त होते हैं। इसलिए ऐसा मानना गलत है कि मनुष्य का सर्वोच्च शुभ उसके सामाजिक सम्बन्धों अथवा उसके समाज की बनावट तथा स्थिति से स्वतंत्र है।"[1]

संक्षेप में, मानव-स्वभाव के नैतिक तथा सामाजिक पहलू एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते। अतः नैतिक तथा सामाजिक समस्याएँ आपस में सम्बन्धित हैं।

इस तरह आचारशास्त्र तथा समाजशास्त्र में गहरा सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का कारण है कि व्यक्ति का सर्वोच्च शुभ सामाजिक शुभ है। वैयक्तिक उन्नति तथा सामाजिक उन्नति सापेक्ष है। आचारशास्त्र का उपादान समाजशास्त्र से प्राप्त होता है। सामाजिक नियमों, प्रथाओं तथा संस्थाओं का इतिहास नैतिक चिन्तन के लिए उपादान प्रस्तुत करता है। वास्तव में, आचारशास्त्र ही समाजशास्त्र को महत्त्वपूर्ण बनाता है। समाजशास्त्र का कार्य है सिर्फ सामाजिक परिवर्तनों का लेखा-जोखा रखना। आचारशास्त्र इन परिवर्तनों का मूल्यांकन नैतिक आदर्श द्वारा करता है। किसी आदर्श द्वारा सामाजिक परिवर्तनों के महत्त्व को आँकने के पहले इस आदर्श के स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक है। यह कहने के पहले कि कोई पथिक अपने पथ पर आगे बढ़ रहा है यह जानना आवश्यक है कि उसका गन्तव्य-स्थान किस ओर है। अतः आचारशास्त्र तथा समाजशास्त्र अपनी पूर्णता लिए एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं।

कुछ आचारशास्त्री, जैसे विकासवादी, सुखवादी, आचारशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा मानते हैं। उनका कहना है कि नैतिकता समाज के विकास का फल है। वे "वास्तविक' से 'आदर्श' को प्राप्त करना चाहते हैं पर यह विचार गलत है। 'वास्तविक' से आदर्श का विकास नहीं हो सकता। 'है' से 'चाहिए' का विकास सम्भव नहीं है। समाजशास्त्र वस्तुवादी विज्ञान है। इसका सम्बन्ध वास्तविक से है। पर आचारशास्त्र आदर्शवादी विज्ञान है। इसका सम्बन्ध आदर्श से है। अतः आचारशास्त्र कभी भी समाजशास्त्र का एक अंग नहीं हो सकता।

1. "We only know the individual as a member of some society; what we call his virtues are chiefly exhibited in his dealings with his fellows, and his most prominent pleasures are derived from entercourse with them, thus it is a paradox to maintain that man's highest good is independent of his social relations or of the constitution and condition of the community of which he forms a part." —Article on Ethics in the encyclopaedia Britannica : —Dr. Sidgwick

अतः यद्यपि आचारशास्त्र का समाजशास्त्र से गहरा सम्बन्ध है, यह समाजशास्त्र की एक शाखा नहीं है। दोनों में प्रमुख भेद हैं, जो निम्नलिखित हैं :

1. समाजशास्त्र वस्तुवादी विज्ञान है जबकि आचारशास्त्र आदर्शवादी विज्ञान है। समाजशास्त्र सामाजिक वर्गों के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्य प्रदान करता है। आचारशास्त्र किसी नैतिक आदर्श द्वारा उनका मूल्यांकन करता है। सामाजिक प्रथाओं, रीति-रिवाजों तथा संस्थाओं का यह नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन करता है और उन्हें नैतिक या अनैतिक बतलाया है।

2. समाजशास्त्र पूर्णतः सैद्धान्तिक है पर आचारशास्त्र का व्यावहारिक पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है। आचारशास्त्र सामाजिक प्रथाओं तथा नियमों में सुधार लाकर हमारे जीवन को समुन्नत करने का प्रयास करता है।

3. समाजशास्त्र का सम्बन्ध समूह तथा सामूहिक मन से है, पर आचारशास्त्र के लिए व्यक्ति तथा वैयक्तिक मन अधिक महत्त्वपूर्ण है।

4. अन्त में, समाजशास्त्र वस्तुनिष्ठ विज्ञान है। यह मनुष्य के मानसिक परिणामों जैसे प्रथाओं, रीति-रिवाजों, नियमों, संस्थाओं आदि का अध्ययन करता है। ये सभी मनुष्य की मानसिक क्रियाओं के ही तो परिणाम हैं। आचारशास्त्र आत्मनिष्ठ विज्ञान है। यह मनुष्य की ऐच्छिक कर्मों का अध्ययन करता है। खास कर अभिप्राय, प्रयोजन, इच्छा आदि मानसिक क्रियाएँ इसके अध्ययन विषय हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि आचारशास्त्र समाजशास्त्र की एक शाखा नहीं है, यद्यपि दोनों में बहुत ही गहरा सम्बन्ध है।

3. आचारशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र

राजनीतिशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जिसमें राज्य तथा सरकार की बनावट तथा उनके कार्यों का वर्णन किया जाता है। यह एक आदर्शवादी विज्ञान है जो नियमों का निर्माण कर व्यक्तियों के कार्यों का नियंत्रण सामाजिक उपयोगिता के लिए करता है। सरकार का निर्माण मनुष्यों ने अपने सामाजिक लाभ के लिए किया है। सरकार सामाजिक शुभ की प्राप्ति के लिए नियमों का निर्माण करती है। इन नियमों में दंड तथा पुरस्कार दोनों का विधान किया जाता है जिनके कारण जनता इनका पालन करती है। इस तरह राजनीतिशास्त्र आदर्शवादी तथा व्यावहारिक अन्वेषण है जो यह जानने का प्रयास करता है कि सरकारी नियमों द्वारा किस प्रकार जनता के कार्यों को नियंत्रित किया जाये। नियमों का निर्माण जनता की सुरक्षा तथा उसकी भौतिक उन्नति के लिए किया जाता है। आचारशास्त्र व्यक्ति के परम शुभ को निर्धारित करता है। परम शुभ सामाजिक शुभ होता है।

इस तरह आचारशास्त्र राजनीतिशास्त्र से सम्बन्धित है। राजनीतिशास्त्र को नियमों का निर्माण नैतिक सिद्धान्तों के अनुकूल करना चाहिए। कुछ विचारकों का कहना है कि नियम तथा संस्थाएँ जो नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं हैं अधिक समय तक कायम नहीं रह सकतीं क्योंकि नैतिक शक्ति विश्व में सबसे बड़ी शक्ति है। राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य होना चाहिए ऐसे समाज का निर्माण करना जिसमें व्यक्ति अपने सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति कर सके।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस सम्बन्ध में जे० एस० मैकेन्जी का कहना है कि आचारण का अध्ययन आवश्यक रूप से सामाजिक जीवन के अध्ययन की ओर अग्रसर करता है। बिल्कुल अकेला मनुष्य की कल्पना अविचारणीय है। मनुष्य सदा किसी समुदाय का सदस्य होता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा था कि वह एक राजनीतिक प्राणी है। इसलिए आचारविज्ञान तथा राजनीतिविज्ञान में बहुत निकट का सम्बन्ध है। पर, आचारशास्त्र न तो राजनीतिशास्त्र की एक शाखा है और न राजनीतिशास्त्र ही आचारशास्त्र की।

आचारशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में कुछ प्रमुख भिन्नताएँ हैं और वे निम्नलिखित हैं :

1. राजनीतिशास्त्र एक वस्तुनिष्ठ विज्ञान है जबकि आचारशास्त्र एक आत्मनिष्ठ विज्ञान है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य के केवल बाह्य कर्मों का अध्ययन करता है। पर आचारशास्त्र बाह्य कर्मों के साथ-साथ आन्तरिक अभिप्राय, प्रयोजन आदि का भी अध्ययन करता है। प्रो० मुरहेड ने इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है— 'जबकि सामान्य नियम आचरण के बाह्य परिणामों से सम्बन्धित है अथवा सूक्ष्म विचार के अनुसार केवल अभिप्राय से सम्बन्धित है, नैतिकता आन्तरिक प्रयोजन के साथ-साथ बाह्य परिणाम पर विचार करता है।'[1] वे पुनः कहते हैं कि आप कानून द्वारा मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकते।

2. आचारस्त्र का मापदण्ड राजनीतिशास्त्र के मापदण्ड से भिन्न है। आचारशास्त्र का मापदण्ड है नैतिक पूर्णता जबकि राजनीतिशास्त्र का मापदण्ड है सामाजिक उपयोगिता। जो सामाजिक दृष्टिकोण से उपयोगी है वह आवश्यक रूप से नैतिक दृष्टिकोण से उचित नहीं कहा जा सकता। कोई कर्म किसी समुदाय के लिए उपयोगी हो सकता है और नैतिक दृष्टिकोण से अनुचित।

1. "While Law has to do with conduct in its external consequence, or if it goes deeper merely takes account of intention, morality takes account of the inward motive and disposition as well as the outward effect..."—'Muirhead. : The Elements of Ethics. P. 39.

3. राजनैतिक नियम राज्य द्वारा बाहर से लागू किए जाते हैं, पर नैतिक नियम स्वेच्छा से अपने ऊपर लगाए जाते हैं। राजनैतिक नियम का पालन दण्ड के भय या पुरस्कार के लोभ से किया जाता है पर नैतिक नियम का पालन स्वेच्छा से किया जाता है।

4. राजनीतिशास्त्र सामूहिक मन से सम्बन्धित है जबकि आचारशास्त्र वैयक्तिक मन से।

5. आचारशास्त्र राजनीतिशास्त्र से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आचारशास्त्र राजनैतिक नियमों पर नैतिक निर्णय देता है और उन्हें शुभ या अशुभ बतलाता है। आधुनिक सभ्य राज्य राजनैतिक नियमों को नैतिक धरातल पर रखने की कोशिश करते हैं।

आचारशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के सम्बन्ध के विषय में अनेक मत हैं।

मेकीआभेली तथा उनके अनुयायियों का मत है कि राजनीतिशास्त्र का आचारशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। पर यह मत गलत है। राजनैतिक नियमों को नैतिक मूल्यों पर आधारित होना चाहिए।

हॉब्स, बेन आदि विचारकों का मत है कि आचारशास्त्र राजनीतिशास्त्र की शाखा है तथा राजनैतिक नियम ही नैतिक नियम है। यह मत भी गलत है। राजनैतिक नियम तथा नैतिक नियम में मौलिक भिन्नता है।

प्लेटो, अरस्तू, स्पिनोजा तथा हेगेल का मत है कि राजनीतिशास्त्र आचारशास्त्र की एक शाखा है। उपर्युक्त मत की तरह यह भी गलत है।

4. आचारशास्त्र तथा धर्मशास्त्र

डा० फ्लिन्ट के अनुसार धर्म का आधार मानव-विश्वास है। मनुष्य हमेशा से किसी अतीन्द्रिय सर्वशक्तिमान सत्ता में विश्वास करता रहा है। इस तरह की सत्ता एक या अनेक हो सकती है। यह सत्ता मानव-संवेगों तथा कार्यों के प्रति सहानुभूतिशील रहती है। इस विश्वास से निःश्रित भावनाएँ तथा विभिन्न कर्म भी धर्म की परिभाषा में सम्मिलित हैं। सर्वोच्च धर्म वह है जिसमें एक व्यक्तित्वपूर्ण, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता, संहारकर्त्ता, न्यायी, दयालु, पूर्ण, अनन्त तथा शाश्वत ईश्वर में विश्वास किया जाता है। धर्म को समझ लेने के बाद हमें यह जानना चाहिए कि आचारशास्त्र के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। आचारशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के सम्बन्ध के विषय में निम्नलिखित मत हैं :

1. डेकार्ट, लॉक, पेली आदि विद्वानों का मत है कि नैतिकता की उत्पत्ति धर्म से होती है। इन लोगों के अनुसार धर्म ही नैतिकता का स्रोत है। दैविक नियम ही नैतिक नियम है। ईश्वर जिन कर्मों को करने की आज्ञा देता है वे उचित कर्म हैं तथा जिन कर्मों का निषेध करता है, वे अनुचित कर्म हैं।

इस मत का परिणाम यह होता है कि बिना ईश्वर तथा उसके नियम को जाने कोई नैतिक नहीं बन सकता। दूसरे शब्दों में, धर्म के ज्ञान बिना नैतिकता का ज्ञान असम्भव है अर्थात् आचारशास्त्र धर्मशास्त्र पर आश्रित है।

पर इस मत में निम्नलिखित दोष हैं : (क) पहला दोष है कि यह नैतिकता को ईश्वर की इच्छा पर आधारित मानता है। ईश्वर जिन कर्मों को करने की आज्ञा देता है वे उचित कर्म हैं तथा जिन्हें करने से मना करता है वे अनुचित कर्म हैं। पर बात ऐसी नहीं है। ईश्वर उन्हीं कर्मों को करने की आज्ञा देता है जो उचित है तथा उन कर्मों को करने से मना करता है जो अनुचित हैं। अतः नैतिकता ईश्वर के स्वभाव पर आधारित है, उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर नहीं। उचित कर्म को ईश्वर अनुचित नहीं बना सकता और न अनुचित कर्म को उचित ही बना सकता है। (ख) इस मत में दूसरा दोष है कि उचित कर्मों को हम पुरस्कार के लालच से करते हैं तथा अनुचित कर्मों को दण्ड के भय से नहीं करते। पर नैतिक बनने के लिए हमें अपने स्वार्थ से ऊपर उठना पड़ता है।

2. कांट, मार्टिन्यू आदि विचारकों का मत है कि नैतिकता पर ही धर्म आश्रित है। नैतिकता से ही धर्म की उत्पत्ति होती है।

कांट का कहना है कि हमारे अन्दर यह दृढ़ आस्था है कि पुण्यात्मा को सुख मिलेगा तथा पापात्मा को दुःख। पर इस जीवन में ऐसा देखने को नहीं मिलता। हम पाते हैं कि बहुत से पुण्यात्मा दुःख भोग रहे हैं तथा बहुत-से पापात्मा सुख का उपभोग कर रहे हैं। ऐसा देखने से हममें इस विश्वास की उत्पत्ति होती है कि एक ईश्वर है जो पुण्य तथा सुख एवं पाप तथा दुःख को सम्बन्धित करता है। ऐसे ईश्वर में विश्वास धर्म का आधार है। अतः कांट का विचार है कि नैतिकता से ही धर्म की उत्पत्ति होती है।

मार्टिन्यू के अनुसार नैतिक -दायित्व के उद्गम के रूप में ईश्वर को मानना आवश्यक है। हमारा अन्तिम दायित्व सरकार या समाज के प्रति नहीं है, क्योंकि वह हमारे व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्ष—जैसे इच्छा, प्रयोजन, अभिप्राय आदि को नहीं जान सकता। हमारा अन्तिम दायित्व एक ऐसे व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के प्रति है जो हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का ज्ञान रखता है। अतः नैतिकता हमें धर्म की ओर ले जाती है। नैतिकता से ही धर्म की उत्पत्ति होती है।

ऐसे कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से धर्म नैतिकता के पहले आता है। पर न धर्म से नैतिकता की उत्पत्ति होती है और न नैतिकता से धर्म

की। धर्म की उत्पत्ति निर्भरता की भावना से तथा आत्म-रक्षा एवं आत्म-कल्याण के लिए होती है। नैतिकता की उत्पत्ति आत्मा की पूर्णता की भावना से होती है। नैतिकता धर्म के बाद उत्पन्न होती है पर उसके बाद दोनों साथ-साथ चलते हैं। दोनों एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। दोनों का प्रभाव एक-दूसरे पर अधिक पड़ता है। दोनों अपनी पूर्णता के लिए एक-दूसरे पर आश्रित हैं। धर्म नैतिकता का आदर्श आधार है तथा नैतिकता हमारे सामाजिक सम्बन्धों में धर्म की बाह्य अभिव्यक्ति है। इस तरह आचारशास्त्र तथा धर्मशास्त्र एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते हुए भी आपस में घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। नैतिकता के सैद्धान्तिक आधारों का परीक्षण धर्मशास्त्र के समीप लाता है जबकि धार्मिक विश्वास के आधारों का अन्वेषण आचारशास्त्र की ओर प्रवृत्त करता है।

5. आचारशास्त्र का दर्शनशास्त्र एवं तत्त्व-मीमांसा से सम्बन्ध

दर्शन विश्व की सामान्य व्याख्या प्रस्तुत करता है। दर्शन विश्व को उसकी सम्पूर्णता में जानने का प्रयास है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझने की चेष्टा इस शास्त्र में की जाती है। मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है? विश्व का वास्तविक स्वरूप क्या है? मनुष्य का विश्व के साथ क्या सम्बन्ध है? विश्व का क्या आधार है? आदि प्रश्नों की मीमांसा दर्शन के विषय हैं। संक्षेप में कहा जा सकता हैं कि मनुष्य प्रकृति तथा ईश्वर दर्शन के अध्ययन विषय हैं।

आचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा तत्त्व मीमांस से घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। नैतिक समस्याओं का सही समाधान दार्शनिक एवं तात्त्विक अन्वेषणों पर निर्भर करता है। मनुष्य के कर्त्तव्य एवं उसके सर्वोच्च शुभ आदि नैतिक समस्याओं का समाधान, मनुष्य के वास्तविक स्वरूप एवं विश्व के साथ उसके सम्बन्ध को जाने बिना सम्भव नहीं है। नैतिक आदर्श या नैतिक मूल्य के सही रूप को जनना आचारशास्त्र के लिए आवश्यक है। इस तरह आचारशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं तत्त्व मीमांसा पर निर्भर करता है। मैकेन्जी ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—"सभ्यता तथा नैतिक मूल्य-सम्बन्धी विचार आवश्यक रूप से परम सत्ता की समस्या की ओर प्रवृत्त करता है। जब हम यह प्रश्न करते हैं कि मानव-जीवन का महत्त्व और मूल्य किन तथ्यों पर निर्भर करता है तो हमें मानव-व्यक्तित्व के वास्तविक स्वरूप तथा विश्व में उसके स्थान के प्रश्न पर विचार करना ही पड़ता है।"[1] दार्शनिक

1. "The consideration of validity and value leads inevitably to the problem of reality. When we ask what constitutes the value or active worths of human life, we are soon led into the question of the essential nature of human personality and its place in the universe of actual existence."
—Mackenzie : A Manual of Ethics, p. 20-21

विचारों का असर आचारशास्त्र पर इतना अधिक पड़ता है कि जिस तरह का दर्शन होगा उसी तरह की नैतिकता होगी। भौतिकवाद, प्रकृतिवाद तथा अज्ञेयवाद निश्चय ही सुखवाद का समर्थन करेंगे तथा अध्यात्मवाद आत्मपूर्णतावाद का। वास्तव में, दार्शनिक आधार के बिना आचारशास्त्र कल्पना एवं स्वप्न की सतह से ऊपर नहीं उठ सकता।

निम्नलिखित कारणों से आचारशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र में बहुत निकट का सम्बन्ध है।

आचारशास्त्र नैतिक आदर्श की विवेचना है। पर नैतिक आदर्श की सत्यता को जानने के लिए दार्शनिक विवेचन आवश्यक है।

आचारशास्त्र हमारे कर्मों पर नैतिक निर्णय देता है। नैतिक निर्णय परम मूल्य पर आधारित होते हैं। इन नैतिक निर्णयों के अन्तिम आधार को जानने के लिए दार्शनिक एवं तात्त्विक मीमांसा आवश्यक है।

अन्त में, मनुष्य का विश्व तथा ईश्वर से क्या सम्बन्ध है, इस तथ्य का विवेचन भी दर्शन में ही होता है। आचारशास्त्र इस प्रश्न के समाधान की अपेक्षा रखता है। अतः उसे दर्शनशास्त्र पर आश्रित होना पड़ता है।

इतना घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी आचारशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र एवं तत्त्व-मीमांसा में कुछ प्रमुख भेद हैं।

दर्शनशास्त्र का क्षेत्र आचारशास्त्र के क्षेत्र से विस्तृत है। आचारशास्त्र केवल मानव आचरण से सम्बन्धित है जबकि दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण विश्व से।

दर्शनशास्त्र मात्र सैद्धान्तिक है जबकि आचारशास्त्र सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों।

आचारशास्त्र मानवीय शुभ से सम्बन्धित है पर दर्शनशास्त्र विश्व शुभ से।

चौथा अध्याय

आचारशास्त्र की पद्धतियाँ

1. विषय-प्रवेश

'आचारशास्त्र की पद्धति' से हमलोगों का तात्पर्य उस रीति या प्रणाली से है जिसका अनुसरण कर आचारशास्त्र नैतिक समस्याओं पर विवेचन करता है। मानव-जीवन के सर्वोच्च शुभ की खोज में जिन पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है उन्हें आचारशास्त्र की पद्धतियाँ कहते हैं, । विभिन्न नैतिक चिन्तकों ने मानव-आदर्श की स्थापना में विभिन्न विधियों का प्रयोग किया है।

2. मनोवैज्ञानिक पद्धति

कुछ नैतिक दार्शनिकों ने मनोवैज्ञानिक या विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया है। इस पद्धति में मानव चेतना के विश्लेषण द्वारा नैतिक समस्याओं का समाधान ढूँढ़ा जाता है। मानवीय कर्मों के प्रयोजन के विश्लेषण द्वारा मानव आदर्श को निर्धारित किया जाता है।

(क) सुखवाद अथवा उपयोगितावाद मनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का ही परिणाम है। सुखवादी या उपयोगितावादी दार्शनिक जैसे ह्यूम, बेन्थम, मिल, बेन आदि इस पद्धति के प्रयोग द्वारा ही इस सिद्धान्त का निरूपण करते हैं कि सुख ही मानव-जीवन का निःश्रेयस है। इन नैतिक दार्शनिकों के अनुसार सुख ही चरम शुभ है क्योंकि स्वभावतः सभी मनुष्य सुख की खोज करते हैं तथा दुःख से दूर रहना चाहते हैं। हमारे वे कर्म उचित हैं जो सुख प्राप्ति में सहायक होते हैं तथा वे कर्म अनुचित हैं जो सुख प्राप्ति में बाधक होते हैं। मानव के प्रयोजन को विश्लेषित कर ये चिन्तक यह दिखलाते हैं कि मानव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सुख प्राप्त करना चाहता है। अतः सुख ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

अन्तःअनुभूतिवादी यथा उडवर्थ, क्लार्क, प्राइश, मार्टिन्यू, हचिसन-सपट्सबरी आदि विचारक मनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग द्वारा इस निष्कर्ष की स्थापना करते हैं कि कर्मों का औचित्य-अनौचित्य अन्तःअनुभूति द्वारा स्पष्टतः परिलक्षित होता है। हमारे अन्दर कर्मों को उचित-अनुचित समझने की चेतना वर्तमान रहती है। यदि हम अपनी चेतना का विश्लेषण करें तो पाएँगे कि यह हमें अपरोक्ष रूप से कर्म को उचित या अनुचित बतलाती है।

(ख) कांट की आलोचनात्मक विधि या कठोरतावाद भी मनोवैज्ञानिक है क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य की प्रज्ञा ही कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करती है।

मनोवैज्ञानिक विधि आचारशास्त्र की वास्तविक पद्धति नहीं हो सकती क्योंकि मनोविज्ञान में मानसिक घटनाएँ जिस रूप में घटती हैं उसी रूप में उनका अध्ययन किया जाता है। इसमें इन घटनाओं के मूल्यांकन का प्रश्न नहीं उठता। पर, आचारशास्त्र में मानसिक घटनाओं का एक आदर्श द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। इसमें हम उन घटनाओं के औचित्य तथा अनौचित्य का निर्णय करते हैं। प्रो० एच० स्टीफेन इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के गलत होने का डर रहता है तथा काल्पनिक वस्तु भी विषयगत सत्यता धारण कर सकती है। प्रो० सेथ का भी कहना है कि मनोवैज्ञानिक पद्धति नैतिक पद्धति नहीं हो सकती। वे कहते हैं कि मनोविज्ञान नैतिक चेतना को एक घटना के रूप में देखता है। उस घटना के महत्त्व, अर्थ तथा मूल्यांकन से मनोविज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह कार्य आचारशास्त्र का है।

मनोवैज्ञानिक पद्धति को विश्लेषणात्मक पद्धति इसलिए कहते हैं कि इसमें कार्य तथा तत्सम्बन्धी चेतना के विश्लेषण द्वारा नैतिक समस्याओं का समाधान किया जाता है। इसे आगमनात्मक या परीक्षात्मक विधि भी कहते हैं, क्योंकि आगमन की तरह इस विधि में निरीक्षण तथा परीक्षा द्वारा ही निष्कर्ष की स्थापना की जाती है।

3. अमनोवैज्ञानिक या निगमनात्मक पद्धति

कुछ विद्वान् नैतिक समस्याओं की व्याख्या एवं समाधान के लिए अमनोवैज्ञानिक या निगमनात्मक पद्धति का प्रयोग करते हैं। निगमन में आधार-वाक्यों के ही आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। आधार-वाक्यों की सत्यता हम बिना प्रश्न किए स्वीकार कर लेते हैं। इसी तरह कुछ नैतिक चिन्तक किसी सिद्धान्त को बिना परीक्षा किए सही मान लेते हैं और उसी को आधार मानकर नैतिक समस्या सम्बन्धी निष्कर्ष निकालते हैं। इसी तरह की प्रक्रिया निगमनात्मक कहलाती है। इस विधि के विभिन्न रूपों को विभिन्न दार्शनिकों ने अपनाया है। इसके कुछ रूपों का वर्णन नीचे किया जाता है :

(क) **प्रकृतिवादी निगमनात्मक पद्धति** : भौतिकवादी तथा प्रकृतिवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि मानव-जीवन भौतिक तथा प्राकृतिक तत्त्वों या शक्तियों का ही परिणाम है और इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मानव का सर्वोच्च शुभ आत्म-रक्षा एवं अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करना है। यहाँ प्रकृतिवादी निगमनात्मक विधि का प्रयोग किया गया है।

हर्बर्ट स्पेन्सर की शारीरिक जैविक पद्धति प्रकृतिवादी तथा निगमनात्मक है। स्पेन्सर के अनुसार नैतिकता का विकास असभ्य मनुष्यों तथा पशुओं के कर्मों से

हुआ है। वे नैतिक नियमों को समाजशास्त्रीय नियमों से प्राप्त करते हैं। समाजशास्त्रीय नियमों को मनोवैज्ञानिक नियमों से, मनोवैज्ञानिक नियमों को जैविक नियमों से तथा जैविक नियमों को भौतिक नियमों से प्राप्त करते हैं। अतः स्पेन्सर के अनुसार नैतिक नियम जैविक तथा भौतिक नियमों से प्राप्त किए जाते हैं। अतः उनके अनुसार आचारशास्त्र एक प्राकृतिक या वस्तुवादी विज्ञान है।

पर, ऐसा कहना गलत है। आचारशास्त्र वस्तुवादी विज्ञान नहीं बल्कि आदर्शवादी विज्ञान है। नैतिक नियम विशेष प्रकार के होते हैं। इनका सम्बन्ध 'चाहिए' से है, 'है' से नहीं। इन्हें भौतिक तथा जैविक नियमों से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनका सम्बन्ध 'है' से रहता है। अतः भौतिक तथा जैविक पद्धति आचारशास्त्र की पद्धति नहीं हो सकती।

(ख) **ऐतिहासिक निगमनात्मक पद्धति :** स्टीफेन के अनुसार ऐतिहासिक पद्धति ही आचारशास्त्र की पद्धति है। उनका कहना है कि असभ्य मनुष्यों की क्रियाओं से ही नैतिक विचार का विकास हुआ है। इनके अनुसार आचारशास्त्र समाजशास्त्र की एक शाखा है। आचारशास्त्र का अर्थ है नैतिक मूल्यों की उत्पत्ति एवं विकास का अध्ययन करना। स्टीफेन की यह पद्धति निगमनात्मक है; क्योंकि वे नैतिक नियमों को सामाजिक नियमों से प्राप्त करते हैं।

स्टीफेन भी आचारशास्त्र को एक वस्तुवादी विज्ञान के रूप में लेते हैं। अतः इनकी पद्धति के विरुद्ध वे सारे आक्षेप सही होंगे जो स्पेन्सर की भौतिक तथा जैविक पद्धति के विरुद्ध सही हैं।

(ग) **दार्शनिक या तात्त्विक निगमनात्मक विधि :** प्लेटो, अरस्तू, स्पीनोजा, लाइबनिज, हेगेल, ग्रीन आदि दार्शनिक या तात्त्विक निगमनात्मक विधि का प्रयोग करते हैं। इन दार्शनिकों ने अपने नैतिक विचारों को तत्त्व-सम्बन्धी विचारों पर आधारित किया है। इन लोगों ने विश्व तथा मानव-सम्बन्धी तात्त्विक सिद्धान्त से ही नैतिक नियमों को प्राप्त करने का प्रयास किया है। हेगेल के अनुसार परम तत्त्व निरपेक्ष सत्ता है। विश्व की सभी वस्तुएँ, आत्मा समेत, उसी तत्त्व की अभिव्यक्ति या प्रतिरूप हैं। मानव-आत्मा अपूर्ण है। इसलिए पूर्णता की प्राप्ति ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है।

यह मत भी सही नहीं है क्योंकि आचारशास्त्र तत्त्वमीमांसा की एक शाखा नहीं है। यह एक स्वतंत्र शास्त्र है। अतः नैतिक नियमों को तात्त्विक नियमों से प्राप्त करना उचित नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि नैतिक समस्याओं के समाधान में दो प्रकार की पद्धतियों का प्रयोग किया गया है :

1. मनोवैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक या आगमनात्मक पद्धति।

2. अमनोवैज्ञानिक या निगमनात्मक पद्धति। पुनः दूसरी पद्धति के तीन भेद हैं :

(क) प्रकृतिवादी निगमनात्मक पद्धति या भौतिक तथा जैविक विधि,

(ख) ऐतिहासिक विधि,

(ग) दार्शनिक या तात्त्विक विधि।

4. आचारशास्त्र की वास्तविक पद्धति

आचारशास्त्र की वास्तविक पद्धति में मनोवैज्ञानिक तथा अमनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा तात्त्विक, आगमनात्मक तथा निगमनात्मक, आनुभविक तथा प्राग्-आनुभविक, सभी प्रकार के तत्त्व सम्मिलित हैं। मुरहेड का कहना है कि विज्ञान की तरह आचारशास्त्र नैतिक घटनाओं का ठीक-ठीक निरीक्षण करता है, उनका वर्गीकरण करता है तथा उनकी व्याख्या करता है। यह दिखलाता है कि नैतिक घटनाएँ विश्व के आवश्यक अंग हैं। यह नैतिक घटनाओं को अन्य घटनाओं से तथा सत्ता की सम्पूर्ण व्यवस्था से सम्बन्धित कर उनकी व्याख्या करता है। "इसका उद्देश्य नैतिक निर्णयों की व्याख्या एक ऐसी व्यवस्था में उनका स्थान दिखलाकर करना है, जो इनके बिना न्यायसंगत सम्पूर्णता के रूप में नहीं रह सकती।"[1]

आचारशास्त्र नैतिक आदर्श के प्रकाश में नैतिक घटनाओं की व्याख्या करता है। नैतिक आदर्श सत्ता की व्याख्या से सम्बन्धित रहता है। अतः आचारशास्त्र की पद्धति वैज्ञानिक होने के साथ-साथ तात्त्विक भी है क्योंकि आचारशास्त्र मूल्य के निर्णय से सम्बन्धित होता है, जो तात्त्विक है।

प्रो० सेथ का भी यही विचार है। उनके अनुसार विज्ञान के संकीर्ण कार्य के अलावे आचारशास्त्र का कार्य दार्शनिक भी है। आचार-विज्ञान को अपनी पूर्णता के लिए एक नैतिक-दर्शन की आवश्यकता होती है। उंट का भी विचार है कि आचारशास्त्र की वास्तविक पद्धति वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दोनों है। वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा प्राप्त निष्कर्षों की पुष्टि तात्त्विक एवं दार्शनिक अन्वेषण द्वारा होनी चाहिए। उन निष्कर्षों को विश्व के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुकूल दिखलाया जाना चाहिए। दर्शन या तत्त्व मीमांसा ही हमें बतलाता है कि हमारा नैतिक आदर्श सिर्फ हमारे मस्तिष्क की सृष्टि है अथवा वस्तुओं की

1. "It aims at explaining moral judgements by showing their place in a system which can not exist as a consistent whole without them."—Muirhead.

वास्तविक व्यवस्था के अनुकूल है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि तात्त्विक एवं दार्शनिक अन्वेषण के बिना आचारशास्त्र कविता एवं स्वप्न का रूप धारण कर लेगा। नैतिक अन्वेषण में मानसिक अध्ययन की आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ दोनों विधियों का प्रयोग होना चाहिए। अपनी मानसिक क्रियाओं के साथ-साथ हमें दूसरों के आचरण एवं निर्णयों का भी अध्ययन करना चाहिए।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि नैतिक खोज मनोवैज्ञानिक तथा तात्त्विक दोनों है।

पाँचवाँ अध्याय

आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार

1. नैतिक तथा नीतिशून्य कर्म

नैतिकता का विज्ञान होने के कारण आचारशास्त्र को नैतिक तथा नीतिनिरपेक्ष कर्मों की समुचित व्याख्या करनी पड़ती है। नैतिक कर्म वह कर्म है जिसमें नैतिक गुण पाए जाते हैं अर्थात् जिसे उचित या अनुचित कहा जा सके। मतलब यह कि जिस कर्म पर नैतिक निर्णय दिया जा सके उसे नैतिक कर्म कहते हैं। इसी प्रकार के कर्म नैतिक क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इसके विपरीत नीतिशून्य कर्म वह कर्म है जो नैतिक गुणों से रहित है अर्थात् जिसमें उचित या अनुचित होने की क्षमता नहीं है। ऐसे कर्मों पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जाता। ये नैतिक क्षेत्र के बाहर है। नैतिक शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—वृहत् अर्थ में तथा संकुचित अर्थ में।

वृहत् अर्थ में नैतिक कर्म का अर्थ है, वह कर्म जिसमें नैतिक गुण वर्तमान है अर्थात् जिसे उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा कहा जा सकता है। इस अर्थ में बुरे तथा अनुचित कर्म भी नैतिक कहे जाते हैं। संकुचित अर्थ में नैतिक कर्म केवल उचित तथा अच्छे कर्म को ही कहते हैं। इसका विपरीत शब्द 'अनैतिक' होता है। इस अध्याय में 'नैतिक' शब्द का प्रयोग वृहत् अर्थ में किया जाएगा। इस अर्थ में ऐच्छिक कर्म नैतिक कहे जाते हैं। ऐच्छिक कर्म उस कर्म को कहते हैं, जिसे कोई विवेकशील कर्त्ता जान-बूझकर, सोच-समझकर साधन एवं साध्य के पूर्व ज्ञान के आधार पर स्वेच्छा से करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि निम्नलिखित प्रकार के कर्म जो अनैच्छिक हैं, नीतिशून्य कर्म कहलाते हैं। ऐसे कर्म पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता।

1. निर्जीव पदार्थों की क्रियाएँ नैतिक क्षेत्र के परे हैं। अतः वे नैतिक निर्णय के विषय नहीं हो सकतीं। जैसे किसी मनुष्य पर यदि बिजली का पंखा गिर जाता है और मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो यहाँ हम पंखे के गिरने की क्रिया को अच्छी या बुरी क्रिया नहीं कह सकते क्योंकि पंखा एक निर्जीव वस्तु है जिसमें विवेक या इच्छा का सर्वथा अभाव है।

2. पौधे या पशुओं की क्रियाएँ भी नीतिशून्य हैं क्योंकि उनमें भी विवेक या इच्छा का अभाव रहता है। उदाहरण के लिए यदि कोई गाय अपनी सींग से किसी

मनुष्य की आँख फोड़ देती है या पेड़ के गिरने से किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो ऐसी क्रियाएँ अच्छी या बुरी नहीं कही जा सकतीं अर्थात् ऐसी क्रियाओं पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता।

3. मनुष्य के भी कुछ ऐसे कर्म होते हैं जिनमें विवेक या इच्छा का अभाव रहता है। अतः ऐसे कर्मों पर भी नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता। स्वतः क्रियाएँ, जैसे पलकों का गिरना अथवा साँस लेना, नैतिक क्षेत्र के बाहर हैं क्योंकि इनमें भी इच्छा का अभाव रहता है। अतः ये भी कर्म नीतिशून्य हैं। मनुष्य की सहज क्रियाएँ भी नीतिशून्य हैं। मनुष्य की आकस्मिक क्रियाएँ भी नीतिशून्य हैं क्योंकि उनमें भी इच्छा का अभाव रहता है, यथा यदि किसी व्यक्ति से किसी दूसरे व्यक्ति की घड़ी अकस्मात् हाथ से गिरकर टूट जाती है तो उस व्यक्ति के इस कर्म को हम अनुचित नहीं कह सकते। यह सही है कि ऐसी अवस्था में हम मनुष्य को उसकी असावधानी के लिए दोषी ठहराते हैं क्योंकि असावधानी का गुण मनुष्य स्वयं अपने में उत्पन्न करता है, तथापि यह सभी जानते हैं कि सबसे अधिक सावधान मनुष्य भी इस तरह की आकस्मिक क्रियाएँ कर बैठता है। अतः हमारा निष्कर्ष यह है कि आकस्मिक क्रियाओं पर नैतिक निर्णय नहीं देना चाहिए। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि छोटे बच्चों एवं पागल मनुष्यों के कर्म भी नैतिक निर्णय के परे हैं क्योंकि उनमें विवेक एवं चिन्तन का अभाव है। कानून के दृष्टिकोण से भी ऐसे व्यक्ति निर्दोष माने जाते हैं। उदाहरण के लिए, यदि कोई छोटा बच्चा, जिसमें अभी अपने-पराए का ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, किसी दूकान से मिठाई लेकर खा जाता है अथवा किसी कीमती वस्तु को जला देता है तो उसके कर्म को हम बुरा या अनुचित नहीं कहते। इसी तरह यदि कोई पागल व्यक्ति किसी के घर में आग लगा देता है तो उसे भी हम दोष नहीं देते यद्यपि समाज के लिए घातक समझकर हम उसे कैद रखना चाहते हैं। मैरी लैम्ब, जिसने पागलपन की अवस्था में अपनी माँ की हत्या कर दी थी, फिर भी अपने इस कर्म के लिए वह दोषी नहीं कही गई।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वे ही कर्म नैतिक कहे जाते हैं जो सामान्य मनुष्य सोच-समझकर, जान-बूझकर इच्छा एवं चिन्तन के साथ करता है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि क्या अभ्यासजन्य कर्म नैतिक निर्णय के विषय हैं ? इस प्रश्न का उत्तर भावात्मक होगा अर्थात् अभ्यासजन्य कर्म, जो अनैच्छिक एवं स्वतः कर्म जैसे प्रतीत होते हैं, नैतिक निर्णय के विषय हैं। उन्हें हम अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित कह सकते हैं। कारण, प्रारम्भ में ये कर्म ऐच्छिक रहते हैं। बाद में अभ्यास के कारण वे अनैच्छिक एवं स्वतः हो जाते हैं यथा, सिगरेट या शराब पीने की आदत। शुरू-शुरू में मनुष्य जान-बूझकर, सोच-समझकर स्वतन्त्र इच्छा या विवेक से सिगरेट पीना या शराब पीना प्रारम्भ करता है। बार-बार पीते

रहने से वह कर्म आदत में बदल जाता है और तब उस व्यक्ति का हाथ स्वतः सिगरेट एवं सलाई पर चला जाता है अथवा शराब के प्याले पर। चूँकि अभ्यास-जन्य क्रियाएँ प्रारम्भ में ऐच्छिक रहती हैं अतः उनपर नैतिक निर्णय दिया जाता है। यदि व्यक्ति चाहता तो इस आदत को अपने में नहीं आने देता। इतना ही नहीं, दृढ़ संकल्प द्वारा वह आज भी अपनी इस बुरी आदत को दूर कर सकता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि दृढ़-से-दृढ़ बुरी आदत को त्यागकर मनुष्य भला-से-भला कर्म कर सका। 'रत्नाकर' लूट-पाट की आदत को त्यागकर 'महर्षि वाल्मीकि' बन गए। कितने चोर और डकैत सन्त बन गए। कितनी ही वेश्याएँ ईश्वर की परम भक्त बन गईं। ये सारे उदाहरण इस बात को प्रमाणित करते हैं कि अभ्यास हमारी इच्छा से उत्पन्न होता है और हमारी इच्छा से हटाया भी जा सकता है। अतः हमारा निष्कर्ष है कि अभ्यासजन्य कर्म नैतिक निर्णय के विषय हैं।

2. ऐच्छिक कर्म का विश्लेषण

ऊपर हमलोगों ने देखा है कि ऐच्छिक कर्म ही नैतिक निर्णय का उचित विषय है। अतः ऐच्छिक कर्म का विश्लेषण करना आवश्यक है। प्रत्येक ऐच्छिक क्रिया कुछ मानसिक अवस्थाओं एवं क्रियाओं से प्रारम्भ होती है। मानसिक परिवर्तन के कारण कुछ शारीरिक परिवर्तन होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति कुछ शारीरिक क्रियाओं द्वारा होती है। पुनः इनकी अभिव्यक्ति कुछ बाह्य परिणामों में होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि नैतिक क्रिया की तीन अवस्थाएँ होती हैं :

I. मानसिक स्थिति

II. शारीरिक स्थिति

III. बाह्य स्थिति

ऐच्छिक कर्म को ठीक से समझने के लिए इन सभी स्थितियों को समझना आवश्यक है।

I. मानसिक स्थिति

(क) **कर्म की प्रेरणा :** मनुष्य का प्रत्येक कर्म उसकी इच्छा से उत्पन्न होता है। पुनः इच्छा तभी उत्पन्न होती है जब उसे किसी प्रकार की कमी का अनुभव हो। जब मनुष्य को किसी चीज की कमी या आवश्यकता की अनुभूति होती है तो वह दुःख, असन्तोष या अशान्ति का अनुभव करता है, तब वह अपनी कमी को दूर करने के लिए तथा दुःख या असन्तोष की भावना को मिटाने के लिए कुछ-न-कुछ कर्म करता है। अतः अभाव की भावना ही कर्म की प्रेरणा होती है। कहा भी गया है, "आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।" पशु-पक्षी की क्रियाएँ भी भूख-प्यास

आदि की कमी की पूर्त्ति के लिए ही होती हैं, यद्यपि उन्हें इसकी चेतना नहीं रहती। उन्हें भविष्य के अभाव की भी चेतना नहीं रहती। ऐच्छिक कर्म के सम्बन्ध में इस अभाव का आवश्यक रूप में वास्तविक होना आवश्यक नहीं। यह काल्पनिक भी हो सकता है। मनुष्य भविष्य की कमी या अभाव की पूर्त्ति के लिए भी कर्म करता है, अर्थात् मनुष्य वर्तमान अभाव की पूर्त्ति के लिए भी कर्म करता है तथा भविष्य में सम्भावित अभाव की पूर्त्ति के लिए भी। भूख लगने पर तुरत भोजन की तैयारी करना तथा घर में अन्न को इकट्ठा करना जिसमें अन्न-संकट के समय उसकी भूख मिट सके, क्रमशः वर्तमान तथा भविष्य के अभाव की पूर्त्ति की क्रियाएँ हैं। पुनः यह भी आवश्यक नहीं है कि मनुष्य केवल अपनी कमी की पूर्त्ति के लिए ही कर्म करे। प्रेम या सहानुभूति के कारण मनुष्य दूसरों के वर्तमान या भविष्य के अभाव को अपना बना लेता है और उसकी पूर्त्ति के लिए भी कर्म करता है। सड़क पर दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को देखकर उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध करना तथा प्रेमी का अपनी प्रेमिका की इच्छा की पूर्त्ति के लिए अपनी जान की बाजी लगा देना—ये उदाहरण के रूप में लिए जा सकते हैं। पशुओं में कर्म की इस प्रकार की प्रेरणा का सर्वथा अभाव रहता है।

(ख) **लक्ष्य तथा प्रयोजन** : जब मनुष्य को अभाव या कमी महसूस होती है तो वह यह सोचना प्रारम्भ करता है कि किस वस्तु की प्राप्ति से उसके अभाव की पूर्त्ति होगी तथा उस वस्तु को प्राप्त करने का सबसे उपयुक्त साधन क्या होगा। यही प्राप्य वस्तु कर्म का लक्ष्य कहलाती है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस वस्तु की प्राप्ति द्वारा हम समझते हैं कि हमारा अभाव दूर हो जायगा, उसी वस्तु को क्रिया का लक्ष्य कहते हैं। जब हमें प्यास लगती है तो हम समझते हैं कि पानी से हमारी प्यास दूर हो जाएगी। अतः पानी ही इस क्रिया का लक्ष्य कहलाएगा। लक्ष्य की भावना ही प्रयोजन कहलाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिस वस्तु के द्वारा हम समझते हैं कि हमारा अभाव दूर हो जाएगा, उस वस्तु के विचार को ही प्रयोजन कहा जाता है। प्यास मिटाने के लिए पानी का भाव ही प्रयोजन कहा जाएगा। इस भाव को प्रयोजन इसलिए कहते हैं कि यही मानव को अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने को प्रेरित करता है। पानी का विचार ही प्यासे मनुष्य को पानी प्राप्त करने को प्रेरित करता है। प्रयोजन को अँग्रेजी में 'मोटिव' (Motive) कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'प्रेरकशक्ति' अर्थात् वह जो कर्म करने को प्रेरित करता है। अतः लक्ष्य की भावना या विचार को ही प्रयोजन कहते हैं।

(ग) **इच्छा** : अभाव की चेतना एवं उस अभाव की पूर्त्ति करनेवाली वस्तु तथा उस वस्तु को प्राप्त करने के साधन की भावना—ये सभी तत्त्व मिलाकर इच्छा का निर्माण करते हैं। सर्वप्रथम, हमें अभाव की अनुभूति होती है। पुनः हममें

उस वस्तु का विचार आता है जिससे हमारा अभाव दूर हो सके और तब हमें उस साधन की चेतना होती है जिसके द्वारा उस वस्तु की प्राप्ति हो सकेगी। ये तीनों ही तत्त्व इच्छा में वर्तमान रहते हैं। इच्छा में वस्तु को प्राप्त करने की तृष्णा होती है।[1] इच्छा की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि यह "लक्ष्य प्राप्ति तृष्णा की एक विचित्र अवस्था है।"[2] इच्छा के अर्थ में कभी-कभी प्रयोजन शब्द का भी व्यवहार होता है।

(घ) **इच्छाओं या प्रयोजनों का संघर्ष** : मनुष्य को सदा अनेक अभावों की अनुभूति होती है। उन अभावों की पूर्त्ति अनेक वस्तुओं की प्राप्ति से ही सम्भव हो सकती है। पर, सभी वस्तुओं की उपलब्धि एक साथ सम्भव नहीं है। एक समय में हम एक ही लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं तथा वह तभी सम्भव है जब हम अन्य लक्ष्यों को कुछ काल के लिए स्थगित कर दें। पुनः, इच्छाएँ विरोधी हो सकती हैं। इन विरोधी इच्छाओं में यदि एक की सन्तुष्टि होगी तो दूसरे की नहीं। एक लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए दूसरे का पूर्णतः परित्याग करना होगा। ऐसी परिस्थिति में विभिन्न इच्छाओं के बीच द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है जिसे मानसिक द्वन्द्व कहते हैं। डा० जे० एन० सिन्हा इस संघर्ष को काल्पनिक मानते हैं। बात यह है कि इच्छाएँ हमसे भिन्न कोई बाह्य शक्ति नहीं हैं। वे आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं। प्रो० डिवी के अनुसार यह संघर्ष मनुष्य में ही होता है। यह आत्मा का अपने ही साथ द्वन्द्व है, किसी बाह्य-शक्ति के साथ नहीं, न एक इच्छा का दूसरी इच्छा के साथ जहाँ आत्मा निष्क्रिय द्रष्टा के रूप में युद्ध के निष्कर्ष की प्रतीक्षा कर रहा हो। यह मनुष्य का अपनी ही आत्मा के साथ संघर्ष है।[3] योद्धा, उसका विरोधी और युद्ध-भूमि सब आत्मा में ही है। यह संघर्ष किसी मनुष्य में उसके विभिन्न दृष्टिकोणों का है। इस तरह किसी व्यक्ति के सामने विभिन्न लक्ष्य रहते हैं तथा उन लक्ष्यों की प्राप्ति के विभिन्न साधन भी। ऐसी स्थिति में उसे अपने से ही पूछना पड़ता है कि पहले वह किस लक्ष्य की प्राप्ति करे तथा किस साधन द्वारा।

(ङ) **विवेचन** : ऐच्छिक कर्म की इसी दशा में नैतिक निर्णय प्रवेश करता है। मन कर्म को स्थगित कर यह विचारने लगता है कि विविध इच्छाओं की पूर्त्ति में

---

1. "In all real desire there is some object that is consciously taken as an end."—Mackenzie : A Manual of Ethics, p. 31
2. "A peculiar state of craving, longing or yearning for the attainment of the object or end."
3. "It is a strife or conflict which goes on in the man himself; it is a conflict of himself with himself."—Prof. Dewey

कौन-कौन गुण-दोष हैं। वह सभी साधनों तथा कर्म के विभिन्न परिणामों पर विचार करता है तथा उपयोगिता एवं नैतिकता के मापदण्डों से उनका मूल्यांकन करता है। वह चिन्तन करता है कि अमुक कर्म के करने से क्या लाभ या हानि है, अमुक कर्म करना उचित होगा या अनुचित। ऐसा वह इसलिए करता है कि किसी एक इच्छा को चुनकर उपयुक्त साधन द्वारा उसकी तुष्टि कर सके। इस मानसिक क्रिया को ही विवेचन कहा जाता है।

(च) **चुनाव या निर्णय** : चिन्तन के बाद मन उस इच्छा का चुनाव कर लेता है जो सबसे अधिक उपयुक्त मालूम पड़ती है तथा अन्य इच्छाओं का त्याग कर देता है। इच्छा के साथ-साथ मन उस साधन को भी चुन लेता है जिससे उस इच्छा की पूर्ति हो सके तथा कर्म के परिणाम पर भी विचार करता है। इसी क्रिया को चुनाव या निर्णय कहते हैं। इच्छा, साधन तथा पूर्व-कल्पित परिणाम एक साथ मिलकर अभिप्राय कहलाता है। चुनाव का अर्थ यह नहीं है कि जिस इच्छा का चुनाव होता है वह हमसे पृथक् कोई प्रबलतम शक्ति है जो हमारी दुर्बल इच्छाओं पर विजय प्राप्त करती है। व्यक्ति के द्वारा चुनी हुई इच्छा वास्तविक इच्छा हो जाती है। जब तक इच्छाओं का चुनाव नहीं हो जाता वे सम्भाव्य इच्छाएँ कहलाती हैं। चुनाव के बाद जिन इच्छाओं का चुनाव नहीं होता वे मन के चिन्तन स्तर में चली जाती हैं।

(छ) **निश्चयीकरण** : कभी-कभी हम अपने चुनाव या निर्णय को तुरत कार्यरूप में परिणत कर देते हैं। जब हम किसी इच्छा, उसकी पूर्ति के साधन तथा उसके सम्भव परिणाम पर विचारकर उस इच्छा की पूर्ति चाहते हैं तो कभी-कभी हम वैसा तुरत कर डालते हैं। पर, कभी-कभी हम क्रिया को स्थगित कर देते हैं। यहाँ हमें निश्चय करना पड़ता है कि हम अपने निर्णय पर अटल रहेंगे, उससे विचलित नहीं होंगे। हम निश्चय करते हैं कि हम अपने निर्णय को अवश्य कार्य में परिणत करेंगे। यह निश्चय करने की क्रिया विभिन्न मनुष्यों में विभिन्न मात्रा में पायी जाती है। निश्चय को दृढ़ रखने के लिए मानसिक बल एवं आत्म-संयम की आवश्यकता होती है। यह सभी मनुष्यों में समान रूप से नहीं पाया जाता। अतः सभी मनुष्य समान रूप से अपने निश्चय पर अडिग नहीं रहते। जिसमें मानसिक बल एवं आत्म-संयम की मात्रा कम होती है, वह निश्चय से हट जाता है। पर, जिस मनुष्य में इनकी मात्रा अधिक होती है वह अपने निश्चय पर डटा रहता है। ऐसे मनुष्यों में कुछ जिद्दी भी हो जाते हैं जो अपने निश्चय पर पुनः कभी विचार नहीं करते। पर बुद्धिमान् मनुष्य समय एवं परिस्थिति के अनुसार अपने निश्चय में परिवर्तन करते रहते हैं।

II. शारीरिक स्थिति

निर्णय या निश्चय तब शारीरिक क्रिया में परिवर्तित हो जाता है। इच्छा की पूर्ति के लिए आवश्यक शारीरिक क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। इच्छा की चेतना के साथ-साथ हमें इसकी भी चेतना रहती है कि किन शारीरिक गतियों द्वारा हमारी इच्छा की पूर्ति होगी। निर्णय या निश्चय के बाद वास्तविक शारीरिक क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। बिना शारीरिक क्रिया के इच्छा की पूर्ति सम्भव नहीं। जैसे यदि हमें पिन्टू के रसगुल्ले खाने की इच्छा है और हम निर्णय या निश्चय कर चुके हैं तो हमें अपने डेरे या स्थान से पिन्टू होटल में जाना होगा। वहाँ जाकर रसगुल्ले लेकर खाना होगा। बिना पाँव, हाथ तथा मुँह को चलाए इस इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकती है। अतः हम पाते हैं कि प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के लिए शारीरिक क्रियाएँ आवश्यक हैं।

III. बाह्य स्थिति

शारीरिक क्रिया बाह्य जगत् में परिवर्तन लाती है। इन परिवर्तनों को परिणाम कहते हैं। यदि कार्य की सिद्धि होती है तो उसका परिणाम वैसा ही होता है जैसा हमारा अभिप्राय रहता है। ऐसी स्थिति में चुने हुए लक्ष्य की सिद्धि तो होती ही है साथ-साथ कुछ आकस्मिक फल भी हो सकते हैं। यदि कार्य की सिद्धि नहीं होती है तो परिणाम दूसरा ही हो जाता है। सफल कार्य के परिणाम में निम्नलिखित बातें होती हैं :

(क) चुने हुए उद्देश्य की सिद्धि जिसके लिए कर्म किया जाता है।

(ख) चुने हुए उचित या अनुचित साधन का प्रयोग।

(ग) कुछ प्रत्याशित परिणाम तथा कुछ अप्रत्याशित परिणाम।

इस सम्बन्ध में हमें 'साध्यों की श्रृंखला' को समझ-लेना चाहिए। जिस लक्ष्य या उद्देश्य से कर्म किया जाता है वही अन्तिम उद्देश्य नहीं होकर वह दूसरे उद्देश्यों का साधन भी हो सकता है या होता है। विद्यार्थी परिश्रम करता है परीक्षा में सफल होने के लिए। पर परीक्षा में सफल होना स्वयं एक साधन है, अच्छी नौकरी प्राप्त करने के लिए। पुनः अच्छी नौकरी एक साधन है, पैसा कमाने का। पैसा कमाना भी एक साधन हो जाता है, दूसरे साध्य की पूर्ति का—सुख प्राप्त करने का। इस तरह मनुष्य के जीवन में साधन तथा साध्य की श्रृंखला बनी रहती है।

3. इच्छा का विश्लेषण

इच्छा उस वस्तु की प्राप्ति की कामना है जिससे हम समझते हैं कि हमारे अभाव की पूर्ति होगी। यह एक जटिल मानसिक दशा है जिसमें चेतना के ज्ञानात्मक, रागात्मक तथा क्रियात्मक तत्त्व वर्तमान रहते हैं।

(क) ज्ञानात्मक तत्त्व : जब मनुष्य को किसी वस्तु की इच्छा होती है तो उसमें निम्नलिखित ज्ञानात्मक तत्त्व पाए जाते हैं :

1. मनुष्य को उस अभाव की चेतना रहती है जिसकी पूर्त्ति की इच्छा की जाती है।

2. उस लक्ष्य या वस्तु की भावना भी मन में रहती है जिसके द्वारा अभाव दूर होने की सम्भावना रहती है।

3. उचित या अनुचित साधन का भी विचार मन में रहता है जिससे उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है।

4. वास्तविक तथा भविष्य की दशाओं के अन्तर की चेतना भी रहती है। वर्तमान स्थिति जिसमें अभाव की पूर्त्ति नहीं हुई है तथा भविष्य की स्थिति जब अभाव की पूर्त्ति हो जायेगी—इनके अन्तर की चेतना मन में वर्तमान रहती है। मनुष्य को सदा इस बात की चेतना रहती है कि जब वह इच्छा कर रहा है उस समय उसके अभाव की पूर्त्ति नहीं हुई रहती है, अर्थात् इच्छा मात्र से अभाव की पूर्त्ति नहीं हो जाती।

5. जितना अधिक वर्त्तमान स्थिति तथा भविष्य स्थिति में अन्तर मालूम पड़ता है, इच्छा उतनी ही अधिक बलवती होती है।

इच्छा के ये ही ज्ञानात्मक तत्त्व हैं।

(ख) रागात्मक तत्त्व : इच्छा में निम्नलिखित रागात्मक तत्त्व पाए जाते हैं :

1. अभाव की भावना से इच्छा की उत्पत्ति होती है। अभाव या कमी का अनुभव दुःखद अनुभव है। जब मनुष्य को किसी वस्तु की कमी रहती है तो उसे दुःख का अनुभव होता है।

2. पर यह कल्पना की इच्छित वस्तु की प्राप्ति से उसका दुःख दूर हो जाएगा उसमें सुखानुभूति पैदा करती है। इच्छा की पूर्त्ति की कल्पना से एक प्रकार की सुखानुभूति उसे होती है।

अतः हम कह सकते हैं कि इच्छा की उत्पत्ति से एक सुख-दुःख मिश्रित भावना उत्पन्न होती है।

3. इच्छा की पूर्त्ति में जितना विलम्ब होता है दुःखप्रद भावना उतनी ही तीव्र हो जाती है।

(ग) क्रियात्मक तत्त्व : इच्छाओं में निम्नलिखित क्रियात्मक तत्त्व पाए जाते हैं :

1. लक्ष्य-प्राप्ति की चाह।

2. उद्देश्य की पूर्त्ति करने वाले कर्म के लिए क्रियाशील मनोवृत्ति का होना।

इच्छा एक अत्यन्त क्रियाशील मानसिक प्रक्रिया है। इसमें मस्तिष्क पूर्णरूपेण क्रियाशील रहता है। इच्छा में कार्य के प्रति वेगयुक्त मनोवृत्ति रहती है। इच्छा में क्रिया की मात्रा बहुत अधिक रहती है।

4. इच्छा का आत्मा तथा चरित्र से सम्बन्ध

इच्छाएँ विवेकशील प्राणियों में ही पायी जाती हैं। वह आत्मा की चेतन एषणाएँ हैं। आत्मा उसी वस्तु को प्राप्त करने का निर्णय करती है जिसे वह शुभ तथा अपने चरित्र के अनुकूल समझती है। उदाहरण के लिए, एक दार्शनिक दर्शन की पुस्तकों को पढ़ने की इच्छा रखता है। उसकी यह इच्छा उसकी आत्मा तथा चरित्र से सम्बन्धित है। दर्शन की पुस्तकें उसकी आत्मा के लिए मूल्यवान हैं, क्योंकि वे उसकी दार्शनिक मनोवृत्ति या चरित्र के अनुकूल हैं। इस सम्बन्ध को बतलाते हुए मुरहेड का कहना है कि इच्छाएँ पशु-प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। इनमें वस्तुओं की चेतना रहती है। दूसरे, ये वस्तुएँ आत्मा से सम्बन्धित रहती हैं। इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए ही आत्मा इच्छाओं का निर्माण करती है। इन वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा उसे इसलिए होती है कि ये वस्तुएँ उसके चरित्र के अनुकूल हैं। सभी इच्छाओं का उद्देश्य आत्म-तुष्टि ही है।

5. इच्छा का क्षेत्र

जिस तरह तर्कशास्त्र में प्रत्येक तार्किक वाक्य का अपना एक क्षेत्र होता है उसी प्रकार आचारशास्त्र में प्रत्येक का अपना विशेष क्षेत्र होता है। प्रत्येक तार्किक वाक्य अपने क्षेत्र के दृष्टिकोण से सही होता है। यदि दूसरे क्षेत्र के दृष्टिकोण से देखा जाये तो उसका अर्थ बदल जायगा। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक इच्छा का एक अपना विशेष क्षेत्र होता है। यदि उसका क्षेत्र बदल जाये तो उसका अर्थ भी बदल जाएगा। इच्छा का क्षेत्र मनुष्य के चरित्र द्वारा निर्मित होता है। यह मनुष्य के नैतिक दृष्टिकोण का क्षेत्र है। प्रत्येक इच्छा का अर्थ मनुष्य के नैतिक दृष्टिकोण द्वारा ही निश्चित होता है। नैतिक दृष्टिकोण के बदल जाने से उसका अर्थ एवं उसकी महत्ता बदल जाती है।

6. प्रयोजन का विश्लेषण

प्रयोजन का शाब्दिक अर्थ है गति प्रदान करनेवाली मानसिक शक्ति। प्रयोजन वह है जो हमें कर्म करने को प्रेरित करता है।[1] विभिन्न विद्वानों ने इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है। लॉक, ह्यूम, बेन्थम, मिल, बेन आदि सुखवादियों ने प्रयोजन का प्रयोग रागात्मक भावना के अर्थ में किया है। इन लोगों के अनुसार

1. "The motive means what move us or causes us to act in a particular way."—Mackenzie

केवल सुख और दुःख की भावनाएँ ही कर्म के प्रयोजन हैं। मनुष्य सदा सुख की खोज करता है तथा दुःख से अलग रहना चाहता है। इनके अनुसार भावना तथा संवेग ही कर्म के प्रयोजन हैं। मनुष्य सुख या दुःख की भावना से कोई कर्म करता है अथवा प्रेम, दया, सहानुभूति, क्रोध, ईर्ष्या आदि के संवेग से। अतः ये ही कर्म के प्रयोजन हैं।

पर सुखवादियों का यह विचार सही नहीं है। मनुष्य सिर्फ रागात्मक भावनाओं से ही प्रेरित होकर कर्म नहीं करता। वह विवेकशील प्राणी है। अतः इन अंध प्रवृत्तियों पर वह विचार करता है और उन्हें इच्छाओं में बदल देता है। हमने पहले देखा है कि प्रत्येक ऐच्छिक कर्म में विचार, चुनाव तथा निर्णय की आवश्यकता है। ये विवेकशील कर्म हैं, भाव तथा संवेग नहीं। प्रो० मुरहेड का कहना है कि मात्र भावना को ही कर्म का प्रयोजन नहीं कहा जा सकता। भावना को कर्म का निमित्त कारण कहा जा सकता है। लक्ष्य का विचार अन्तिम कारण है। उनका विचार है कि प्रयोजन अन्तिम कारण की ओर संकेत करता है, अर्थात् लक्ष्य का विचार ही वास्तविक अर्थ में प्रयोजन कहा जा सकता है।

ग्रीन, मैकेन्जी आदि आचारशास्त्रियों का कहना है कि लक्ष्य का विचार ही कर्म का वास्तविक प्रयोजन है। प्रयोजन की परिभाषा देते हुए ग्रीन का कहना है कि "प्रयोजन लक्ष्य का विचार है जिसे आत्म-चेतन ज्ञाता अपने सामने रखता है और जिसे प्राप्त करने का प्रयास करता है।" मैकेन्जी कहते हैं कि "नैतिक क्रिया उद्देश्यपूर्ण होती है। उद्देश्यपूर्ण क्रिया केवल रागात्मक भावना द्वारा प्रेरित नहीं होती बल्कि वह लक्ष्य के विचार से प्रेरित होती है। मात्र भावना को कर्म का प्रयोजन नहीं कहा जा सकता। जब मनुष्य कोई कर्म करने को प्रेरित होता है तो उसके पास रागात्मक भावना के अतिरिक्त उस लक्ष्य का भी विचार रहता है जिसकी प्राप्ति उसे उस कर्म द्वारा करनी है।" अतः मैकेन्जी के अनुसार प्रयोजन उचित लक्ष्य का विचार है।

मुरहेड के अनुसार प्रयोजन चुनी हुई इच्छा या लक्ष्य है। जब आत्मा चिन्तन के बाद अनेक वैकल्पिक इच्छाओं में से एक को चुन लेती है तथा अन्य का परित्याग कर देती है, तो इस चुनी हुई इच्छा या लक्ष्य को कर्म का वास्तविक प्रयोजन कहते हैं। मुरहेड के अनुसार न भावना ही कर्म का सही प्रयोजन है और न सिर्फ लक्ष्य ही। लक्ष्य तभी प्रयोजन होता है जब वह मनुष्य के चरित्र के अनुकूल होता है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि प्रयोजन आत्मा द्वारा चुने हुए लक्ष्य का विचार है जो उस समय उसकी इच्छा के क्षेत्र के अनुकूल है। प्रो० डिवी का भी यही विचार है। इनके अनुसार भी प्रयोजन चुनी हुई इच्छा है।

प्रो० हेनरी स्टीफेन के अनुसार प्रयोजन एक जटिल मानसिक दशा है जिसमें तीन तत्त्व पाए जाते हैं :

(1) अभाव की अनुभूति;
(2) लक्ष्य का विचार तथा
(3) लक्ष्य-प्राप्ति की एषणा।

इसको हम इसी समीकरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं :

प्रयोजन = अभाव की भावना + लक्ष्य का विचार + इसकी प्राप्ति की एषणा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यही वास्तविक विचार प्रतीत होता है। पर चूँकि लक्ष्य का विचार सबसे आवश्यक तत्त्व है, अतः हम साधारण मत के अनुसार कह सकते हैं कि प्रयोजन चुने हुए लक्ष्य का विचार है जैसा मुरहेड तथा डिवी का कहना है।

7. अभिप्राय तथा प्रयोजन के साथ इसका सम्बन्ध

किसी ऐच्छिक कर्म में मनुष्य जो भी चाहता है, वे सभी अभिप्राय हैं। अभिप्राय एक जटिल मानसिक दशा है।[1]

बेन्थम तथा मिल के अनुसार कर्म का प्रयोजन रागात्मक भाव तथा संवेग है और अभिप्राय कर्म का लक्ष्य। प्रयोजन कर्म का निमित्त कारण है तथा अभिप्राय अन्तिम कारण। पर यह मत दोषपूर्ण है। प्रयोजन तथा अभिप्राय दोनों कर्म के अन्तिम कारण हैं। पर अभिप्राय का क्षेत्र प्रयोजन के क्षेत्र से विस्तृत है। प्रयोजन अभिप्राय का एक अंश है। प्रयोजन लक्ष्य का विचार है। पर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमें साधन का भी विचार करना पड़ता है तथा कुछ प्रत्याशित परिणाम का भी। अभिप्राय में ये सारी बातें आती हैं। अभिप्राय में—

1. लक्ष्य का विचार रहता है जिसकी प्राप्ति के लिए कर्म किया जाता है। इसी को प्रयोजन कहते हैं।

2. दूसरी बात, इसमें चुने हुए साधन का विचार रहता है जिसके द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति की बात सोची जाती है। साधन सुखप्रद भी हो सकता है तथा दुःखप्रद भी, अथवा यह अंशतः सुखप्रद तथा अंशतः दुःखप्रद हो सकता है।

3. तीसरी बात, अभिप्राय में कुछ प्रत्याशित परिणाम भी आते हैं। आत्मा कर्म के कुछ आवश्यक परिणाम पर भी विचार करती है। इसे ही प्रत्याशित परिणाम कहते हैं। यह परिणाम भी सुखप्रद तथा दुःखप्रद दोनों हो सकता है।

1. "Intention means anything which we purpose to bring about."
—Mackenzie

मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आत्मा कर्म के दुःखद परिणाम की भी चिन्ता नहीं करती।

8. अभिप्राय के भेद

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रयोजन अभिप्राय का एक अंग है। मैकेन्जी के अनुसार अभिप्राय के निम्नलिखित भेद हैं :

1. **कर्म के तात्कालिक तथा दूरस्थ अभिप्राय :** कोई व्यक्ति किसी डूबते हुए अपराधी की रक्षा करता है जिसमें वह उसे पुलिस के हवाले कर सके। यहाँ उस व्यक्ति का तात्कालिक अभिप्राय अपराधी की रक्षा करनी है तथा दूरस्थ अभिप्राय उसे पुलिस के हवाले करना। तात्कालिक तथा दूरस्थ अभिप्राय मिलकर ही सम्पूर्ण अभिप्राय होता है।

2. **आन्तरिक तथा बाह्य अभिप्राय :** एक सूअर का बच्चा गड्ढे में पड़ा कराह रहा था। एब्राहम लिंकन ने उसे गड्ढे से निकाल दिया। इस कर्म का बाह्य अभिप्राय है सूअर के बच्चे की रक्षा, पर आन्तरिक अभिप्राय है, जैसा कि उन्होंने स्वयं बताया, अपने मन की दुखद भावना को हटाना। आन्तरिक एवं बाह्य अभिप्राय मिलकर ही किसी कर्म का सम्पूर्ण अभिप्राय होता है।

3. **प्रत्यक्ष तथा परोक्ष अभिप्राय :** प्रत्यक्ष तथा परोक्ष अभिप्राय मिलकर ही किसी कर्म का सम्पूर्ण अभिप्राय होता है। यदि कोई व्यक्ति गाड़ी में जाते हुए अपने शत्रु की हत्या के लिए गाड़ी को उलट देता है, तो यहाँ उस व्यक्ति का प्रत्यक्ष अभिप्राय अपने शत्रु का बध करना है और परोक्ष अभिप्राय गाड़ी में बैठे हुए सभी यात्रियों की हत्या है।

4. **चेतन तथा अचेतन अभिप्राय :** अचेतन अभिप्राय वह है जो मन के अचेतन भाग में रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने बताया है कि मनुष्य के कर्मों पर अचेतन मन का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। एक मन्त्री का चेतन अभिप्राय है देश की सेवा करना, पर उसका अचेतन अभिप्राय अपने स्वार्थ की सिद्धि एवं अपनी ख्याति हो सकती है। यह चेतन अभिप्राय ही अधिकतर नैतिक निर्णय का विषय होता है। पर अचेतन अभिप्राय भी नैतिक निर्णय का विषय हो जाता है यदि वह कर्त्ता द्वारा जान लिया जाता है।

5. **सैद्धान्तिक तथा वास्तविक अभिप्राय :** वास्तविक अभिप्राय का अर्थ है एक खास परिणाम तथा सैद्धान्तिक अभिप्राय का अर्थ है उसमें निहित सिद्धान्त। दो व्यक्ति किसी सरकार को हटाना चाहते हैं। दोनों का वास्तविक अभिप्राय एक ही है—सरकार को हटाना। पर एक व्यक्ति का सैद्धान्तिक अभिप्राय हो सकता है कि वह तत्कालीन सरकार को अधिक प्रगतिशील समझता है तथा दूसरे

का सैद्धान्तिक अभिप्राय हो सकता है कि वह सरकार को अधिक रूढ़िवादी समझता है। सैद्धान्तिक तथा वास्तविक दोनों अभिप्राय नैतिक निर्णय के विषय हैं।

अभिप्राय चरित्र की अभिव्यक्ति है। यह मनुष्य के चरित्र से सदा प्रभावित होती है। प्रयोजन तथा अभिप्राय के अन्तर को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। यदि कोई लड़का पढ़ने नहीं जाता है तो पिता उसे दंड देता है। यहाँ लड़के का हित पिता का प्रयोजन है और यह प्रयोजन उसके अभिप्राय का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। पर अभिप्राय केवल लड़के का हित ही नहीं, लड़के को दंड देना भी है। दंड देना अभिप्राय का एक हिस्सा है पर किसी भी अर्थ में यह पिता का प्रयोजन नहीं कहा जा सकता। इस तरह अभिप्राय में वह लक्ष्य जिसकी प्राप्ति के लिए कर्म किया जाता है तथा वह लक्ष्य जिसके निवारणार्थ कर्म किया जाता है दोनों शामिल रहते हैं, अर्थात् इसमें प्रवर्त्तक और निवारक दोनों वृत्तियाँ रहती हैं। यहाँ पुत्र का हित प्रवर्त्तक है क्योंकि इसी के लिए कर्म किया जाता है तथा दंड देना निवारक है। पर दंड देना भी अभिप्राय का ही एक अंग है। इस तरह स्पष्ट है कि प्रयोजन चुने हुए लक्ष्य का विचार है पर अभिप्राय में इसके साथ-साथ साधन तथा प्रत्याशित परिणाम का भी विचार रहता है। अतः प्रयोजन अभिप्राय का एक अंग है।

9. चरित्र और आचरण

मन की स्थायी प्रवृत्ति को चरित्र कहते हैं। चरित्र अर्जित होता है। बार-बार किसी ऐच्छिक कर्म के करते रहने से उसका अभ्यास हो जाता है। इसी तरह अभ्यास के द्वारा मनुष्य को खास तरह की इच्छा करने का अभ्यास हो जाता है। इसी को चरित्र कहते हैं। चरित्र स्वभाव से भिन्न होता है क्योंकि स्वभाव प्राकृतिक होता है। स्वभाव सहजात प्रवृत्तियों द्वारा निर्मित होता है। यह नैतिक जीवन का उपादान है। बुद्धि द्वारा इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने से चरित्र का निर्माण होता है। चरित्र की अभिव्यक्ति बाह्य क्रियाओं में होती है, जिसे आचरण कहते हैं। चरित्र तथा आचरण में अवियोज्य सम्बन्ध है। चरित्र आचरण का आन्तरिक पक्ष है तथा आचरण चरित्र की बाह्य अभिव्यक्ति।

आचरण के अन्दर मनुष्य के सभी ऐच्छिक तथा अभ्यासजन्य कर्म आते हैं। बाह्य कर्म अंशतः चरित्र द्वारा निर्धारित होता है, पूर्णतः नहीं, क्योंकि इसमें संकल्प-स्वातंत्र्य का भी हाथ रहता है। चरित्र बिल्कुल निश्चित एवं स्थायी नहीं होता। इसमें परिवर्तन होता रहता है। इच्छा-स्वातंत्र्य द्वारा चरित्र में परिवर्तन होता है। इस तरह चरित्र तथा आचरण एक-दूसरे को निर्धारित करते हैं। जिस तरह का चरित्र होता है बहुत अंशों में आचरण उसी तरह का होता है तथा जिस तरह का मनुष्य आचरण करता है उसी तरह के चरित्र का निर्माण होता है।

आचरण तथा चरित्र दोनों ही नैतिक निर्णय के विषय हैं क्योंकि उनमें संकल्प, निर्णय, चुनाव आदि का स्थान है।

10. अभ्यास, ज्ञान तथा धर्म

किसी ऐच्छिक कर्म को बार-बार करने से इसका अभ्यास हो जाता है। अतः अभ्यास के फलस्वरूप ऐच्छिक कर्म अभ्यासजन्य कर्म हो जाता है। अभ्यासजन्य कर्म अनायास रूप से होता रहता है। इसमें स्वतंत्र इच्छा तथा चेतना का अभाव रहता है। फिर भी यह नैतिक निर्णय का विषय है क्योंकि प्रारम्भ में यह स्वतंत्र इच्छा तथा संकल्प पर निर्भर करता है। प्रारम्भ में इसकी चेतना हमें रहती है। यदि हम चाहते तो किसी कर्म को अभ्यासगत रूप लेने से रोक सकते थे। सुकरात का कहना था कि "ज्ञान ही धर्म है", अर्थात् धर्म या सद्गुण के लिए नैतिक सूझ की आवश्यकता है। उनकी धारणा थी कि मनुष्य अज्ञानवश ही अधर्म करता है। यदि मनुष्य को यह ज्ञान प्राप्त हो जाय कि अमुक परिस्थिति में क्या करना उचित है तो वह उसे ही करेगा। कभी भी अनुचित कर्म नहीं करेगा। अरस्तू ने सुकरात के इस विचार का खंडन करते हुए कहा कि मनुष्य जानते हुए भी अधर्म करता है। हमलोग अरस्तू की इस आलोचना से सहमत हैं क्योंकि हम सभी साधारणतः जानते हैं कि उचित क्या है; पर उसे करते नहीं। जैसा कि कहा गया है :

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति :।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति :॥"

अर्थात् हमलोग जानते हैं कि धर्म क्या है पर उसे करने को प्रवृत्त नहीं होते। हम यह भी जानते है कि अनुचित क्या है पर उससे निवृत्त नहीं हो पाते। अरस्तू के अनुसार धर्म अभ्यास है। अच्छे तथा उचित कर्मों को सदा करते रहने से ही कोई धार्मिक बन सकता है। अच्छे कर्मों को बार-बार करते रहने से उसका अभ्यास हो जाता है और वे स्वभावतः अनायास रूप से घटित होने लगते हैं। ऐसा करने से धार्मिक चरित्र का निर्माण होता है और मनुष्य धार्मिक कहलाने का अधिकारी होता है।

वास्तव में, धर्म के लिए विवेक तथा अभ्यास दोनों आवश्यक हैं। नैतिक सूझ आवश्यक है जिसके द्वारा यह जाना जा सके कि अमुक परिस्थिति में कौन कर्म उचित तथा कौन अनुचित है तथा यह भी आवश्यक है कि उचित कर्मों का अभ्यास किया जाये। मैकेन्जी ने ठीक ही कहा है कि धर्म एक प्रकार का ज्ञान है तथा एक प्रकार का अभ्यास भी। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि धार्मिक मनुष्य वह है जिसे धार्मिक कर्मों को करने का अभ्यास हो गया है, अर्थात् जिसने धार्मिक चरित्र का निर्माण कर लिया है तथा जिसे धार्मिक कर्मों को करने में आनन्द की अनुभूति होती है।[1]

11. नैतिक अशुभ और प्राकृतिक अशुभ

जब मनुष्य ज्ञान एवं स्वतंत्र इच्छा के साथ कोई बुरा कर्म करता है तो उसे नैतिक अशुभ कहते हैं। जान-बूझकर, सोच-समझकर जब मनुष्य कोई अनुचित या बुरा कर्म करता है तो वह नैतिक अशुभ है। पर जब प्राकृतिक स्थितियों में प्राकृतिक घटनाओं के कारण मानव पर विपत्तियाँ आती हैं तो उसे प्राकृतिक अशुभ कहते हैं। जब भूकम्प, आँधी, ज्वालामुखी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के चलते मानव को कष्ट होता है तो इन्हें प्राकृतिक अशुभ कहते हैं। नैतिक अशुभ ही नैतिक निर्णय का विषय है, प्राकृतिक अशुभ नहीं; क्योंकि प्राकृतिक घटनाओं में व्यक्तित्व, विवेक तथा आत्म-निर्धारण का अभाव रहता है, जो नैतिकता की आवश्यक मान्यताएँ हैं।

12. पाप और भूल

जब मनुष्य जान-बूझकर किसी बुरे कर्म को करता है तो उसे पाप कहते हैं। पर जब पूरी सावधानी के साथ मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार नैतिक कर्म करता है पर वास्तव में वह कर्म अनैतिक हो जाता है तो उसे भूल कहते हैं। कहने का अर्थ यह है कि जब अज्ञानवश मनुष्य से कोई बुरा कर्म हो जाता है तो उसे भूल कहते हैं। उसका अभिप्राय बुरा कर्म करना नहीं रहता। उसका अभिप्राय रहता है अच्छा कर्म करना पर विभिन्न कारणों से फल बुरा हो जाता है। सावधान रहने पर भी यदि किसी से भूल हो जाती है : कर्म करने में या कर्मों के नैतिक निर्णय करने में, तो उस भूल पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता क्योंकि मनुष्य अपूर्ण है, अतः उससे भूल होगी ही। अतः भूल नैतिक क्षेत्र के परे है।

1. "A man is not good at all unless he takes pleasure in noble deeds"—Aristotle.

छठा अध्याय

नैतिक चेतना

1. नैतिक चेतना का अर्थ

चेतना का अर्थ है किसी वस्तु का बोध या उसकी जानकारी। अतः नैतिक चेतना का अर्थ है नीति-सम्बन्ध प्रत्ययों की चेतना। अर्थात् उचित-अनुचित, अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य आदि प्रत्ययों को चेतना को ही नैतिक चेतना कहते हैं। सामान्य मनुष्य को ऐच्छिक तथा अभ्यासजन्य क्रियाओं के नैतिक मूल्य की चेतना ही नैतिक चेतना कहलाती है। नैतिक चेतना में मनुष्य के चरित्र तथा उसकी क्रियाओं के नैतिक मूल्य का बोध होता है।

2. नैतिक चेतना की विशेषताएँ

नैतिक चेतना में चिन्तन का तत्त्व पाया जाता है ऐच्छिक क्रियाओं में ही नैतिक गुण पाए जाते हैं। पर ऐच्छिक क्रियाओं में विचार, चुनाव तथा निर्णय पाए जाते हैं। नैतिक आदर्श अथवा मापदण्ड के आधार पर ही हम किसी कर्म को उचित या अनुचित कहते हैं। हम किसी कर्म की तुलना नैतिक मापदण्ड से करते हैं। यदि कर्म इस मापदण्ड के अनुकूल है तो हम उसे उचित कहते हैं, यदि प्रतिकूल है तो अनुचित। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि नैतिक चेतना ज्ञानात्मक है।

नैतिक चेतना की दूसरी विशेषता है कि यह आवश्यक रूप से क्रियाशील होती है। नैतिक निर्णय मनुष्य की ऐच्छिक एवं अभ्यासजन्य क्रियाओं पर ही दिया जाता है, उसके निष्क्रिय अनुभवों पर नहीं। अतः नैतिक चेतना सक्रिय है।

नैतिक चेतना की तीसरी विशेषता है कि यह सामाजिक होती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग रहकर मनुष्य सच्चे अर्थ में मनुष्य नहीं रह सकता। समाज से अलग रहकर नैतिकता के सम्बन्ध में सोचा नहीं जा सकता है। हमारे कर्म प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज के अन्य सदस्यों पर असर डालते हैं और तदनुरूप उन्हें अच्छा या बुरा कहा जाता है। कर्त्तव्य तथा अधिकार सापेक्ष शब्द हैं। जो एक व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य है, वह दूसरे के लिए अधिकार तथा जो एक का अधिकार है, वह दूसरे का कर्त्तव्य। अतः नैतिक चेतना सामाजिक होती है। समाज में रहकर ही मनुष्य उचित-अनुचित का ज्ञान प्राप्त करता है।

नैतिक चेतना की चौथी विशेषता होती है कि यह दायित्वपूर्ण होती है। जब हम किसी कर्म को उचित समझते हैं तो उसे करने के नैतिक दायित्व का भी अनुभव

करते हैं तथा जब किसी कर्म को अनुचित समझते हैं तो उसे नहीं करने का भी। उचित कर्म करना तथा अनुचित कर्म नहीं करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यह नैतिक दायित्व किसी बाह्य शक्ति द्वारा आरोपित नहीं होता बल्कि यह अपनी आत्मा से ही प्राप्त होता है। नैतिक दायित्व के कारण ही हम समझते हैं कि हमें उचित कर्म करना चाहिए तथा अनुचित कर्म को नहीं करना चाहिए। इससे ऐसा आदेश नहीं मिलता कि उचित कर्म को अवश्य करना होगा तथा अनुचित कर्म को नहीं करना होगा। अतः नैतिक दायित्व का सम्बन्ध 'चाहिए' से है, न कि 'अवश्य' से।

नैतिक चेतना की पाँचवीं विशेषता है कि इसमें भावना का भी समावेश रहता है। इसमें नैतिक आदर्श के प्रति श्रद्धा की भावना रहती है। अच्छे कर्म के लिए प्रशंसा तथा बुरे कर्म के लिए निन्दा के भाव भी रहते हैं।

3. नैतिक चेतना के तत्त्व

नैतिक चेतना में ऐच्छिक कर्मों के नैतिक गुणों का बोध होता है। इसमें ज्ञानात्मक, रागात्मक तथा क्रियात्मक तत्त्व वर्तमान रहते हैं।

(क) **ज्ञानात्मक तत्त्व** : नैतिक चेतना में निम्नलिखित ज्ञानात्मक तत्त्व रहते हैं :

1. नैतिज गुणों अर्थात् उचित-अनुचित आदि के भेद का ज्ञान।

2. इस बात का ज्ञान की नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक कर्म तथा अभ्यास-जन्य कर्म है जिसे आत्मचेतन प्राणी करता है।

3, नैतिक नियम का ज्ञान। नैतिक निर्णय किसी नियम या मापदण्ड के आधार पर ही दिया जाता है।

4. नैतिक आदर्श अथवा परमशुभ का ज्ञान। नैतिक नियम स्वयं हमारे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य हो सकता है अथवा सुख या पूर्णता, जिसे जीवन का सर्वोच्च शुभ समझा जाता है, की प्राप्ति का साधन हो सकता है।

5. नैतिक प्रज्ञा या अन्तःकरण का ज्ञान। नैतिक निर्णय के लिए एक निर्णयात्मक शक्ति को मानना पड़ता है।

6. नैतिक दायित्व या कर्त्तव्य का ज्ञान। अच्छे कर्म को करना तथा बुरे कर्म को नहीं करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

7. नैतिक अधिकार का ज्ञान। एक व्यक्ति का कर्त्तव्य दूसरे का अधिकार होता है, जैसे—पुत्र का कर्त्तव्य पिता का अधिकार है। अतः जब हमें किसी व्यक्ति के प्रति अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता है तो इसका भी ज्ञान होता है कि यह उस व्यक्ति का अधिकार है।

8. अच्छे कर्म करने से जो गुण तथा बुरे कर्म करने से जो अवगुण या दोष उत्पन्न होते हैं, उनका भी ज्ञान होना नैतिक चेतना का अंग है।

9. उत्तरदायित्व या जिम्मेवारी का ज्ञान। हम समझते हैं कि अपने ऐच्छिक तथा अभ्यासजन्य कर्मों के लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं।

(ख) **रागात्मक तत्त्व** : जब किसी ऐच्छिक कर्म पर नैतिक निर्णय दिया जाता है तो प्रशंसा या निन्दा के भाव उत्पन्न होते हैं। यदि कर्म अच्छा है तो प्रशंसा के भाव तथा यदि कर्म बुरा है तो निन्दा के भाव उत्पन्न होते हैं। नैतिक निर्णय के उपरान्त जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें नैतिक भावना कहते हैं। नैतिक चेतना के ये ही रागात्मक तत्त्व हैं। ये भावनाएँ नैतिक निर्णय के आधार नहीं हैं, बल्कि ये निर्णय के बाद उत्पन्न होती हैं।

(ग) **क्रियात्मक तत्त्व** : नैतिक निर्णय के बाद जो कर्म अच्छा समझा जाता है उसे करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तथा जो कर्म बुरा माना जाता है, उसे नहीं करने की प्रवृत्ति होती है, इसे नैतिक आवेग कहते हैं। कर्त्तव्य की भावना से ही इस आवेग की उत्पत्ति होती है। नैतिक निर्णय के बाद अच्छे कर्म को करना तथा बुरे कर्म को नहीं करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इस तरह नैतिक आवेग एक क्रियाशील आवेग या इच्छा है जो अच्छे कर्म करने को प्रवृत्त करती है तथा बुरे कर्म से निवृत्त रहने को। इस तरह नैतिक चेतना में चुनाव की क्रिया वर्तमान रहती है। इसमें सर्वोच्च शुभ के अनुसार बुद्धि आवेगों को नियमित करती है। विवेक से हम अच्छे कर्मों को चुन लेते हैं तथा उन्हें करने का निश्चय करते हैं। नैतिक आवेग तथा चुनाव की क्रिया, नैतिक चेतना के क्रियात्मक तत्त्व हैं।

4. नैतिक भावना

हम ऊपर देख चुके हैं कि भावना ही नैतिक चेतना का रागात्मक तत्त्व है। अतः हमें नैतिक भावना के अर्थ एवं स्वरूप को समझ लेना चाहिए।

(क) **नैतिक भावना का अर्थ** : कर्मों के नैतिक निर्णय के बाद कुछ भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। कर्मों को अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित विचारने के बाद जो रागात्मक भावना उत्पन्न होती है, उसे नैतिक भावना कहते हैं। किसी वस्तु के सुन्दर तथा असुन्दर निर्णय करने पर जो भावना उत्पन्न होती है, उसे सौन्दर्य-सम्बन्धी भावना कहते हैं। किसी वस्तु के ज्ञान प्राप्त करने पर जो भावना उत्पन्न होती है, उसे ज्ञान-सम्बन्धी भावना कहते हैं। इसी प्रकार किसी कर्म के उचित-अनुचित निर्णय करने पर जो भावना उत्पन्न होती है, उसे नैतिक भावना कहते हैं। जीवन के तीन आदर्शों—सत्य, शिव तथा सौन्दर्य के प्रति तीन प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं जो एक-दूसरे से पृथक हैं। नैतिक भावना में (1) नैतिक आदर्श या सर्वोच्च शुभ के प्रति श्रद्धा की भावना रहती है तथा (2) कर्म के उचित निर्णय करने पर सन्तोष की भावना तथा अनुचित निर्णय करने पर असन्तोष की भावना उत्पन्न होती है। सन्तोष की भावनाएँ प्रशंसा, आनन्द आदि में तथा असन्तोष की भावनाएँ लज्जा, पश्चात्ताप, निन्दा आदि में व्यक्त होती हैं।

(ख) **नैतिक भावना की विशेषताएँ** : नैतिक भावनाएँ शुभ के आदर्श द्वारा उत्तेजित होती हैं। उनकी उत्पत्ति उचित-अनुचित के ज्ञान से होती है। उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. नैतिक भावनाएँ निःस्वार्थ होती हैं। ऐसी भावनाएँ किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं होतीं।

2. नैतिक भावनाएँ व्यावहारिक होती हैं। ये हमारे कर्मों को प्रभावित करती हैं। ये हमें अच्छे कर्म करने को प्रवृत्त करती हैं तथा बुरे कर्मों से दूर रहने को।

3. नैतिक भावनाएँ नियामक होती हैं। नैतिक नियम में दायित्व की भावना रहती है। उचित कर्म को करना तथा अनुचित को नहीं करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। नैतिक भावनाएँ हमें अच्छे कर्मों की ओर प्रेरित करती हैं।

4. नैतिक भावनाएँ मुख्यतः सामाजिक होती हैं। नैतिक क्रियाएँ समाज में रहने वाले मनुष्यों की क्रियाएँ हैं। समाज में ही नैतिकता का प्रश्न उठता है। अतः नैतिक भावना में सामाजिक चेतना भी रहती है।

(ग) **नैतिक भावना का वर्गीकरण** : काल्डरउड ने नैतिक भावनाओं को तीन वर्गों में रखा है :

पहला, दूसरों के कर्मों के नैतिक निर्णय करने पर जो नैतिक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं,

दूसरा, अपने कर्मों पर नैतिक निर्णय करने पर जो नैतिक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, तथा

तीसरा, अन्य व्यक्तियों के नैतिक निर्णयों के कारण जो नैतिक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इनके सिवा नैतिक नियम तथा आदर्श के प्रति श्रद्धा की भावना भी एक प्रकार की मौलिक नैतिक भावना है।

कर्मों का नैतिक निर्णय करने पर यदि वह उचित है तो सुखात्मक भावनाएँ और अनुचित है तो दुःखात्मक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। अपने कर्म पर नैतिक निर्णय पर आत्म-ग्लानि या आत्म-सन्तोष की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। आत्मग्लानि की भावना तीव्र होने पर शर्म तथा पश्चात्ताप का रूप ले लेती हैं। अन्य व्यक्तियों के नैतिक निर्णयों को जानकर प्रशंसा या निन्दा की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। ये भावनाएँ प्रेम या घृणा का रूप ले लेती हैं।

5. नैतिक भावना तथा नैतिक निर्णय में सम्बन्ध

हम जानते हैं कि नैतिक चेतना में ज्ञानात्मक तथा रागात्मक दोनों तत्त्व होते हैं। नैतिक निर्णय इसका ज्ञानात्मक तत्त्व है तथा नैतिक भावना इसका रागात्मक तत्त्व। इस तरह नैतिक चेतना में नैतिक निर्णय एवं नैतिक भावना दोनों शामिल हैं। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दो प्रकार के मत हैं।

(क) **नैतिक इन्द्रियवाद** : इस मत के अनुसार नैतिक निर्णय नैतिक भावना पर निर्भर करता है। नैतिक भावना ही नैतिक निर्णय का आधार है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस मत के अनुसार नैतिक भावना नैतिक निर्णय के पहले आ ी है तथा नैतिक निर्णय को निर्धारित करती है। हमारी अन्तरात्मा कर्मों के नैतिक गुणों को तुरत जान लेती है। अन्य इन्द्रियों की तरह मनुष्य के अन्दर एक ऐसी भी इन्द्रिय है जो कर्मों के नैतिक गुणों को तत्काल जान लेती है। किसी कर्म से हम तुरत प्रसन्न या दुःखी हो जाते हैं। कोई कर्म हममें तुरत दुःखात्मक या सुखात्मक भावना उत्पन्न करता है। जो कर्म हममें सुखात्मक भावना उत्पन्न करता है, उसे उचित समझा जाता है और जो दुःखात्मक भावना उत्पन्न करता है, उसे अनुचित समझा जाता है। इस तरह नैतिक निर्णय हमारी इस रागात्मक अनुभूति पर निर्भर है।

(ख) **बुद्धिवाद** : दूसरा मत है बुद्धिवादियों का। इस मत के अनुसार नैतिक निर्णय पर ही नैतिक भावना आश्रित है। नैतिक निर्णय नैतिक भावना के पहले आता है तथा नैतिक भावना को निर्धारित करता है। इस मत के अनुसार जब हम कर्मों पर नैतिक निर्णय कर लेते हैं तब सुखात्मक या दुःखात्मक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। यदि कर्म उचित निर्णीत होता है तो सुखात्मक भावना उत्पन्न होती है और अनुचित तो दुःखात्मक भावना उत्पन्न होती है। नैतिक निर्णय द्वारा जब कर्मों के नैतिक गुणों का बोध होता है तभी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।

इन दोनों मतों में बुद्धिवाद ही मान्य है क्योंकि नैतिक इन्द्रियवाद निम्नलिखित दोषों से दूषित है :

1. नैतिक इन्द्रियवाद के अनुसार नैतिक निर्णय नैतिक भावना पर आधारित है। पर भावनाएँ अन्धी एवं वैयक्तिक होती हैं। एक ही कर्म विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न कर सकता है, एक व्यक्ति में सुखात्मक भावना तथा दूसरे में दुःखात्मक। अतः एक ही कर्म एक व्यक्ति के लिए उचित हो जाएगा तथा दूसरे के लिए अनुचित। अतः नैतिकता आत्मनिष्ठ हो जाती है, वस्तुनिष्ठ तथा सर्वमान्य नहीं रह जाती।

2. दूसरा आक्षेप है, जैसा कि प्रो० एच० स्टीफेन का कहना है, कि इस मत के अनुसार नैतिक नियम में जो दायित्व या कर्त्तव्य की भावना रहती है उसकी व्याख्या नहीं हो पाती। मात्र नैतिक भावना इस बात की व्याख्या नहीं कर पाती कि अमुक कर्म करना हमारा कर्त्तव्य क्यों है? यह इस बात की व्याख्या नहीं कर पाती कि क्यों सभी मनुष्यों को नैतिक नियम का पालन करना चाहिए।

3. नैतिक निर्णय में सुधार करने से नैतिक भावना बदल जाती है। कुछ व्यक्तियों में पशु-बलि सुखात्मक भावना उत्पन्न करती है। पर जब उनका अन्तःकरण विकसित होता है और वे अपने निर्णय में सुधार करते हैं तो वही कर्म उनमें दुःखात्मक भावना उत्पन्न करता है। इसलिए नैतिक भावना नैतिक निर्णय का आधार नहीं हो सकती।

4. मनुष्य में विवेक का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। अतः विवेक पर ही नैतिक निर्णय आधारित होना चाहिए। नैतिक निर्णय में नैतिक आदर्श का ज्ञान आवश्यक है। इसी आदर्श द्वारा कर्मों की तुलना करके उन्हें उचित या अनुचित निर्धारित किया जाता है। अतः नैतिक निर्णय का आधार भावना नहीं बल्कि विवेक है।

6. नैतिक भावना की क्रिया

नैतिक भावनाएँ नैतिक निर्णय के उपरान्त उत्पन्न होती हैं तथा उनका अनुमोदन करती हैं। उचित कर्म सुखात्मक भावना उत्पन्न करता है तथा अनुचित कर्म दुःखात्मक भावना। अतः नैतिक भावना से नैतिक गुण का संकेत मिलता है। पुनः नैतिक भावना अच्छे कर्म करने को प्रवृत्त करती है तथा बुरे कर्म से बचाती है। अच्छा कर्म करने पर उल्लास एवं आनन्द का अनुभव होता है तथा बुरा कर्म करने पर कष्ट एवं पीड़ा का। अभ्यास द्वारा नैतिक भावना परिवर्तित हो सकती है। अच्छे कर्मों का अभ्यास करने से नैतिक भावना तीव्र होती है तथा बुरे कर्मों के अभ्यास से वह भावना कमजोर होती जाती है। पहली बार हत्या करने पर जिस पीड़ा का अनुभव मनुष्य करता है; कई हत्याएँ कर लेने के बाद उसे वैसी पीड़ा का अनुभव नहीं होता। नैतिक भावना के मर जाने पर मनुष्य पशु-तुल्य हो जाता है। नैतिक मनुष्यों में नैतिक भावनाएँ नैतिकता की रक्षा करती हैं। नैतिक भावनाओं को अन्तःकरण की ध्वनि भी कहते हैं। जब हम सही रास्ते पर चलते हैं तो ये भावनाएँ हमें उत्साहित करती हैं। पर जब हम गलत रास्ते पर चलते हैं तो ये हमें कष्ट देती हैं। अतः हमें स्वस्थ नैतिक भावनाओं का अभ्यास करना चाहिए तथा विवेक द्वारा उन्हें विकसित करना चाहिए, क्योंकि यदि नैतिक निर्णय दोषपूर्ण हो जाते हैं तो नैतिक भावनाएँ भी दूषित हो जाती हैं।

सातवाँ अध्याय

नैतिक निर्णय

1. नैतिक निर्णय का स्वरूप

नैतिक निर्णय का अर्थ है मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों को उचित या अनुचित अच्छा या बुरा, शुभ या अशुभ निर्णीत करना, ऐच्छिक कर्मों का नैतिक मूल्यांकन करना। कर्मों की तुलना एक आदर्श या मापदण्ड से करके ही उन पर नैतिक निर्णय दिया जाता है। जो कर्म उस स्वीकृत मापदण्ड के अनुकूल होता है, उसे उचित कहा जाता है और जो कर्म उसके प्रतिकूल होता है, उसे अनुचित। इस तरह नैतिक निर्णय एक मानसिक क्रिया है जो किसी कर्म को एक मापदण्ड के आधार पर उचित या अनुचित निर्णीत करता है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है :

1. नैतिक निर्णय के लिए एक विषय का होना जरूरी है अर्थात् नैतिक निर्णय के लिए एक व्यक्ति का होना आवश्यक है जो किसी मापदण्ड के आधार पर कर्मों का मूल्यांकन कर सके। यदि कोई विवेकशील प्राणी निर्णयकर्त्ता न हो तो कर्मों का मूल्यांकन कैसे होगा ? अतः नैतिक निर्णय के लिए किसी विवेकशील प्राणी का होना आवश्यक है।

2. नैतिक निर्णय के लिए किसी विषय का होना भी आवश्यक है, जिसपर नैतिक निर्णय किया जा सके। नैतिक निर्णय ऐच्छिक कर्मों पर किया जाता है। अतः ऐच्छिक कर्म तथा अभ्यासजन्य कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय हैं।

3. **एक आदर्श या मापदण्ड का होना** : नैतिक निर्णय के लिए आदर्श या मापदण्ड का होना भी जरूरी है जिसके आधार पर कर्मों का मूल्यांकन हो सके।

4. **नैतिक शक्ति का होना** : नैतिक निर्णय के लिए निर्णय करनेवाले व्यक्ति में, नैतिक गुणों को पहचानने की शक्ति होनी चाहिए। विषयी को नैतिक शक्ति से युक्त होना चाहिए। विवेकी व्यक्ति में ही नैतिक शक्ति पायी जाती है। यदि व्यक्ति में अच्छे-बुरे पहचानने की शक्ति न हो तो वह कर्मों को अच्छा-बुरा कैसे निर्णीत कर सकता है ?

इस तरह यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय एक प्रकार का निर्णय है, प्रत्यक्ष नहीं। कर्मों के नैतिक गुणों को हम भौतिक गुणों की तरह प्रत्यक्ष रूप से नहीं

जानते। नैतिक गुणों को जानने के लिए किसी आदर्श या नैतिक मापदण्ड के द्वारा कर्मों का मूल्यांकन करना पड़ता है। अतः नैतिक निर्णय प्रत्यक्ष से भिन्न है।

निर्णय दो प्रकार का होता है : (1) वस्तु-सम्बन्धी निर्णय तथा (2) मूल्य-सम्बन्धी निर्णय। वस्तुवादी विज्ञान या भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि का वर्णनात्मक निर्णय वस्तु-सम्बन्धी निर्णय कहलाता है तथा आदर्शवादी विज्ञान जैसे तर्कशास्त्र, सौन्दर्य विज्ञान एवं आचारशास्त्र का मूल्यात्मक निर्णय मूल्य-सम्बन्धी निर्णय कहलाता है। 'हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन मिलकर जल का निर्माण करते हैं,' यह वस्तु-सम्बन्धी निर्णय है। 'यह चित्रकारी सुन्दर है,' तथा 'सत्य बोलना सदा उचित है,' ये मूल्य-सम्बन्धी निर्णय हैं। वस्तु-सम्बन्धी निर्णय में हम वस्तु का वर्णन मात्र करते हैं। यह वस्तु क्या है ? कैसी है ? आदि प्रश्नों से सम्बन्धित निर्णय रहता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इसका सम्बन्ध 'है' से है। अतः इसे 'है-निर्णय' भी कहते हैं। मूल्य-सम्बन्धी निर्णय वस्तु का वर्णन नहीं करता। इसका सम्बन्ध इस बात से नहीं है कि वस्तु क्या है, कैसी है, बल्कि इसका सम्बन्ध 'वस्तु कैसी होनी चाहिए' से है। यानी इसका सम्बन्ध 'चाहिए' से है। अतः इसे 'चाहिए-निर्णय' भी कहते हैं। नैतिक निर्णय मूल्य-सम्बन्धी निर्णय है, वस्तु-सम्बन्धी नहीं; क्योंकि इसमें हम मानव के कर्मों का मूल्यांकन करते हैं, वर्णन नहीं। इसका सम्बन्ध 'आचरण क्या है' से नहीं है बल्कि 'आचरण कैसा होना चाहिए' से है।

पुनः नैतिक निर्णय तार्किक निर्णय से भिन्न है, क्योंकि यह आचरण के बारे में निर्णय नहीं है बल्कि आचरण पर नैतिक आदर्श के दृष्टिकोण से निर्णय है, अर्थात् नैतिक निर्णय तथ्यों की केवल व्याख्या नहीं है, उनके मूल्यों का निर्णय है। यह किसी नैतिक आदर्श या मापदण्ड के द्वारा किसी आचरण को उचित या अनुचित घोषित करता है।

नैतिक निर्णय तार्किक निर्णय तथा सौन्दर्यबोधक निर्णय दोनों से इस बात में भिन्न है कि यह नैतिक दायित्व तथा नैतिक भावना से युक्त होता है। जब हम किसी कर्म को उचित समझते हैं तो उसे करना भी हम अपना नैतिक दायित्व समझते हैं। उचित कर्म करने तथा अनुचित कर्म नहीं करने की बाध्यता हम महसूस करते हैं। पुनः उचित कर्म को करने पर सन्तोष तथा अनुचित कर्म को करने पर असन्तोष का अनुभव करते हैं। ये सन्तोष तथा असन्तोष की भावनाएँ नैतिक भावना हैं। तार्किक तथा सौन्दर्यबोधक निर्णयों में नैतिक दायित्व तथा नैतिक भावना का सर्वथा अभाव रहता है। किसी अनुमान की सत्यता की जाँच करने पर या किसी चित्रकारी के सौन्दर्य को जान लेने पर हम वैसे करने की किसी प्रकार की बाध्यता महसूस नहीं करते। अतः नैतिक निर्णय तथा सौन्दर्यबोधक

निर्णयों से भिन्न है। नैतिक निर्णय मूल्य-सम्बन्धी समालोचनात्मक निर्णय है। यह नैतिक दायित्व एवं नैतिक भावना से युक्त है।

नैतिक निर्णय आदर्शवादी, नियामक तथा व्यावहारिक होता है। वह एक आदर्श या मापदण्ड की ओर संकेत करता है जिसके आधार पर कर्मों का नैतिक मूल्यांकन किया जाता है। वह हमारे कर्मों का नियामक भी है, क्योंकि वह हमें बतलाता है कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अन्त में, नैतिक निर्णय व्यावहारिक है; क्योंकि उसका सम्बन्ध हमारे दैनिक आचरण से ही है। हमारे कर्मों को उचित या अनुचित बतलाकर वह हमें उचित कर्मों को करने तथा अनुचित को नहीं करने की प्रेरणा देता है।

नैतिक निर्णय अनुमानजन्य होता है। नैतिक आदर्श या मापदण्ड के आधार पर ही किसी कर्म को उचित या अनुचित कहा जाता है। नैतिक निर्णय का अर्थ है नैतिक मापदण्ड का किसी कर्म विशेष पर प्रयोग। अनुमान में भी यही होता है। इसमें भी किसी पूर्ण व्यापी वाक्य को उदाहरण विशेष पर लागू करके निष्कर्ष निकाला जाता है। नैतिक निर्णय अनुमानजन्य है, क्योंकि इसमें एक व्यापक मापदण्ड को कर्म विशेष पर लागू करके उसे उचित या अनुचित बतलाया जाता है। पर साधारणतः नैतिक निर्णय में अनुमान की क्रिया स्पष्ट नहीं रहती है। पर जटिल तथा सन्देहात्मक नैतिक निर्णयों में अनुमान की क्रिया कभी-कभी स्पष्ट हो जाती है। ऐसे उदाहरणों में नैतिक मापदण्ड स्पष्ट रूप से उदाहरण विशेषों पर प्रयुक्त किया जाता है। पर साधारणतः नैतिक निर्णय अन्तःअनुभूतिजन्य तथा तात्कालिक होता है, विचारजन्य नहीं। जटिल तथा सन्देहात्मक स्थितियों के अतिरिक्त बहुधा हम तुरत अपरोक्ष रूप से अन्तःअनुभूति द्वारा किसी कर्म का मूल्यांकन समाज द्वारा स्वीकृत मापदण्ड के जरिए करते हैं तथा उसे उचित या अनुचित घोषित करते हैं। केवल जटिल या सन्देहात्मक समस्याओं में ही हम वास्तविक परिस्थिति पर विचार करते हैं तथा चेतन रूप से कर्म की तुलना नैतिक मापदण्ड से करके उसे उचित या अनुचित निर्णीत करते हैं।

प्रत्येक निर्णय की तरह नैतिक निर्णय भी बौद्धिक होता है तथा नैतिक गुण से रहित। नैतिक निर्णय सही या गलत होता है, उचित या अनुचित नहीं, अर्थात् नैतिक निर्णय नीति-शून्य होता है। नैतिक निर्णय स्वयं नैतिक निर्णय का विषय नहीं है। तर्क के दृष्टिकोण से यह सही या गलत होता है, नैतिक दृष्टिकोण से उचित या अनुचित नहीं। जिस तरह अनुमान सही या गलत होता है उचित या अनुचित नहीं, ठीक वही बात नैतिक निर्णय के साथ है। हाँ, यदि किसी नैतिक निर्णय में हम जान-बूझकर नैतिक आदर्श का गलत ढंग से प्रयोग करें या गलत नैतिक आदर्श का प्रयोग करें तो वह नैतिक निर्णय का विषय हो जाता है।

अपने किसी अभिन्न मित्र या अपनी प्रेमिका के अनुचित कर्म को हम यदि गलत मापदण्ड को लागू कर या मापदण्ड को गलत तरीके से प्रयुक्त कर उचित कह दें तो हमारा यह निर्णय नैतिक निर्णय का विषय हो जाता है।

2. नैतिक निर्णय का विषय

हमलोग देख चुके हैं कि ऐच्छिक तथा अभ्यासजन्य कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय हैं। अनैच्छिक कर्म नीतिशून्य होते हैं। अभ्यासजन्य कर्म अनैच्छिक कर्म होते हुए भी नैतिक निर्णय के विषय हैं। यह सही है कि अभ्यासजन्य कर्म स्वतः हो जाते हैं तथापि वे नैतिक निर्णय के विषय हैं; क्योंकि प्रारम्भ में ये कर्म ऐच्छिक रहते हैं। जब किसी कर्म को बार-बार किया जाता है तो उसका अभ्यास हो जाता है। प्रारम्भ में हम उस कर्म को स्वेच्छा से करते हैं पर अभ्यास हो जाने से वह अनायास घटित होने लगता है। अतः अभ्यासजन्य कर्म ऐच्छिक कर्मों के अभ्यास के परिणाम हैं तथा वे नैतिक निर्णय के विषय हो जाते हैं। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल ऐच्छिक कर्म ही नैतिक निर्णय के विषय हैं।

ऐच्छिक कर्म के दो पहलू हैं— आन्तरिक तथा बाह्य। प्रत्येक ऐच्छिक कर्म का प्रारम्भ कुछ मानसिक क्रियाओं से होता है, जिन्हें कर्म का उद्गम या स्रोत कहते हैं। इच्छा, इच्छा-संघर्ष, प्रयोजन, अभिप्राय, चुनाव संघर्ष आदि मानसिक क्रियाएँ प्रत्येक ऐच्छिक कर्म के आन्तरिक पहलू हैं। इनके बाद कुछ शारीरिक क्रियाएँ होती हैं और तब कर्म का प्रत्याशित या अप्रत्याशित परिणाम होता है। कर्म के परिणाम को उसका बाह्य पक्ष कहते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रयोजन तथा अभिप्राय ऐच्छिक कर्म के आन्तरिक पक्ष है तथा उसका परिणाम उसका बाह्य पक्ष। अब प्रश्न उठता है कि नैतिक निर्णय का आधार कर्म का आन्तरिक पक्ष है या बाह्य पक्ष अथवा दोनों। किसी कर्म को अच्छा या बुरा उसके प्रयोजन आदि मानसिक प्रक्रियाओं के अच्छा या बुरा होने के कारण हम कहते हैं अथवा उसके परिणाम के अच्छा या बुरा होने के कारण ? सुखवादी दूसरे विकल्प को स्वीकार करते हैं तथा अन्तःअनुभूतिवादी पहले विकल्प को। दोनों में इस प्रश्न को लेकर काफी मतभेद है। सुखवादियों का कहना है कि कर्म का अच्छा या बुरा होना परिणाम पर निर्भर है जब कि अन्तःअनुभूतिवादियों के अनुसार इसका निर्धारण कर्म के प्रयोजन द्वारा होता है।

सुखवादी यथा, मिल, बेन्थम आदि कर्म के नैतिक मूल्य को आँकने में प्रयोजन की महत्ता स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि कर्म का परिणाम या फल ही उसके नैतिक मूल्य को निर्धारित करता है। प्रयोजन का अच्छा-बुरा होना परिणाम के अच्छा-बुरा होने पर निर्भर करता है। प्रयोजन का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। बेन्थम कहते हैं कि कर्म का परिणाम ही उसके प्रयोजन

का परिचायक है। जे० एस० मिल का कहना है कि "कर्म की नैतिकता से प्रयोजन का कोई सम्बन्ध नहीं है।"[1] सुखवादियों के अनुसार 'अन्त भला तो सब भला।' उनके अनुसार किसी कर्म का परिणाम ही उसके नैतिक गुणों को निर्धारित करता है। पर यह मत दोषपूर्ण है। हमें बहुत से ऐसे उदाहरण मिलेंगे जहाँ परिणाम बुरा होते हुए भी कर्म अच्छा है और ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जहाँ परिणाम अच्छा होते हुए भी कर्म बुरा है। कोई सुयोग्य डॉक्टर किसी रोगी के दुःख को दूर करने के लिए अपनी पूरी योग्यता और सावधानी के साथ ऑपरेशन करता है। ऑपरेशन से रोगी की मृत्यु हो जाती है। यहाँ कर्म का परिणाम बुरा है, पर डॉक्टर के इस कर्म को बुरा नहीं कह सकते। अब हम एक ऐसा उदाहरण लें जिससे यह प्रमाणित हो कि कर्म का फल अच्छा होने पर भी कर्म बुरा हो सकता है। डॉ० जॉन्सन ने कहा है कि यदि कोई भिखारी मेरे दरवाजे पर आकर भिक्षा के लिए हल्ला करता है और उससे तंग आकर हम कुछ पैसे उसकी ओर इस उद्देश्य से फेंकते हैं कि उसका सिर फूट जाय, पर वह भिखारी पैसे से अपनी भूख मिटाता है, तो यहाँ कर्म का परिणाम अच्छा हुआ, पर कर्म को अच्छा नहीं कहा जा सकता। परिणाम अच्छा होते हुए भी कर्म बुरा ही कहा जायगा। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि कर्म का फल उसके नैतिक गुणों का निर्णायक नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि यदि कर्म का उद्देश्य बुरा है तो उसका परिणाम अच्छा होने पर भी कर्म बुरा ही कहा जाएगा। अतः किसी कर्म का अच्छा बुरा होना उसके आन्तरिक पक्ष पर ही निर्भर करता है। बाह्य पक्ष या परिणाम पर बाहरी शक्तियों का भी बहुत अधिक प्रभाव रहता है। बाह्य परिस्थितियों पर मनुष्य का नियन्त्रण नहीं होने के कारण उद्देश्य या प्रयोजन के अनुकूल परिणाम बहुधा नहीं हो पाता है। कर्म के वास्तविक परिणाम पर मनुष्य का अधिकार नहीं होने के कारण परिणाम के आधार पर नैतिक निर्णय देना उचित नहीं होगा।

कांट[2] तथा बटलर[3] आदि अन्तःअनुभूतिवादी एवं बुद्धिवादी दार्शनिक भी इस मत की पुष्टि करते हैं। इन लोगों का कहना है कि कर्म का परिणाम उसके नैतिक गुणों का निर्धारक नहीं होता। इनके अनुसार कर्म का उद्देश्य या प्रयोजन ही नैतिक

1. "The motive has nothing to do with moralit**y** of the act." —J. S. Mill.
2. "………the effect of our actions cannot give them moral worth." —Kant.
3. "………the rightness or wrongness of an act depends very much upon the motive for which it is done." —Butler.

निर्णय का आधार होना चाहिए। प्रो० ग्रीन भी इस पक्ष में हैं कि कर्म का आन्तरिक पहलू ही नैतिक निर्णय का विषय होना चाहिए।[1]

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि कर्म का परिणाम उसके नैतिक गुणों को निर्धारित करता है अथवा उसका प्रयोजन या उद्देश्य? हम ऊपर देख चुके हैं कि परिणाम पर नैतिक निर्णय नहीं होता। अतः, हमें कर्म के आन्तरिक पहलू को ही नैतिक निर्णय का विषय मानना चाहिए। कर्म के आन्तरिक पहलू के अन्तर्गत इच्छा, प्रयोजन, अभिप्राय आदि आते हैं। अब दूसरा प्रश्न है कि क्या केवल प्रयोजन नैतिक निर्णय का विषय है, जैसा कि कांट, बटलर आदि अन्तःअनुभूतिवादी कहते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्टतः निषेधात्मक होगा। सर्वप्रथम हमें प्रयोजन का अर्थ समझ लेना चाहिए। प्रयोजन उस वस्तु या उद्देश्य का विचार है जिसकी प्राप्ति से हमारी इच्छा की पूर्ति हो सकती है। उद्देश्य का प्रत्यय ही हमारे कर्म की प्रेरणा होती है, क्योंकि वही कर्म करने को प्रेरित करता है। प्रयोजन को इसलिए प्रेरक-शक्ति भी कहते हैं। यदि किसी कर्म का उद्देश्य अच्छा हो तो क्या निश्चित रूप में वह कर्म अच्छा ही होगा? ऐसा नहीं कहा जा सकता। उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन की भी आवश्यकता होती है। कर्म को अच्छा होने के लिए उद्देश्य के साथ-साथ उसके साधन को भी अच्छा होना चाहिए। यदि किसी कर्म का उद्देश्य अच्छा हो पर उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए बुरे साधन का प्रयोग किया जाए तो वह कर्म भी अच्छा नहीं कहा जाएगा। क्या पवित्र साध्य अपवित्र साधन को पवित्र बना देता है? नहीं, साध्य की पवित्रता अपवित्र साधन को पवित्र नहीं बना सकती। उदाहरणार्थ, सन्त क्रिस्पिन धनी व्यक्तियों के चमड़े चुराकर गरीबों के लिए जूते बनाते थे। यहाँ उनका उद्देश्य गरीबों को जूते बनाकर देना तो अच्छा है, पर उसकी पूर्ति के लिए अपनाया गया साधन—चोरी करना बुरा है। अतः उनके इस कर्म को हम अच्छा नहीं कह सकते। उनका कर्म तब अच्छा कहा जाता जब धनियों से प्रार्थना करके वे चमड़ा माँगते और जूते बनाकर गरीबों को देते। अतः केवल प्रयोजन पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता। साध्य तथा साधन दोनों का विचार नैतिक निर्णय का विषय है। अभिप्राय के अन्तर्गत साध्य तथा साधन दोनों आते हैं। अभिप्राय के अन्दर उद्देश्य, साधन तथा प्रत्याशित परिणाम के विचार सम्मिलित हैं। जब हम किसी कर्म के उद्देश्य और साधन पर विचार करते हैं तो उसके परिणाम पर भी विचार किया जाता है, भले

1. "It is not by the outward form that we know what moral action is. We know it, so to speak, on the inner side." —Green.

ही वास्तविक परिणाम उसके अनुकूल न हो। अतः प्रत्याशित परिणाम का विचार भी नैतिक निर्णय में शामिल है। अतः हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अभिप्राय ही नैतिक निर्णय का विषय है। जिस कर्म का अभिप्राय अच्छा है, वह कर्म अच्छा है तथा जिसका अभिप्राय बुरा है, वह कर्म बुरा है।

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न उठता है—क्या लक्ष्य कभी भी साधन के गुणों को निर्धारित नहीं करता ?[1] हमें कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ बुरे साधन के प्रयोग पर भी लक्ष्य की अच्छाई के कारण कर्म अच्छा समझा जाता है। कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ साध्य की पवित्रता साधन के दोषों को दूर करती है। यदि कोई लड़का पढ़ने नहीं जाता तो पिता उसे दण्ड देता है, उसे पीटता है। वहाँ पिता का लक्ष्य है पुत्र का हित जो स्पष्टतः अच्छा है। पर साधन पीटना या दण्ड देना बुरा है। यहाँ साधन के बुरे होते हुए भी हम कर्म को अच्छा कहते हैं। एक दूसरा उदाहरण लें, किसी एकान्त स्थान में कुछ डाकू किसी औरत की इज्जत तथा गहने लेना चाहते हैं। उस समय कोई व्यक्ति वहाँ पहुँचता है और अपनी बन्दूक की गोली से डाकू की हत्या कर उस औरत की इज्जत तथा गहने दोनों की रक्षा करता है। उस व्यक्ति के कर्म को बुरा नहीं कहते, यद्यपि साधन, हत्या, बुरा है, क्योंकि उसका लक्ष्य, एक स्त्री की इज्जत बचाना अच्छा है। ये उदाहरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि कभी-कभी लक्ष्य साधन के नैतिक गुणों को निर्धारित करता है।

विचार करने पर मालूम होता है कि इन अपवादस्वरूप उदाहरणों के पीछे एक रहस्य है। बुरे साधन के रहते हुए भी ये कर्म अच्छे हैं क्योंकि इनके साधन की बुराई-अच्छाई का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। बुरा तथा अपवित्र साधन भी गंगा की तरह पवित्र एवं महान् लक्ष्य के सम्पर्क से अच्छा तथा पवित्र बन जाता है। दूसरी बात यह है कि बुरे ही साधन, इन स्थितियों में एकमात्र साधन होने के कारण, हमें ग्रहण करना ही पड़ता है। इच्छा न रहते हुए भी हमें परिस्थितिवश बुरे साधनों का प्रयोग करना पड़ता है; क्योंकि उनके सिवा उस स्थिति में कोई दूसरा साधन उपलब्ध नहीं रहता। अन्य साधनों की असफलता के बाद ही हम उस अन्तिम और एकमात्र साधन का प्रयोग करते हैं। जब पिता सारे उपायों से थक जाता है तभी वह बच्चों को पीटता है। समझा-बुझाकर तथा इसी तरह के अन्य साधनों के प्रयोग से जब वह बच्चे को रास्ते पर नहीं ला पाता तभी वह अन्तिम साधन पीटना का उपयोग करता है। महात्मा गाँधी, जो सदा अहिंसा का पाठ पढ़ाते थे, कहा करते थे कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जहाँ बल

1. Does the end never justify the means ?

या हिंसा का प्रयोग आवश्यक हो जाए। पाकिस्तान ने भारत के साथ बल-प्रयोग प्रारम्भ किया। पाकिस्तान को समझाने के हमारे सारे प्रयास विफल हो गए। अन्त में, इच्छा के विरुद्ध हमें ताकत का जवाब ताकत से देना पड़ा। पर युद्ध में कितने व्यक्तियों की हत्या हुई। हमने बुरा साधन अपनाया। पर इसके कारण हमारा कर्म बुरा नहीं कहा जाएगा क्योंकि हमारा लक्ष्य था देश की स्वतन्त्रता एवं मान-मर्यादा की रक्षा करना। इस महान् एवं पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति में बुरे साधन अन्तिम एवं एकमात्र साधन के रूप में अपनाए गए। अतः हमारे कर्म को अनुचित नहीं कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ उदाहरण ऐसे हैं जहाँ अनुचित या अशुभ साधन के रहते हुए भी कर्म अनुचित या अशुभ नहीं होता। पर ये उदाहरण अपवादस्वरूप हैं। वास्तव में, कर्म को उचित या शुभ होने के लिए साध्य तथा साधन दोनों को उचित या शुभ होना चाहिए। अतः सामान्यतः साध्य साधन के नैतिक गुणों को निर्धारित नहीं करता। पर कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ साध्य की महानता एवं पवित्रता साधन की अपवित्रता को गौण कर देती है। वहाँ साधन की अच्छाई-बुराई पर हम ध्यान नहीं देते, क्योंकि वही एकमात्र साधन रहता है। ऐसे उदाहरणों में बुरे स धन का प्रयोग भी अनैतिक नहीं कहा जाता। यहाँ साध्य साधन के दोषों को दूर कर देता है।

कुछ लोगों का कहना है कि चरित्र ही नैतिक निर्णय का विषय है। हम लोग ऊपर देख चुके हैं कि अभिप्राय नैतिक निर्णय का विषय है। हम लोगों ने यह भी देखा है कि अभिप्राय में विचार, चुनाव, निर्णय आदि मानसिक क्रियाएँ निहित हैं। अतः हम कह सकते हैं कि अभिप्राय चरित्र की अभिव्यक्ति है। यह सदा चरित्र से प्रभावित होता है। किसी कर्म को बार-बार करने से उस तरह के कर्म करने की स्थायी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। किसी इच्छा को बार-बार मन में लाने से उस तरह की इच्छा करने की स्थायी प्रवृत्ति मन में हो जाती है। इसी तरह के अभ्यास से चरित्र का निर्माण होता है। अच्छे कर्मों को बार-बार करने से उनका अभ्यास हो जाता है। ऐसे कर्मों को करने वाला मनुष्य अच्छे चरित्र का कहा जाता है। बुरे चरित्र का मनुष्य वह है जिसे बुरे कर्म करने का अभ्यास हो गया है। अतः इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य का जैसा चरित्र होता है, वैसा ही उसका अभिप्राय होता है। मैकेन्जी के अनुसार चरित्र पर नैतिक निर्णय का अर्थ है, मनुष्य पर नैतिक निर्णय। अतः मैकेन्जी के अनुसार

कर्म पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जाता, कर्त्ता पर दिया जाता है।[1] उनके कहने का तात्पर्य है कि यदि किसी ऐच्छिक कर्म पर उसे कर्त्ता से स्वतन्त्र मान कर विचार करें तो उस कर्त्ता विच्छिन्न कर्म में कोई नैतिक मूल्य नहीं रह जाता। कर्त्ता से भिन्न मानने पर कर्म का लक्ष्य एवं साधन (अभिप्राय) नहीं जाना जा सकता है। पर इन पर ही नैतिक निर्णय किया जाता है। अतः कर्त्ता से भिन्न एवं स्वतन्त्र मानने पर, कर्म का नैतिक मूल्यांकन सम्भव नहीं है। मैकेन्जी के इस कथन में सत्यता है। पर उनका ऐसा कहना आलोचना का विषय है कि चरित्र नैतिक निर्णय का विषय है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि अच्छे चरित्र वाले व्यक्ति का अभिप्राय सदा अच्छा ही हो तथा बुरे चरित्र वाले व्यक्ति का अभिप्राय सदा बुरा। अतः अभिप्राय को ही नैतिक निर्णय का विषय मानना अधिक उपयुक्त है।

नैतिक निर्णय के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है—नैतिक निर्णय सर्वप्रथम किस पर होता है, अपने पर या दूसरों पर? दूसरे शब्दों में, नैतिक निर्णय की उत्पत्ति स्व-निर्णय से होती है या दूसरों के निरीक्षण से? स्मिथ, मिल, बेन्थम आदि विचारकों का मत है कि नैतिक निर्णय दूसरों के निर्णय से प्रारम्भ होता है। इन लोगों का कहना है कि जिस प्रकार बाह्य निरीक्षण के बाद ही अन्तर्निरीक्षण प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार पहले हम दूसरों के कर्मों का नैतिक मूल्यांकन करते हैं और तब अपने कर्मों का। सर्वप्रथम मनुष्य दूसरों के कर्मों पर नैतिक निर्णय करता है। पर जब उसे ज्ञात होता है कि दूसरे भी उसके कर्मों का ठीक उसी तरह मूल्यांकन करते हैं जिस प्रकार वह दूसरों के कर्मों का मूल्यांकन करता है, तो वह स्वयं अपने कर्मों का नैतिक मूल्यांकन करने लगता है। वह अपने को दूसरे के स्थान में रखकर निष्पक्ष द्रष्टा के रूप में अपने कर्मों का अन्तर्निरीक्षण करता है और उस पर नैतिक निर्णय करता है। वह यह विचारता है कि दूसरे उसके कर्मों पर किस प्रकार का निर्णय देंगे और इसके प्रकाश में अपने कर्मों का स्वयं निर्णय करता है।

पर यह मत दोषपूर्ण है। नैतिक निर्णय कर्म के अभिप्राय पर किया जाता है। अभिप्राय कर्म का आन्तरिक पहलू होता है। हम केवल अपने अभिप्राय को ही अन्तर्निरीक्षण द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जान सकते हैं। दूसरे के अभिप्राय को हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं जान सकते, उसे हम अनुमान से जानते हैं। बाह्य संकेतों के द्वारा ही

1. "The truth seems to be rather that the fully developed moral judgement is always pronounced directly or indirectly, on the character of the agent. It is never simply on a thing done, but always on a person doing, that we pass moral judgement."
—Mackenzie : A Manual of Ethics, P. 111.

हम दूसरों के अभिप्राय का अनुमान करते हैं। कर्म के बाह्य परिणाम तथा परिस्थिति के आधार पर ही हम दूसरों के अभिप्राय का अनुमान करते हैं। पर ऐसा अनुमान तभी सम्भव है जब हमने स्वयं उस तरह के बाह्य परिणाम एवं परिस्थिति में अपने अभिप्राय का अन्तर्निरीक्षण किया हो, जिसने स्वयं भूख की ज्वाला की तड़प का अनुभव नहीं किया है, वह दूसरे व्यक्ति को तड़पते देखकर कैसे अनुमान कर सकता है कि उसकी तड़प भूख की है? अतः नैतिक निर्णय पहले अपने पर होता है और तब दूसरों पर। पहले हम अपने कर्मों पर नैतिक निर्णय करते हैं और इसमें उतनी कठिनाई नहीं है; क्योंकि हम अपने अभिप्राय को आसानी से प्रत्यक्ष द्वारा जान जाते हैं। तब दूसरों के कर्मों पर नैतिक निर्णय करते हैं। आत्मानुभूति के कारण हम जान पाते हैं कि किस तरह के बाह्य परिणाम किस तरह के अभिप्राय के द्योतक हैं। अतः प्रत्यक्ष रूप से हम केवल अपने कर्मों पर ही नैतिक निर्णय करते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों के बीच कोई विभेदक-रेखा है। ऐसी बात नहीं है कि दूसरे के कर्मों पर नैतिक निर्णय देने के पहले हम अपने कर्मों पर नैतिक निर्णय देने के लिए रुक जाते हैं।

नैतिक निर्णय कौन देता है? इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में आचारशास्त्रियों में मतभेद है। मैकेन्जी के अनुसार जिस दृष्टिकोण से कर्म पर नैतिक निर्णय किया जाता है, वही नैतिक निर्णय का विषयी कहलाता है। उनके अनुसार आदर्श मापदण्ड के दृष्टिकोण से ही नैतिक निर्णय किया जाता है। अतः आदर्श मापदण्ड का दृष्टिकोण ही नैतिक निर्णय का विषयी है।

नैतिक इन्द्रियवाद के समर्थक शेफ्टसबरी का कहना है कि नैतिक आलोचक ही नैतिक निर्णय का विषयी है।

ठीक इसी तरह का विचार ऐडम स्मिथ का है। उनके अनुसार निष्पक्ष द्रष्टा ही नैतिक निर्णय का विषयी है। हम दूसरे के कर्मों पर नैतिक निर्णय करते हैं। पर यह भी हम समझते हैं कि दूसरे भी इसी तरह हमारे कर्मों पर नैतिक निर्णय करते हैं। ऐसा विचार कर हम स्वयं अपने कर्मों पर निष्पक्ष आलोचक की तरह निर्णय करना प्रारम्भ कर देते हैं।

नैतिक निर्णय का विषयी मनुष्य की विवेकी आत्मा अथवा आदर्श आत्मा है। यह निष्पक्ष आलोचक की तरह अपने तथा दूसरे के कर्मों पर नैतिक निर्णय करता है। वास्तविक आत्मा पर नैतिक निर्णय किया जाता है। यह निर्णय आदर्श आत्मा द्वारा किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने को दो भागों में विभक्त

कर लेता है। एक भाग वह है जो कर्म करता है और दूसरा वह है जो उस कर्म पर नैतिक निर्णय देता है। आदर्श या विवेकी आत्मा ही नैतिक निर्णय का विषयी है।[1]

1. When I endeavour to examine my own conduct I divide myself, as it were, into two persons. I, the examiner and judge, represent a different character from the other. I, the person whose conduct is examined into, and judged of. The first is the spetator. The second is the agent. The first is the Judge, the second the person Judged of."—Adam Smith.

आठवाँ अध्याय

नैतिकता की आवश्यक मान्यताएँ

1. विषय-प्रवेश

प्राय: प्रत्येक शास्त्र की मान्यताएँ होती हैं जिनको माने बिना वह शास्त्र सम्भव नहीं होता। ये मान्यताएँ स्वयंसिद्धियाँ होती हैं, क्योंकि इनकी सत्यता स्वयंसिद्ध एवं स्वत: स्पष्ट समझी जाती है। इनके लिए किसी प्रकार के तर्क की आवश्यकता नहीं। ये मान्यताएँ आवश्यक मान्यताएँ हैं। आचारशास्त्र की भी ऐसी कुछ मान्यताएँ हैं जिनको माने बिना आचारशास्त्र सम्भव नहीं हो सकता। ये मान्यताएँ ही नैतिकता की आधारशिला हैं। इन मान्यताओं को स्वीकार किए बिना नैतिकता की कल्पना नहीं की जा सकती। अत: इन मान्यताओं को नैतिकता की आवश्यक मान्यताएँ कहा जाता है। ये मान्यताएँ निम्नलिखित हैं :

1. व्यक्तित्व,
2. विवेक और
3. संकल्प-स्वतन्त्रता।

1. **व्यक्तित्व** : नैतिकता का प्रश्न वहीं उठता है, जहाँ व्यक्तित्व है। हमलोग देख चुके हैं कि नैतिक निर्णय कर्म पर नहीं बल्कि कर्त्ता पर दिया जाता है, क्योंकि कर्त्ता के बिना कर्म का लक्ष्य एवं साधन (अभिप्राय) स्पष्ट नहीं होता। पर अभिप्राय ही नैतिक निर्णय का विषय है जैसा कि हमलोग पहले ही जान चुके हैं। अत: एक विवेकशील प्राणी के बिना नैतिक निर्णय सम्भव नहीं है। नैतिक निर्णय का विषय भी विवेकशील प्राणी है तथा विषयी भी वही है, क्योंकि वही नैतिक निर्णय करने वाला है। अचेतन वस्तुओं की क्रियाओं पर नैतिक निर्णय नहीं किया जाता क्योंकि उनमें इच्छा, इच्छा संघर्ष, चुनाव, निर्णय प्रयोजन, अभिप्राय आदि का अभाव पाया जाता है। उनमें नैतिक नियम को समझने एवं उनके अनुसार कार्य करने की क्षमता नहीं है। व्यक्ति में ही ऐसी क्षमता है। अत: व्यक्ति ही नैतिक निर्णय का आधार है। जहाँ व्यक्तित्व नहीं है वहाँ नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। काल्डरउड ने स्पष्ट रूप से कहा है कि व्यक्तित्व को माने बिना नैतिकता असम्भव है।

अब प्रश्न है कि व्यक्तित्व का क्या अर्थ है ? दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व किसे कहते हैं ? व्यक्तित्व के लिए आत्म-चेतना तथा आत्म-नियंत्रित क्रिया का होना

आवश्यक है। जहाँ ये दोनों तत्त्व पाए जाते हैं वहीं व्यक्तित्व पाया जाता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्तित्व वह है जिसमें आत्म-चेतना है तथा जिसकी क्रियाएँ आत्मनियन्त्रित हैं। व्यक्ति वह है जिसे अपनी स्थिति की चेतना है, जो अपनी मानसिक स्थितियों तथा प्रक्रियाओं को अपना समझता है तथा अपने को उनका कर्त्ता मानता है। इसमें अपनी क्रियाओं को स्वतंत्र रूप से तथा विवेकपूर्ण ढंग से निर्धारित करने की शक्ति है। मनुष्य को ही इस अर्थ में व्यक्ति कहा जाता है। दूसरे प्राणियों में इन बातों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। अतः उन्हें व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है। उनमें न आत्म-चेतना होती है और न उनकी क्रियाएँ आत्म-नियंत्रित होती हैं। अन्य प्राणियों की क्रियाएँ उनकी अन्ध-प्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं; विवेक द्वारा नहीं। यही कारण है कि बच्चों तथा पागल मनुष्यों को हम व्यक्ति कहने से हिचकते हैं, क्योंकि उन्हें न अपनी चेतना होती है और न उनकी क्रियाएँ विवेक द्वारा निर्धारित होती हैं। अपने कर्मों के कर्त्ता रूप में उन्हें चेतना नहीं होती। इसी कारण हम उन्हें उनके कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराते। अतः व्यक्तित्व वहीं पाया जाता है, जहाँ आत्म-चेतना तथा आत्य-नियंत्रित क्रिया पायी जाती है।

संवितवादी तथा अनुभववादी मनोविज्ञान का मत है कि आत्मा या व्यक्तित्व चेतन स्थितियों एवं प्रक्रियाओं का समष्टि-मात्र है। पर यह मत दोषपूर्ण है। यदि इस मत को स्वीकार किया जाय तो नैतिकता समाप्त हो जाती है। चेतन स्थितियों एवं प्रक्रियाओं की बात हम सोच ही नहीं सकते जब तक यह नहीं मानें कि कोई द्रव्य है जिसकी ये स्थितियाँ एवं प्रक्रियाएँ हैं। ज्ञान, राग एवं क्रिया की बात सोची ही नहीं जा सकती जब तक हम यह नहीं मानें कि कोई सत्ता है जो ज्ञान प्राप्त करती है, जिसे अनुभूति होती है तथा जो क्रिया करती है। एक स्थायी चेतन सत्ता को स्वीकार किए बिना अनुभव की व्याख्या असम्भव हो जाती है। आखिर अनुभव करनेवाली कोई सत्ता अवश्य होनी चाहिए अन्यथा अनुभवकर्त्ता कौन है? मानसिक स्थितियों एवं प्रक्रियाओं को एकत्व एवं सम्बन्ध कौन प्रदान करता है? शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तनों के बाद भी हम किसी व्यक्ति को वही व्यक्ति क्यों मानते हैं? इन सारे प्रश्नों का समाधान तभी सम्भव है जब हम एक स्थायी चेतन द्रव्य (आत्मा) को अनुभवकर्त्ता स्वीकार करें। यदि अनुभवकर्त्ता को भी हम अनुभव के समान परिवर्तनशील मानेंगे तो नैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। कोई व्यक्ति किसी की हत्या कर डालता है। कई वर्षों के बाद कोर्ट उसे सजा देती है। अब यदि उस व्यक्ति में स्थायी तत्त्व नहीं है, वह परिवर्तनशील है तो सजा के समय वह वही व्यक्ति नहीं है जो हत्या करने के समय था। अतः उसे सजा देना अनैतिक होगा। अतः हमें आत्मा और

व्यक्ति को चेतन स्थायी द्रव्य के रूप में स्वीकार करना ही पड़ता है। व्यक्तित्व या आत्मा ही हमारे मानसिक एवं भौतिक जीवन का आधार है।

2. **विवेक :** मनुष्य में दो आवश्यक तत्त्व हैं: पाशविक प्रवृत्ति तथा विवेक शक्ति। विवेक ही मानव की विशेषता है। मनुष्य पद की गुणवाचकता है पशुत्व तथा विवेक। विवेक ही उसका सारगुण है। पशुत्व तो पशुओं में भी पाया जाता है। पशुओं से श्रेष्ठ मनुष्य इसी बात में है कि उसमें विवेक पाया जाता है जिसका पशुओं में अभाव है। इसी गुण के कारण मनुष्य संसार के सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है तथा सबों पर अधिकार रखना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। यह गुण सिर्फ मनुष्य में पाया जाता है, संसार के किसी अन्य प्राणी में नहीं। इसी गुण के रहने से मानव की क्रियाएँ नैतिक कही जाती हैं और इस गुण के अभाव के कारण मानवेत्तर प्राणियों एवं निर्जीव वस्तुओं की क्रियाएँ नीति-शून्य। हम जानते हैं कि मनुष्य की सिर्फ ऐच्छिक क्रियाएँ ही नैतिक निर्णय के विषय हैं। ऐच्छिक क्रियाओं के अन्तर्गत अभाव की अनुभूति, इच्छा, इच्छा-संघर्ष, चुनाव, निर्णय, लक्ष्य तथा साधन का विचार, प्रत्याशित परिणाम का विचार आदि आते हैं। ये मानसिक प्रक्रियाएँ विवेक के बिना सम्भव नहीं हैं। नैतिक निर्णय के विषयी या कर्त्ता को भी विवेक-शक्ति से सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि नैतिक निर्णय के लिए नैतिक सिद्धान्तों तथा मापदण्डों का ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान विवेक से ही सम्भव है। इसी शक्ति द्वारा कर्त्ता नैतिक आदर्शों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा उदाहरण विशेषों में उनका प्रयोग कर मानव के कर्मों को शुभ या अशुभ कहता है। अतः शुभाशुभ, अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक आदि का ज्ञान विवेक से ही सम्भव है। अतः विवेक-शक्ति को स्वीकार किए बिना नैतिकता सम्भव नहीं है। विवेक-शक्ति नैतिकता की दूसरी आवश्यक मान्यता है।

3. **आत्म-निर्धारण या संकल्प-स्वातंत्र्य :** संकल्प-स्वातंत्र्य नैतिकता की तीसरी आवश्यक मान्यता है। हमलोग देख चुके हैं कि ऐच्छिक कर्म के आन्तरिक पक्ष में इच्छा-संघर्ष, चुनाव, निर्णय आदि मानसिक प्रक्रियाएँ आती हैं। इच्छा-संघर्ष होने पर हम किसी भी इच्छा को चुनने में स्वतन्त्र रहते हैं। इस चुनाव में हम बाह्य परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित नहीं रहते। हम अपने ही द्वारा नियंत्रित रहते हैं। एक उदाहरण द्वारा हम इस बात को स्पष्ट कर सकते हैं। हम रास्ते में जा रहे हैं। आगे जाने वाले किसी राही का दस रुपए का नोट गिर पड़ता है। हम उसको उठा लेते हैं। उस समय हमारे मन में दो प्रकार की इच्छाएँ उठती हैं—एक तो यह कि उसे रुपए लौटा दें, दूसरा यह कि उसे रख लें। अन्त में हम निर्णय करते हैं कि उस राही को रोककर उसे रुपए दे दें और ऐसा ही करते हैं। यहाँ इन दो विकल्पों में से किसी एक को चुनने में हम स्वतन्त्र हैं। हम अपने निर्णय में किसी

बाह्य शक्ति द्वारा नियंत्रित नहीं हैं। हम अपने ही द्वारा नियंत्रित हैं, अपने चरित्र द्वारा। इस तरह हम पाते हैं कि मनुष्य विभिन्न विकल्पों में से किसी एक को चुनने में स्वतन्त्र है। यदि वह स्वतन्त्र नहीं रहता तो कर्मों की जिम्मेदारी उस पर नहीं होती। पर कर्मों का दायित्व कर्त्ता पर रहता है। हम कर्मों की प्रशंसा या निन्दा करते हैं। कर्मों के लिए पुरस्कार या दण्ड है। कर्मों को अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ कहते हैं। ये सारी बातें तभी अर्थपूर्ण होंगी जब हम मानव में संकल्प-स्वातन्त्र्य को मान लें। संकल्प-स्वातन्त्र्य के अभाव में नैतिकता का अर्थ ही नहीं रह जाता। डी० आर्की ने ठीक ही कहा है कि संकल्प-स्वातन्त्र्य नैतिकता का आधार है।

कुछ नैतिक चिन्तकों के अनुसार हमारे कर्म बाह्य परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित होते हैं। उनका होना निश्चित है, हमारी इच्छा पर नहीं। इस विचार को नियतिवाद कहते हैं। यह सिद्धान्त नैतिकता का अन्त कर देता है। यदि हम वातावरण एवं बाह्य परिस्थितियों के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते, यदि कर्म करने में हम स्वतन्त्र नहीं हैं, तो कर्मों का दायित्व या उसकी जिम्मेदारी हम पर नहीं रहती। वैसी हालत में हम निर्जीव वस्तुओं तथा यन्त्रों से श्रेष्ठ नहीं हैं। हमारे कर्म तब नीति-शून्य हो जाते हैं। उन्हें अच्छा-बुरा कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। हमें अपने कर्मों के लिए प्रशंसा या निन्दा नहीं मिलनी चाहिए। कर्मों के लिए पुरस्कार या सजा देना भी तब निरर्थक हो जाता है। कर्मों की प्रशंसा सिर्फ उसी अर्थ में की जा सकती है जिस अर्थ में हम प्राकृतिक वस्तुओं के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं। नैतिक अर्थ में कर्मों की प्रशंसा या निन्दा अर्थहीन हो जाती है। किसी व्यक्ति को दण्ड देना भी तब न्याय-संगत नहीं लगता; क्योंकि कार्य के लिए वह उत्तरदायी नहीं है। जो कुछ उसने किया उसने अपनी स्वतंत्र इच्छा से नहीं किया बल्कि वैसा होना तो पूर्व निश्चित था। कर्मों पर उसका अधिकार नहीं रहता।

मानव आचरण के नियंत्रण एवं सुधार का प्रश्न भी निरर्थक हो जाता है। हम कहते हैं कि हमें अपने आचरण को सुधारना चाहिए। पर यदि कर्म करने में हम स्वतंत्र नहीं हैं तब हम अपने आचरण को कैसे सुधार सकते हैं ?

नियतिवाद पश्चात्ताप को भी निरर्थक कर देता है। बुरे कर्म करने के बाद हम पश्चात्ताप करते हैं। इसका अर्थ है कि हम सोचते हैं कि जैसा हमने किया वैसा हम नहीं भी कर सकते थे। यदि हम चाहते तो बुरे कर्म को नहीं करते। इसी विचार के कारण हम अपने बुरे कर्मों के लिए पश्चात्ताप करते हैं। इसका अर्थ है कि कर्म करने में हमारी स्वतंत्र इच्छा रहती है। पर नियतिवाद को मान लेने से पश्चात्ताप का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मनिर्धारण या संकल्प-स्वातंत्र्य नैतिकता की एक आवश्यक मान्यता है। डॉ० मार्टिन्यू का कहना है कि नैतिक निर्णय के लिए मानव में दो विकल्पों में से एक को चुन लेने की शक्ति होनी चाहिए। यदि संकल्प-स्वातंत्र्य सत्य नहीं है तो नैतिक निर्णय एक भ्रम हो जाता है।[1] कांट भी नैतिकता के लिए संकल्प-स्वातंत्र्य को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार 'चाहिए' के साथ 'सकना' जुटा रहता है।[2] हमें ऐसा करना चाहिए का अर्थ है कि यदि हम चाहें तो ऐसा कर सकते हैं। अर्थात् हम ही अपने कर्म के निर्धारक हैं। हम चाहें तो किसी कार्य को कर सकते हैं और चाहें तो नहीं भी कर सकते। 'चाहिए' का यही अर्थ है। यदि हम यह स्वीकार करें कि मनुष्य संकल्प या इच्छा करने में स्वतन्त्र नहीं है तो कर्त्तव्य, जिम्मेदारी, न्याय आदि प्रत्यय अर्थहीन हो जाते हैं जैसा कि वे मानवेत्तर प्राणियों के लिए अर्थहीन हैं। अतः नियतिवाद नैतिकता का अन्त कर देता है। नैतिकता तभी सम्भव है जब हम संकल्प-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करें।

संकल्प-स्वातन्त्र्य का अर्थ अनियतिवाद नहीं है। अनियतिवाद के अनुसार मनुष्य में विभिन्न विकल्पों में से अकारण किसी एक को चुन लेने की शक्ति है। आत्मा बिल्कुल स्वतन्त्र है। हमारा संकल्प अकारण होता है। किसी भी पूर्वगामी स्थिति से उसका कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता। मनुष्य का संकल्प आन्तरिक या बाह्य किसी शक्ति द्वारा नियन्त्रित नहीं होता। किसी समय कोई मनुष्य किस विकल्प को चुनेगा यह नहीं कहा जा सकता। विभिन्न विकल्पों में से किसी एक को चुनने में मनुष्य अन्तः या बाह्य किसी शक्ति द्वारा नियंत्रित नहीं होता। हम किसी मनुष्य के चुनाव के सम्बन्ध में भविष्यवाणी नहीं कर सकते। उसका संकल्प बिल्कुल स्वतंत्र एवं अकारण होता है।

स्वतंत्रता का यह अर्थ नैतिकता के लिए घातक है। यदि मनुष्य अकारण अनियंत्रित रूप से संकल्प करता है तो उसका जिम्मेदारी उस पर नहीं रहती और जब उस पर संकल्प की जिम्मेदारी नहीं होती तो उस पर नैतिक निर्णय भी नहीं किया जा सकता। रैशडेल ने ठीक ही कहा है कि अनियतिवाद जिम्मेदारी को समाप्त कर देता है।[3] इस मत के अनुसार स्वतन्त्र कार्य एक बिल्कुल नवीन कर्म

1. "Either free will is a fact, or moral judgement is a delusion."
—Martineau : Types of Ethical Theory, Vol II, P. 40
2. "Thou oughtest, therefore, thou canst."—Kant.
3. "Not only is Determinism not inconsistent with responsibility, but it may even be maintained with much force that it is Indeterminism which really undermines responsibility".
—Rashdal : Theory of Good & Evil, vol II, P. P. 335-36

है जिसका किसी पूर्व स्थिति से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं रहता। पर जिस कार्य की उत्पत्ति हमारी आत्मा से नहीं होती, उसका दायित्व भी हम पर नहीं हो सकता।

संकल्प-स्वातन्त्र्य का वास्तविक अर्थ आत्मा-निर्धारण है। इसका अर्थ अनियतिवाद नहीं है। मनुष्य को कार्य करने की स्वतन्त्रता है, इसका अर्थ है कि हमारे कार्य हमारे ही द्वारा निर्धारित होते हैं, बाह्य परिस्थितियों द्वारा नहीं। अतः हम उन कार्यों के लिए उत्तरदायी हैं। विभिन्न विकल्पों में से किसी एक को चुनने में मनुष्य स्वतंत्र है। उसमें वह न मानसिक प्रवृत्तियों द्वारा यन्त्रवत नियंत्रित रहता है और न भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों द्वारा ही। मनुष्य के कार्य उसकी आत्मा एवं उसके शुभ के प्रत्यय द्वारा निर्धारित होते हैं। राइट ने ठीक ही कहा है—"मनुष्य के कर्म उसकी आत्मा एवं उसके उद्देश्यों द्वारा निर्धारित होते हैं, उसके चरित्र द्वारा तथा उन आदर्शों द्वारा जो उसके जीवन को अनुप्राणित करते हैं। इसका कारण है कि मनुष्य एक व्यक्ति है तथा उसके कर्म उसके व्यक्तित्व द्वारा निर्धारित होते हैं। अतः वे प्रशंसनीय या निन्दनीय होते हैं।"[1] संकल्प-स्वातंत्र्य-सम्बन्धी इस विचार को आत्म-निर्धारणवाद या प्रयोजनवादी नियतिवाद कहते हैं।

आत्मा अनेक उद्देश्यों में से एक को चुन लेती है जिसे वह शुभ समझती है। इस निर्णय में आत्मा अपने चरित्र द्वारा निर्धारित होती है। आत्मा अपने चरित्र के अनुकूल एक उद्देश्य-विशेष को चुन लेती है। इस चुनाव में हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। बेल्टन ने कहा है कि हम अपने कार्यों के लिए ठीक उसी मात्रा में उत्तरदायी हैं जिस मात्रा में वे हमारे व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं। जहाँ तक वे हमारे व्यक्तित्व एवं चरित्र को अभिव्यक्त नहीं करते, हम उत्तरदायी नहीं हैं।

इस तरह हम पाते हैं कि नियतिवाद तथा अनियतिवाद दोनों ही दोषपूर्ण सिद्धान्त हैं। आत्म-निर्धारणवाद ही इच्छा-स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में सही सिद्धान्त है।

मैकेन्जी ठीक ही कहते हैं कि नैतिकता के लिए स्वतंत्रता तथा अवश्यम्भाविता दोनों आवश्यक हैं। स्वतंत्रता का अर्थ है कि मनुष्य को बाह्य परिस्थितियों एवं

1. "A person's actions are determined by his self and his purpose—by the kind of character he has, and the plans and ideals that actuate his life. It is just because he is a person, and his actions are determined by his personality, that they are praiseworthy or blameworthy."

—Wright : General Introduction to Ethics, P. 276.

आन्तरिक प्रवृत्तियों के प्रतिकूल कार्य करने की स्वतन्त्रता है। अवश्यम्भाविता का अर्थ है कि मनुष्य के कार्य उसके चरित्र द्वारा निर्धारित होते हैं। चरित्र का निर्माण स्वतंत्र कार्यों के द्वारा ही होता है। किसी कार्य को बार-बार करते रहने से उसका अभ्यास हो जाता है अर्थात् उस तरह के चरित्र का निर्माण हो जाता है। चरित्र के आधार पर ही किसी के कार्य के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जाती है। अवश्यम्भाविता का वास्तविक अर्थ यही है कि मनुष्य के कार्य उसके ही द्वारा निर्धारित होते हैं। दूसरे शब्दों में, उसके कार्य उसके चरित्र द्वारा निर्धारित होते हैं।

संकल्प-स्वातंत्र्य नैतिकता की एक आवश्यक मान्यता है। इसके अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के करने में स्वतंत्र है। अनेक विकल्पों में से किसी एक को अपना उद्देश्य चुन लेने में बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियों से वह प्रभावित तो अवश्य होता है पर अन्तिम निर्णय में वह स्वतंत्र है। वह उनके प्रतिकूल भी निर्णय कर सकता है। इसलिए मनुष्य अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है।

2. संकल्प-स्वातंत्र्य विवाद

संकल्प-स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में दो प्रकार के विरोधी मत पाए जाते हैं—नियतिवाद तथा स्वतंत्रतावाद। प्रश्न है कि संकल्प करने में मनुष्य स्वतंत्र है या नहीं? क्या उसका संकल्प उसकी इच्छा के प्रतिकूल भी होता है? क्या उसके संकल्प का कारण ऐसा है जिस पर उसका कोई वश नहीं? क्या वह विपरीत संकल्प नहीं कर सकता? नियतिवादी कहते हैं कि मानव संकल्प भौतिक घटनाओं की तरह पूर्वगामिनी स्थितियों के द्वारा निर्धारित रहता है। इसके विपरीत स्वतंत्रतावादी कहते हैं कि मानव-संकल्प भौतिक घटनाओं की तरह कारणिक सम्बन्ध से नियंत्रित नही रहता। किसी समय में मनुष्य कौन-सा संकल्प करेगा यह उसकी स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर है। किसी भी बाह्य या आन्तरिक कारण से वह नियंत्रित नहीं रहता। इन लोगों का कहना है कि यदि हम संकल्प-स्वातंत्र्य को स्वीकार नहीं करते तो नैतिकता असम्भव हो जाती है।

अब हम दोनों मतों का संक्षेप में विवेचन करेंगे :

1. **नियतिवाद :** नियतिवादियों का कहना है कि मानव-संकल्प विभिन्न प्रयोजनों द्वारा निर्धारित होता है। प्रत्येक ऐच्छिक कार्य किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा या प्रयोजन से उत्पन्न होता है। जब एक ही इच्छा या प्रयोजन रहता है तब कर्म उसी से निर्धारित होता है। पर जब अनेक प्रयोजन एक ही साथ उपस्थित होते हैं तो उनमें संघर्ष होता है। इसे प्रयोजनों का संघर्ष कहते हैं। इस संघर्ष में सबसे अधिक शक्तिशाली प्रयोजन विजयी होता है और वही कार्य को निर्धारित करता है। फिर

विभिन्न इच्छाएँ या प्रयोजन भी पूर्वगामिनी मानसिक स्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं।

(अ) ये प्रयोजन या इच्छाएँ अंशतः मनुष्य की वर्तमान बाह्य परिस्थितियों या अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होती हैं।

(ब) अंशतः ये व्यक्ति के चरित्र द्वारा निर्धारित होती हैं। व्यक्ति का चरित्र दो बातों पर निर्भर करता है, आनुवंशिकता तथा वातावरण। संकल्प की निर्धारक स्थितियों पर मनुष्य का नियंत्रण नहीं है। ये कार्य-कारण श्रृंखला-बद्ध भौतिक तथा मानसिक स्थितियाँ मानव कर्मों को उसी प्रकार निर्धारित करती हैं जिस प्रकार भौतिक घटनाएँ कार्य-कारण नियम द्वारा निर्धारित रहती हैं। अतः मानव-संकल्प नियंत्रित है, स्वतंत्र नहीं। मिल ने नियतिवाद का समर्थन करते हुए कहा है कि इच्छा तथा बाह्य परिस्थितियाँ मिलकर संकल्प को निर्धारित करती हैं। नियतिवादी अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक तर्क पेश करते हैं :

(i) ऐच्छिक कर्मों के विश्लेषण से पता चलता है कि मनुष्य का कार्य अकारण नहीं होता। सर्वप्रथम, मनुष्य को अभाव की अनुभूति होती है। तब वह उस वस्तु का विचार करता है जिसकी प्राप्ति से उसका अभाव दूर होगा। उसी को प्रयोजन कहते हैं। जब एक ही प्रयोजन रहता है तो वही कार्य को निर्धारित करता है। पर जब एक से अधिक प्रयोजन रहते हैं तो उनमें द्वन्द्व होता है और सबसे अधिक शक्तिशाली प्रयोजन ही कार्य को निर्धारित करता है। अतः ऐच्छिक कार्यों का निर्धारक प्रयोजन है जो स्वयं पूर्वगामिनी स्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। वे निर्धारित स्थितियाँ भी अपनी पूर्व स्थितियों पर निर्भर करती हैं और इस तरह की कार्य-कारण श्रृंखला अनन्त काल तक चलती रहती है यथा क का कारण ख, ख का ग, ग का घ...... इस सिलसिले का कभी अन्त नहीं होता तथा अन्तिम कारण तक हम कभी नहीं जा सकते।

(ii) भौतिकवाद भी नियतिवाद को प्रमाणित करता है। भौतिकवाद के अनुसार मन चेतन स्थितियों का योगमात्र है। इसके अनुसार चेतना भौतिक है। चेतना मस्तिष्क की क्रिया से उत्पन्न होती है, मस्तिष्क भौतिक नियमों से संचालित होता है। अतः मस्तिष्क की सारी क्रियाएँ बाह्य नियमों से निर्धारित होती हैं। इस तरह भौतिकवाद से नियतिवाद की पुष्टि होती है।

(iii) सर्वेश्वरवाद भी नियतिवादी निष्कर्ष की ही स्थापना करता है। सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर-सत्ता एकमात्र सत्ता है। विश्व की विशेष वस्तुएँ उसी सत्ता के प्रकार हैं। उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जब मानव की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह उसी मूल सत्ता पर आश्रित है तो मानव संकल्प भी स्वतंत्र नहीं हो सकता है।

वह भी उसी सत्ता के द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार सर्वेश्वरवाद भी नियतिवाद का समर्थक है।

(iv) कार्य-कारण नियम भी नियतिवाद की पुष्टि करता है। यह नियम एक वैज्ञानिक नियम है। प्रत्येक कार्य का कारण होता है। कार्य और कारण में नियत साहचर्य-सम्बन्ध रहता है। जहाँ भी कारण होगा वहाँ कार्य अवश्य होगा। कारण को जानकर कार्य का पूर्ण ज्ञान सम्भव है। इस नियम का कोई भी अपवाद नहीं है। अतः मानव-संकल्प का भी कारण है। स्वतंत्रतावाद के अनुसार मानव-संकल्प अकारण होता है, पर ऐसा मानना अवैज्ञानिक है। अतः संकल्प का भी कारण है और यह अपने कारण से निर्धारित होता है। इस तरह कार्य-कारण नियम नियतिवाद का समर्थन करता है।

(v) मानव क्रियाओं के पूर्व ज्ञान की सम्भावना भी नियतिवाद की पुष्टि करता है। भौतिक घटनाओं की भविष्यवाणी इसलिए सही होती है, क्योंकि वे कार्य-कारण नियम द्वारा सम्बन्धित रहती हैं। विवाह, अपराध, आत्महत्या आदि ऐच्छिक कर्मों के सम्बन्ध में प्रायः गणनाएँ सही होती हैं। अतः ऐच्छिक कर्म भी भौतिक घटनाओं की तरह नियत हैं।

ईश्वर-विज्ञान के अनुसार ईश्वर मानव की सभी क्रियाओं का पूर्व ज्ञान रखता है। इसका अर्थ है कि वह मानव क्रियाओं को निर्धारित करता है।

2. **स्वतन्त्रतावाद :** स्वतन्त्रतावादी उपर्युक्त युक्तियों का खण्डन कर अपने मत मानव-संकल्प स्वतंत्र है—की स्थापना करते हैं। उनका कहना है कि

(i) ऐच्छिक कर्मों का विश्लेषण भ्रान्तिपूर्ण हैं। यह सत्य है कि सबसे अधिक शक्तिशाली प्रयोजन ही कार्य को निर्धारित करता है, पर प्रयोजन एवं बाह्य शक्तियों का प्रभाव मानव के चरित्र के अनुकूल ही पड़ता है। मनुष्य की आत्मा ही इनको अपने रंग में रंगकर उनकी दिशा निर्धारित करती है। अतः मनुष्य का संकल्प उसी के द्वारा निर्धारित होता है, किसी अन्य शक्ति द्वारा नहीं। किस समय कोई मनुष्य कौन-सा संकल्प करेगा यह उसी मनुष्य पर निर्भर है, दूसरा कोई नहीं जान सकता।

(ii) नियतिवाद को भौतिकवाद पर भी आधारित किया गया है। पर भौतिकवादी स्वयं कमजोर सिद्धान्त है। जड़ से चेतन की व्याख्या करने में वह सफल नहीं होता है। अतः उसके द्वारा चेतन की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं हो पाती है। जब वह स्वयं कमजोर सिद्धान्त है तो उस पर नियतिवाद को आधारित करना नियतिवाद को भी कमजोर बना देना है।

(iii) सर्वेश्वरवाद का भी सहारा लिया गया है, नियतिवाद की स्थापना में। पर सर्वेश्वरवाद में एक सत्ता के आधार पर अनेक की व्याख्या नहीं हो पाती है।

स्पिनोजा की कठिनाइयों में हम सभी परिचित हैं। एक से अनेक की व्याख्या करने में वे असफल नजर आते हैं। अतः सर्वेश्वरवाद पर आधारित नियतिवाद भी असफल सिद्धान्त है।

(iv) स्वतन्त्रतावाद कार्य-कारण नियम का खण्डन नहीं करता। यह सिद्धान्त यह नहीं बतलाता कि मानव-संकल्प अकारण होता है। मानव-संकल्प का भी कारण है और वह है मानव का चरित्र। वह स्वयं ही अपने संकल्प का कारण है।

(v) मानव आचरण के पूर्व ज्ञान की सम्भावना भी नियतिवाद को प्रमाणित नहीं करता। हम जानते हैं कि मनुष्य का आचरण उसके चरित्र के अनुकूल होता है। यदि समान प्रकृति वाले व्यक्तियों को एक ही परिस्थिति में रखा जाय तो उनके आचरण समान होंगे। अतः किसी व्यक्ति के चरित्र एवं परिस्थितियों को जानकर उसके आचरण की भविष्यवाणी की जा सकती है। पर इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि व्यक्ति अपने आचरण में स्वतंत्र नहीं है। वह कर्म करने में स्वतंत्र है क्योंकि किस समय वह कौन-सा कार्य करेगा यह पूर्णतः उसी पर निर्भर करता है।

स्वतंत्रतावादी अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए दो भावात्मक तर्क भी पेश करते हैं :

1, **नैतिक चेतना :** मनुष्य की नैतिक चेतना, संकल्प-स्वातंत्र्य को प्रमाणित करती है। नैतिक निर्णयों में 'चाहिए' शब्द का प्रयोग होता है। यदि मनुष्य संकल्प करने में स्वतन्त्र नहीं है तो 'चाहिए' का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अतः मानव-संकल्प स्वतन्त्र है।

2. **आत्म-चेतना :** जब मनुष्य संकल्प करता है तो उसे इस बात की चेतना रहती है कि बिना किसी बाह्य परिस्थिति से बाध्य हुए वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने शुभ उद्देश्य की पूर्ति के लिए कर्म कर रहा है। अतः मनुष्य की आत्म-चेतना संकल्प की स्वतंत्रता को प्रमाणित करती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि संकल्प-स्वातंत्र्य सही है। संकल्प-स्वातंत्र्य का अर्थ यहाँ आत्मनिर्धारणवाद है।

नवाँ अध्याय

मौलिक नैतिक प्रत्यय

1. विषय-प्रवेश

ऐच्छिक कर्मों पर नैतिक निर्णय देने में उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप आदि प्रत्ययों का व्यवहार किया जाता है। कोई कर्म उचित कहा जाता है तो कोई अनुचित, कोई शुभ तो कोई अशुभ, कोई पुण्य तो कोई पाप। ये ही नैतिक निर्णय के मौलिक प्रत्यय कहलाते हैं क्योंकि प्रत्येक नैतिक निर्णय इन्हीं में से किसी एक प्रत्यय के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। अतः नैतिक निर्णय के लिए हमें इन प्रत्ययों का ज्ञान आवश्यक है। आचारशास्त्र में नैतिक निर्णय किया जाता है। अतः आचार-शास्त्र में इन मौलिक प्रत्ययों का विवेचन आवश्यक है, क्योंकि इनके द्वारा ही नैतिक निर्णय सम्भव होता है। इनमें भी उचित तथा शुभ के प्रत्यय सबसे अधिक मौलिक हैं। अब हम इन प्रत्ययों का विवेचन करते हैं :

2. उचित और अनुचित

अंग्रेजी शब्द 'राइट' (Right) की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'रेक्टस' (Rectus) से हुई है, जिसका अर्थ होता है सीधा या नियम के अनुकूल। 'राइट' को हिन्दी में उचित कहा जाता है। अतः उचित कर्म का अर्थ है वह कर्म जो नैतिक नियम के अनुसार हो। 'रौंग' (Wrong) शब्द 'रिंग' (Wring) क्रिया से सम्बन्धित है। अतः इसका अर्थ है टेढ़ा या नियम के अनुसार न होना। इस तरह अनुचित कार्य वह है जो नैतिक नियम के अनुकूल न हो। उचित तथा अनुचित प्रत्यय क्रमशः नैतिक नियम से संगति तथा असंगति सूचित करते हैं।

प्रत्येक नियम किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होता है। इस उद्देश्य को शुभ कहते हैं। नैतिक नियम द्वारा जिसे उद्देश्य की प्राप्ति की जाती है, उसे परम शुभ कहते हैं। उचित तथा अनुचित उस नैतिक नियम से सम्बन्धित है जिसका उद्देश्य है, सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति। इस तरह उचित तथा अनुचित परम शुभ से सम्बन्धित है। अतः हमें शुभ, परम शुभ तथा अशुभ प्रत्ययों को भी जानना चाहिए।

3. शुभ, अशुभ तथा सर्वोच्च या परम शुभ

जिस वस्तु से हमारी इच्छा की पूर्ति होती है, उसको हम शुभ कहते हैं। स्वास्थ्य, धन, ज्ञान, संस्कृति आदि शुभ हैं। 'गुड' (Good) शब्द की उत्पत्ति, जर्मन शब्द 'गुट' (Gut) से हुई है जिसका अर्थ होता है किसी उद्देश्य में सहायक

होना। अतः शुभ वह है जो किसी लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है। जो चीजें शारीरिक उद्देश्य या आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होती हैं उन्हें शारीरिक शुभ कहते हैं। जो चीजें आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, उन्हें आर्थिक शुभ कहते हैं। जो सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, उन्हें हम सामाजिक शुभ कहते हैं। जो पदार्थ नैतिक उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है, उसे नैतिक दृष्टि से शुभ कहा जाता है। अशुभ वह है जो उद्देश्य की पूर्ति में बाधक होता है। जो नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति में बाधक होता है, उसे नैतिक दृष्टि से अशुभ कहते हैं।

'शुभ' और 'अशुभ' शब्दों का व्यवहार साध्य तथा साधन दोनों रूप में होता है। मनुष्य सुख की कामना करता है। अतः सुख शुभ हुआ। सुख प्राप्ति में धन एक साधन है। अतः धन भी शुभ हुआ। पर सुख लक्ष्य या साध्य रूप में शुभ है तथा धन साधन रूप में।

इस तरह शुभ दो तरह का होता है—सापेक्ष तथा निरपेक्ष या सर्वोच्च। सापेक्ष शुभ वह है जिसका व्यवहार साधन के रूप में भी होता है। जो शुभ अन्य लक्ष्य की प्राप्ति में साधन बन जाता है, उसे सापेक्ष शुभ कहते हैं। यथा, परिश्रम करना परीक्षा पास करने का साधन है, नौकरी करना धन कमाने का आदि। ये सभी सापेक्ष शुभ हैं। निरपेक्ष या सर्वोच्च शुभ उसे कहते हैं जो सदा लक्ष्य रूप में रहता है, कभी भी साधन रूप में नहीं रहता। सर्वोच्च शुभ सर्वोच्च लक्ष्य होता है। इससे उच्चतर कोई लक्ष्य नहीं होता जिसकी प्राप्ति में यह साधन हो सके। सुख प्राप्त करना सर्वोच्च शुभ है क्योंकि यह किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति का कभी साधन नहीं होता। यह अन्तिम लक्ष्य है। यह स्वतः मूल्यवान है। सुख, हम सुख के लिए ही चाहते हैं, अन्य किसी वस्तु के लिए नहीं। दूसरी वस्तुओं का मूल्य बाह्य है, क्योंकि वे मूल्यवान् इसलिए हैं कि अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक हैं। वे स्वतः मूल्यवान् नहीं होते। सर्वोच्च शुभ परम शुभ है। यह अपने आप में शुभ है। यह मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

इस तरह हम पाते हैं कि मानव-जीवन में साधन और लक्ष्य का तारतम्य है। इस शृंखला का अन्त जिस लक्ष्य में होता है, उसे ही चरम लक्ष्य या सर्वोच्च-शुभ कहते हैं। मानव के सभी ऐच्छिक कर्म उसी अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं। यदि यह चरम लक्ष्य न हो तो मानव के कर्म लक्ष्यहीन हो जाते हैं। मनुष्य के जीवन में एक चरम आदर्श का होना आवश्यक है जिसकी प्राप्ति के लिए वह अनवरत प्रयास करता रहे। नैतिक नियमों के पालन से ही उस परम आदर्श की प्राप्ति सम्भव है। सर्वोच्च शुभ के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत

हैं। कोई नैतिक चिन्तक सुख को सर्वोच्च शुभ मानते हैं तो कोई आत्मपूर्णता को तथा कोई आत्म लाभ को। सभी अपने सर्वोच्च शुभ को प्राप्त करने के अलग-अलग नियम बतलाते हैं।

4. उचित और शुभ का सम्बन्ध

हम लोग देख चुके हैं कि उचित का अर्थ है नैतिक नियम के अनुकूल होना तथा अनुचित का नैतिक नियम के अनुकूल न होना। नैतिक नियम सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति का साधन है। अतः उचित शुभ की प्राप्ति का साधन है। उचित कर्म वह है जो शुभ की प्राप्ति में सहायक होता है और अनुचित कर्म वह है जो शुभ की प्राप्ति में बाधक होता है। उचित कर्म से ही मानव अपने अन्तिम लक्ष्य या सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति कर सकता है।

उचित शब्द का प्रयोग सदा साधन के लिए होता है, पर शुभ का व्यवहार साधन तथा लक्ष्य दोनों के लिए होता है। प्रत्येक सापेक्ष शुभ उच्चतर शुभ की प्राप्ति का साधन हो जाता है। अतः सापेक्ष शुभ को उचित भी कहा जा सकता है। इस अर्थ में शुभ को उचित कहा जा सकता है तथा उचित को शुभ कहा जा सकता है। सर्वोच्च शुभ सदा लक्ष्य ही रहता है, कभी भी साधन नहीं होता। अतः इसे सदा शुभ ही कहा जाता है। इसे उचित नहीं कहा जा सकता। इसका निष्कर्ष यह होता है कि उचित का प्रयोग साधन के लिए होता है तथा शुभ का प्रयोग साधन तथा लक्ष्य दोनों के लिए होता है। पर यह बात सिर्फ सापेक्ष शुभ के लिए सही है। सर्वोच्च शुभ कभी भी साधन नहीं होता। परम शुभ एक आदर्श है जिसकी सिद्धि अन्तरात्मा की सिद्धि के लिए आवश्यक है।

कुछ विद्वान् उचित को लक्ष्य मानते हैं। उनके अनुसार नैतिक नियम का पालन करना ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है। उनके लिए नैतिक नियम स्वयं लक्ष्य है। वह किसी अन्य लक्ष्य या शुभ की प्राप्ति का साधन नहीं है। उनके मत को वैधानिक मत कहते हैं। कुछ ने राजनैतिक नियमों को कुछ ने सामाजिक नियमों को तथा कुछ ने धार्मिक नियमों को नैतिक नियम बतलाया है।

वैसे विद्वान् जो उचित को लक्ष्य नहीं बल्कि शुभ की प्राप्ति का साधन मानते हैं, प्रयोजनवादी कहलाते हैं। इन लोगों के अनुसार मानव-जीवन के सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति में जो कर्म सहायक होता है, उसे उचित कहते हैं और जो कर्म बाधक होता है, उसे अनुचित कहते हैं। इन लोगों के अनुसार उचित कर्म वह नहीं है जो केवल नैतिक नियम के अनुकूल हो जैसा वैधानिक मत वाले मानते

हैं। प्रयोजनवादियों के अनुसार वही कर्म उचित होगा जो सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति में सहायक हो।

5. अधिकार एवं कर्त्तव्य

कर्त्तव्य का अर्थ है करने योग्य (कर्त्तुं योग्यं कर्त्तव्यम्), अर्थात् जो करना चाहिए। कर्त्तव्य को अंग्रेजी में 'ड्युटी' (Duty) कहते हैं, जिसका अर्थ होता है 'जो मनुष्य करने को बाध्य हो' (ह्वाट इज ड्यु What is due)। दूसरे शब्दों में, विवेकशील तथा नैतिक प्राणी होने के नाते जो हमें करना चाहिए, उसे ही कर्त्तव्य कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य के अपने प्रति, समाज के प्रति तथा अन्य लोगों के प्रति कुछ कर्त्तव्य होते हैं। अपने प्रति, परिवार के प्रति, पड़ोसी के प्रति तथा सम्पूर्ण मानवता के लिए हर मनुष्य को कुछ करना पड़ता है। अधिकार वह है जिसका मनुष्य दावा कर सके। हर व्यक्ति को समाज द्वारा कुछ अधिकार भी प्राप्त है। यदि उसका दूसरे मनुष्यों के प्रति कुछ कर्त्तव्य है तो दूसरे मनुष्यों का भी उसके प्रति कुछ कर्त्तव्य है। यही कर्त्तव्य उस व्यक्ति का अधिकार हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि कर्त्तव्य और अधिकार सापेक्ष हैं। जो हमारा कर्त्तव्य है वह अन्य मनुष्यों का अधिकार है तथा जो अन्य मनुष्यों का कर्त्तव्य है वह हमारा अधिकार है। यदि पिता का कर्त्तव्य है पुत्र का लालन-पालन करना तथा शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करना तो पुत्र का अधिकार है, वे सुविधाएँ प्राप्त करना। पुनः यदि पिता का पुत्र के प्रति यह कर्त्तव्य है तो पुत्र का भी पिता के प्रति आदर दिखलाना कर्त्तव्य हो जाता है और पिता का वह (आदर पाना) पुत्र पर अधिकार हो जाता है।

आत्म-रक्षा तथा आत्म-विकास का अधिकार ही मनुष्य का सबसे मौलिक अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी रक्षा कर सके। यह अधिकार दूसरे व्यक्तियों के लिए कर्त्तव्य बन जाता है कि वे उसकी जान की रक्षा में सहायक हों, बाधक नहीं। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपना विकास कर सके। यह अधिकार अन्य व्यक्तियों के लिए कर्त्तव्य का रूप ले लेता है कि वे उसके सर्वांगीण विकास में सहायक हों, बाधक नहीं। यह आत्म-विकास का अधिकार हर व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। अपनी इच्छा से जिस दिशा में चाहे वह अपना विकास कर सकता है। शर्त यही है कि उसका कार्य समाज के लिए अहितकर न हो। अपने परिश्रम के फल के उपभोग का अधिकार हर व्यक्ति को प्राप्त है। संक्षेप में, हर व्यक्ति को आत्मसिद्धि का अधिकार प्राप्त है।

प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि वह समाज में लक्ष्य या साध्य के रूप में

लिया जाए न कि साधन के रूप में। इसी तरह उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरों को भी साध्य के रूप में ही ले न कि साधन के रूप में।[1] अधिकार और कर्त्तव्य की उत्पत्ति मनुष्य के व्यक्तित्व एवं मानव-समाज के स्वरूप से ही होती है। मनुष्य एक व्यक्ति हैं, अर्थात् एक आत्म-चेतन तथा एक आत्म-निर्धारक प्राणी है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसका अस्तित्व स्वयं अपने लिए है, अर्थात् वह स्वयं अपना लक्ष्य है। इसलिए उसके कुछ मौलिक अधिकार हैं। पर मानव की स्वतन्त्रता सीमित है। वह समाज का एक अंग है। अतः उसका अस्तित्व केवल अपने लिए नहीं बल्कि समाज के अन्य सदस्यों के लिए तथा सम्पूर्ण मानवता के लिए भी है। इसी कारण उसके कुछ कर्त्तव्य भी हो जाते हैं। समाज के विभिन्न व्यक्तियों के साथ मनुष्य का विभिन्न तरह का सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध के अनुसार ही उनके प्रति उसके भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य होते हैं। यथा माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि के प्रति सम्बन्ध के अनुकूल ही मनुष्य के कर्त्तव्य होते हैं। सम्पूर्ण समाज के प्रति व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है।

समाज के कारण ही व्यक्ति जीता है और विकसित होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समाज के कारण ही मनुष्य, मनुष्य बन जाता है। इसी कारण अरस्तू ने कहा था कि समाज से अलग रहने वाला प्राणी पशु या देवता हो सकता है, मनुष्य नहीं। अतः समाज के अभ्युदय एवं नव-निर्माण में सक्रिय सहयोग देना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। अपने अधिकार तथा कर्त्तव्य के सही उपयोग से मनुष्य को एक अपूर्व शक्ति तथा आनन्द मिलता है तथा उनके गलत प्रयोग से उसे अशान्ति तथा आत्म-क्लेश होता है। मनुष्य अपने अधिकारों का हकदार तभी है जब वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को सिर्फ अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखना चाहिए। यदि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तो उसके अधिकार उसे सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। महात्मा गाँधी सदा इस बात पर जोर दिया करते थे कि मनुष्य को सिर्फ अपने कर्त्तव्य-पालन में सचेष्ट रहने की जरूरत है। उसके अधिकार तो स्वयं दौड़ कर उसके पास आ जाएँगे। ऐसा करने से ही रामराज्य की स्थापना हो सकती है। पर यदि हर व्यक्ति अपने अधिकार की ही बात सोचेगा और कर्त्तव्य की उपेक्षा करेगा तो वैसे ही समाज की स्थापना होगी जैसा समाज आज हमें प्राप्त है।

6. कर्त्तव्य और नैतिक दायित्व

हम लोग ऊपर देख चुके हैं कि कर्त्तव्य का अर्थ है 'जो करना चाहिए'। जो

1. (a) "Be a Person and respect others as Persons." (b) "Act so as to treat humanity, whether your own Person or that of others, always as an end, never merely as a means."—Kant

कर्म नैतिक नियम के अनुकूल हैं वे ही हमारे कर्त्तव्य हैं। अर्थात् हमें उन्हीं कर्मों को करना चाहिए जो नैतिक नियम के अनुकूल हैं तथा जिससे सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति में सहायता होती है। जब मनुष्य समझ जाता है कि अमुक कर्म हमारा कर्त्तव्य है तब उसे उसको करने की बाध्यता महसूस होती है, अर्थात् वह ऐसा अनुभव करता है कि इस कर्म को उसे अवश्य ही करना चाहिए। यदि वह उस कर्म को करता है तो उसे आत्म-शक्ति एवं आनन्द मिलता है। यदि उसे नहीं करता है तो आत्म-क्लेश होता है। कर्त्तव्य को करने की इस बाध्यता को ही नैतिक दायित्व कहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि नैतिक बाध्यता बाहर से लादी जाती है। पर वास्तव में, यह बाध्यता आन्तरिक होती है। मनुष्य कर्त्तव्य करने की आन्तरिक बाध्यता महसूस करता है। सुकरात ने कहा था, जब मनुष्य यह जान जाता है कि अमुक परिस्थितियों में उसका कर्त्तव्य अमुक है तब वह उसे ही करता है। यद्यपि उनका यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य अपने कर्त्तव्य को जानकर भी उसे नहीं करता। तथापि यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि अपने कर्त्तव्य का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य उसे करने की नैतिक बाध्यता महसूस करता है। इसी नैतिक बाध्यता को दायित्व कहते हैं।

7. पुण्य और कर्त्तव्य

हम ऊपर देख चुके हैं कि उन कर्मों को करना हमारा कर्त्तव्य है जो नैतिक नियम के अनुकूल हैं। साथ-ही-साथ वैसे कर्मों को नहीं करना भी हमारा कर्त्तव्य है जो नैतिक नियम के अनुकूल नहीं हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि कर्त्तव्य-पालन की नैतिक बाध्यता हम महसूस करते हैं। कर्त्तव्य को बार-बार करने से मनुष्य एक नैतिक गुण अर्जित करता है, जिसे पुण्य कहते हैं। अकर्त्तव्य को बार-बार करने से दुर्गुण का अर्जन होता है, जिसे पाप कहते हैं। अतः पुण्य, पाप जन्मजात नहीं होता। यह अभ्यास से प्राप्त किया जाता है। अच्छे कर्मों के अभ्यास से अच्छे चरित्र का निर्माण होता है तथा बुरे कर्मों के अभ्यास से बुरे चरित्र का। अतः चरित्र की उत्कृष्टता पुण्य है तथा चरित्र की निकृष्टता पाप है। कर्त्तव्य बाह्य कर्मों का सूचक है पर पुण्य आन्तरिक चरित्र का। कर्त्तव्य विशेष कर्मों की ओर संकेत करता है और पुण्य स्थायी अर्जित प्रवृत्ति या चरित्र की ओर। पुण्य से युक्त व्यक्ति को ही धार्मिक कहते हैं। धार्मिक व्यक्ति वह नहीं है जो कभी कर्त्तव्य करता है और कभी नहीं, बल्कि वह व्यक्ति धार्मिक कहलाता है, जिसे अच्छे कर्मों को करने का अभ्यास हो गया है। उसे एक बार भी बुरे कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं है। कहा भी गया है 'धर्म से अवकाश नहीं होता'।

कभी-कभी निश्चित कर्मों को कर्त्तव्य तथा अनिश्चित कर्मों को पुण्य कहा जाता है। प्रो० मैकेन्जी ने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा कि यदि

कर्त्तव्य और पुण्य के इस अन्तर को स्वीकार किया जाए तो धार्मिक व्यक्ति हम उसे कहेंगे, जो अपने कर्त्तव्य से कुछ अधिक करता है।[1] प्रो० एलेक्जेन्डर ने भी कहा है कि तब तो पुण्य की खास विशेषता कर्त्तव्य से परे होने में दीख पड़ती है। एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। जो मनुष्य नियमित रूप से सरकार को कर देता है वह अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है। पर जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति सरकार को दान देता है, वह कर्त्तव्य से अधिक कर रहा है। उसका यही कर्म पुण्य है।

नैतिक दृष्टिकोण से कर्त्तव्य और पुण्य के बीच का यह अन्तर अमान्य है। सभी कर्त्तव्य निश्चित ही होते हैं। कुछ कर्त्तव्य अनिश्चित इसलिए लगते हैं क्योंकि हम उन विशेष परिस्थितियों पर ध्यान नहीं देते या समझ नहीं पाते जिनमें कर्त्तव्य से बाहर कुछ अधिक का होना, कर्त्तव्य को ही सूचित करता है। हर व्यक्ति के कर्त्तव्य अलग-अलग होते हैं। एक ही व्यक्ति के कर्त्तव्य विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। अपने कर्त्तव्य का ज्ञान मनुष्य के नैतिक विकास पर निर्भर करता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा समझता है कि मेरे पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति है और उसे अपने पास रखना महात्मा गाँधी के अनुसार, अनैतिक है और वह उसे सरकार को दान दे देता है, तो वह कर्त्तव्य से अधिक नहीं करता बल्कि कर्त्तव्य ही करता है। साधारण मनुष्यों का नैतिक विकास उस स्तर तक नहीं हो सका है जिस स्तर तक उस व्यक्ति का हुआ है। अतः हम उसके कार्य को कर्त्तव्य से अधिक कहते हैं। इसी तरह कोई व्यक्ति संकटकालीन स्थिति में देशप्रेम की भावना से प्रेरित होकर सम्पत्ति को दान देता है तो वह कर्त्तव्य ही करता है, उससे अधिक नहीं। अतः कर्त्तव्य से अधिक करने की बात असंगत है। यह हमारे अज्ञान का परिचायक है। अतः निश्चित कर्म को कर्त्तव्य एवं अनिश्चित को पुण्य कहना गलत है। सभी कर्त्तव्य निश्चित हैं। उन कर्त्तव्यों के अभ्यास से जो नैतिक गुण उत्पन्न होता है, उसे हम पुण्य कहते हैं।

8. उपयुक्तता, सद्गुण और दोष

कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य के आचरण से मनुष्य जिस फल को अर्जित करता है उसे उपयुक्तता कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—सद्गुण और दोष।

1. "Sometimes those obligations which are capable of precise difinition are called duties; while that part of good conduct which cannot be so definitely formulated in closed under the head of virtue as if the virtuous man were one who did more than his duty, more than could be reasonable demanded of him."
—Mackenize : A Manual of Ethics, P. 321.

सद्‌गुण भावात्मक है तथा दोष निषेधात्मक। सद्‌गुण चरित्र की उत्कृष्टता का चिह्न है तथा दोष चरित्र के नैतिक पतन का। जब मनुष्य स्वेच्छा से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है तो वह सद्‌गुण अर्जित करता है। जब वह स्वेच्छा से नैतिक नियमों का उल्लंघन करता है तो वह दोष अर्जित करता है। सद्‌गुण प्राप्त करने से उसके चरित्र का नैतिक विकास होता है तथा दोष से चरित्र का नैतिक ह्रास। इस तरह सद्‌गुण और दोष चरित्र के गुण हैं। यदि हम कर्त्तव्य-पालन द्वारा सद्‌गुण अर्जित करते हैं तो हमें सन्तोष होता है। गलत कार्य करने से हमें पश्चात्ताप होता है क्योंकि हम दोष का अर्जन करते हैं। कभी-कभी उचित तथा अनुचित कार्य को भी क्रमशः सद्‌गुण एवं दोष कहते हैं। नैतिक मापदण्ड के अनुकूल कर्म को सत्कर्म एवं उसके विरुद्ध कर्म को दुष्कर्म कहते हैं। पर यह हमें याद रखना चाहिए कि सद्‌गुण तथा दोष दोनों उपयुक्तता ही हैं, एक भावात्मक तथा दूसरा निषेधात्मक। सद्‌गुण आत्म सिद्धि में सहायक होता है और दोष बाधक। इस सम्बन्ध में प्रो० पॉल जेनेट का कहना है कि इच्छापूर्वक आन्तरिक उत्कर्ष की वृद्धि का नाम सद्‌गुण है और इसके क्षय का नाम दोष। ये एक प्रकार से नैतिक मूलधन में वृद्धि और ह्रास के सूचक हैं। दोष का अर्थ सद्‌गुण का अभाव नहीं है। सद्‌गुण के अभाव का अर्थ है कि हम न तो उचित करते हैं और न अनुचित ही। पर दोष तो वास्तविक ह्रास है। यह नैतिक मूल्य के क्षय का सूचक है।

सद्‌गुण और दोष की मात्राएँ होती हैं। जितनी ही अधिक वृद्धि नैतिक मूलधन में होती है उतना ही अधिक सद्‌गुण का अर्जन होता है। कांट और मार्टिन्यू का कहना है कि जितना ही अधिक इच्छाओं एवं स्वार्थों पर हम विजय प्राप्त करते हैं उतना ही अधिक सद्‌गुण हम अर्जित करते है। कांट कहते हैं कि इच्छा एवं कर्त्तव्य के बीच सदा संघर्ष होता रहता है। इच्छा जितनी ही उत्कृष्ट होगी, स्वार्थ तथा प्रलोभन जितना ही प्रबल होगा, उन पर विजय पाने पर उतना ही सद्‌गुण होगा। इच्छा, राग, द्वेष तथा प्रलोभन की तीव्रता जितनी ही कम होगी तथा उनका दमन जितना ही कम होगा उतना ही कम सद्‌गुण होगा।

पर यह विचार अमान्य है। इसके अनुसार सद्‌गुण अर्जित करने के पहले कुत्सित विचारों का उदय होना आवश्यक है। अतः अपने पड़ोसी की भलाई करने के पहले उससे घृणा करना आवश्यक है। यदि प्रेम की भावना से पड़ोसी की भलाई की जाये तो उसमें थोड़ा सद्‌गुण होगा या बिल्कुल ही नहीं। पर यह विचार स्पष्टतः अमान्य है। यह सही है कि राग-द्वेषों के दमन से सद्‌गुण होता है। पर सद्‌गुण अर्जित करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि इच्छा एवं कर्त्तव्य में संघर्ष हो। यह भी आवश्यक नहीं है कि बुरे विचार अवश्य उठें तथा उनका दमन हो।

ऐसे व्यक्ति जिन्होंने संयम के आधार पर अपनी निम्न आत्मा पर विजय प्राप्त कर ली है उनके लिए कर्त्तव्य एवं इच्छा में संघर्ष होना अनिवार्य नहीं है। उनमें बुरे विचार उठते ही नहीं। वे स्वाभाविक रूप से शुभ कर्म करते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति साधारण व्यक्ति से श्रेष्ठ हैं और उनमें अधिक सद्‌गुण होता है।

कांट का कहना है कि पूर्ण बाध्यतामूलक कर्त्तव्यों की अपेक्षा अपूर्ण बाध्यतामूलक कर्त्तव्यों के करने से अधिक सदगुण प्राप्त होता है। पूर्ण बाध्यतामूलक कर्त्तव्य निश्चित कर्त्तव्य है तथा अपूर्ण बाध्यतामूलक कर्त्तव्य अनिश्चित कर्त्तव्य। निश्चित कर्त्तव्य बाह्य शक्तियों के भय से किये जाते हैं, अनिश्चित कर्त्तव्य में किसी बाह्य शक्ति के दण्ड का भय नहीं रहता है। सरकार को कर देना निश्चित कर्त्तव्य है। इसके पालन से यह नहीं पता चलता कि व्यक्ति राज्य के दण्ड के भय से कर देता है कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर स्वेच्छया। पर यदि कोई व्यक्ति अपनी जान को खतरे में डालकर किसी व्यक्ति की जान बचाता है तो ऐसा वह स्वेच्छा से करता है; किसी बाह्य शक्ति के दबाव या भय से नहीं। उसका यह कर्म अनिश्चित कर्त्तव्य कहलाता है। कांट का मत है कि स्वेच्छापूर्वक किए गए कर्त्तव्यों से अधिक सद्‌गुण होता है।

कांट के इस मत के खण्डन में यह कहा जा सकता है कि निश्चित-अनिश्चित कर्त्तव्य या पूर्ण बाध्यतामूलक तथा अपूर्ण बाध्यतामूलक कर्त्तव्य में भेद करना वैधानिक हो सकता है, नैतिक नहीं। हमारे कर्त्तव्य सदा निश्चित होते हैं। कुछ कर्त्तव्यों का निश्चित दीख पड़ना हमारे अज्ञान का परिणाम है।

वास्तव में, सद्‌गुण तथा दोष की मात्रा कर्म के संकल्प की अच्छाई या बुराई पर निर्भर करती है। हमारा संकल्प जितना अच्छा होगा उसके द्वारा किए गए कर्मों से उतना ही सद्‌गुण प्राप्त होगा। कर्म का संकल्प जितना बुरा होगा उसी मात्रा में उससे दोष का अर्जन होगा। कर्त्तव्य के पालन में जितना ही अधिक स्वार्थों का बलिदान होगा उतना ही अधिक सद्‌गुण होगा और जितना ही कम स्वार्थ का बलिदान होगा उतना ही कम सद्‌गुण होगा। इसी तरह जितने बड़े स्वार्थ की पूर्ति के लिए गलत काम किया जाएगा उतना ही अधिक दोष होगा और जितने थोड़े स्वार्थ के लिए गलत काम किया जाएगा उतना ही कम दोष होगा। राष्ट्रीय रक्षाकोष में दान देनेवालों की अपेक्षा उसको अधिक सद्‌गुण प्राप्त है जो देश की रक्षा के लिए अपनी जान दे देता है। इसी तरह धन अर्जित करने के लिए चोरी तथा डकैती करने वालों की अपेक्षा उस व्यक्ति को कम दोष होता है जो प्राण-रक्षा के लिए चोरी करता है।

9. गुण-दोष और उचित-अनुचित

नैतिक नियम के अनुकूल कर्म को उचित तथा नैतिक नियम के प्रतिकूल कर्म को अनुचित कहते हैं। अतः उचित तथा अनुचित शब्द कर्मों के विशेषण है। पर सद्गुण तथा दोष चरित्र की विशेषताएँ हैं। उचित कर्म करने से चरित्र का जो नैतिक उत्कर्ष होता है, उसे सद्गुण कहते हैं तथा गलत कर्म करने से जो चरित्र का नैतिक पतन होता है, उसे दोष। अतः गुण-दोष, उचित-अनुचित से भिन्न है। उचित तथा अनुचित कर्मों के करने से जो उपयुक्तता प्राप्त होती है, उसे क्रमशः सद्गुण तथा दोष कहते हैं। कभी-कभी हम कर्मों को भी गुण तथा दोष के विशेषण से अलंकृत करते हैं।

उचित तथा अनुचित की मात्राएँ नहीं होतीं जब कि सद्गुण तथा दोष की मात्राएँ होती हैं। किसी भी परिस्थिति विशेष में कर्म या तो उचित होता है या अनुचित, कम या अधिक उचित या अनुचित नहीं होता। सद्गुण और दोष नैतिक पूर्णता के पथ पर क्रमशः आगे बढ़ने या पीछे हटने के चिह्न है। अतः कोई भी व्यक्ति अधिक या कम आगे बढ़ सकता है अथवा अधिक या कम पीछे हट सकता है। अतः सद्गुण तथा दोष की मात्राएँ होती हैं।

10 सद्गुण और पुण्य

अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्य के पालन से जो स्थायी आन्तरिक प्रवृत्ति होती है, उसे पुण्य कहा जाता है। उचित कर्म करने से जो उपयुक्तता प्राप्त होती है, उसे सद्गुण कहते हैं। सद्गुण के द्वारा ही अच्छी स्थायी प्रवृत्ति या पुण्य प्राप्त होता है। अतः उचित कर्म से सद्गुण प्राप्त होता है और सद्गुण से पुण्य। सद्गुण आत्मा के नैतिक विकास का सूचक है, जबकि पुण्य इस प्रयत्न के परिणाम का। चरित्र का जितना ही अधिक नैतिक विकास होता है उतना ही अधिक सद्गुण होता है और जितना ही अधिक सद्गुण का अर्जन होता है, उतना ही अधिक पुण्य होता है।

11. आज्ञाकारिता और अनाज्ञाकारिता

आचारशास्त्र में आज्ञाकारिता का अर्थ है, कर्त्तव्यपराणता और अनाज्ञाकारिता का अर्थ है, इच्छापूर्वक कर्त्तव्य की अवहेलना। इस तरह आज्ञाकारिता का अर्थ है, स्वेच्छापूर्वक नैतिक दायित्व को पूर्ण करना। इसके लिए संकल्प-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। कर्त्तव्य-पालन से पुण्य उत्पन्न होता है और पुण्य उत्पन्न होने से कर्त्तव्य-पालन स्वभाव बन जाता है। अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्य-पालन से अच्छे चरित्र का निर्माण होता है।

12. कर्त्तव्य-परायणता और अति कर्त्तव्य-परायणता

कर्त्तव्य-परायणता का अर्थ है अन्तःकरण के आदेशों के पालन का अभ्यास। सच्चा कर्त्तव्य-परायण मनुष्य वह है जो सदा अन्तःकरण के आदेशों का पालन

करता है। वह न्यायी, ईमानदार, कर्त्तव्य-परायण तथा नैतिक दायित्व को समझने वाला होता है। हर परिस्थिति में वह अपने कर्त्तव्य का निर्णय वस्तुस्थिति तथा परिस्थिति के अध्ययन के बाद ही करता है। वह आत्म-विश्लेषण करता है और यह जानने की कोशिश करता है कि उसके साध्य, साधन, प्रयोजन आदि उचित हैं या नहीं। वह कर्म के अभिप्राय, प्रयोजन, लक्ष्य, साधन आदि पर विचार करता है और तब उन्हें उचित या अनुचित घोषित करता है। वह अपने चरित्र की मीमांसा स्वयं करता है। वह अपनी उपयुक्तता के अनुसार अपने सभी कर्त्तव्यों का पालन प्रसन्नतापूर्वक करता है।

अति कर्त्तव्य परायण मनुष्य वह है जो आवश्यकता से अधिक विचार करता है। अपनी इच्छाओं, प्रयोजनों तथा अभिप्रायों पर वह इतनी सूक्ष्मता से विचार करता है कि विचार करने में ही रह जाता है, कर्त्तव्य का पालन नहीं कर पाता। वस्तुस्थितियों तथा परिस्थितियों का वह अति विश्लेषण करता है। वह विश्लेषण करने में ही रह जाता है और कर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर पाता। अति कर्त्तव्य-परायणता आलस्य तथा अनिश्चयता का द्योतक है। यह कर्त्तव्य की अवहेलना के लिए एक बहाना भी प्रस्तुत करता है। जिस बात का निर्णय कर्त्तव्य-परायण मनुष्य क्षण भर में कर लेता है, उसी बात का निर्णय अति कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति के लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है। अति कर्त्तव्य-परायणता मस्तिष्क की अच्छी अवस्था नहीं है। यह कोई सदगुण नहीं है। इसका तिरस्कार ही नैतिक जीवन के लिए श्रेयष्कर है। कहा भी गया है, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। अतः नैतिक जीवन के लिए कर्त्तव्य-परायणता आवश्यक है, अति कर्त्तव्य-परायणता नहीं। अति कर्त्तव्य-परायणता सदा त्याज्य है, क्योंकि यह अच्छे कर्म के करने में बाधक हैं। हम केवल विचार ही करते रह जाते हैं और कर्त्तव्य का पालन नहीं कर पाते।

13. कर्त्तव्य-द्वन्द्व

कभी-कभी विभिन्न कर्त्तव्यों के बीच विरोध दीख पड़ता है। न्याय तथा दयालुता में भी कभी-कभी विरोध उत्पन्न हो जाता है और मनुष्य कठिनाई में पड़ जाता है कि वह न्याय करे या दया। जज को कभी-कभी किसी अपराधी को दण्ड देते दया आती है, पर उसे न्याय भी करना है। अतः कर्त्तव्यों के इस विरोध को सुलझाने का प्रयत्न करता है कि इस विशेष परिस्थिति में उसका क्या कर्त्तव्य है, दया करना या न्याय करना। पिता की आज्ञा मानना भी कर्त्तव्य है और न्याय करना भी। जज को न्याय करना है। वह किसी अभियुक्त को सजा के योग्य समझता है, उसके पिता उसे रिहाई करने को कहते हैं। जज के सम्मुख इन कर्त्तव्यों के बीच विरोध प्रतीत होता है। इस निर्णय में उसे कठिनाई

होती है कि वह क्या करे, न्याय या पिता की आज्ञा का पालन। एक दूसरा उदाहरण लें, सत्य बोलना तथा किसी की प्राणरक्षा करना दोनों ही कर्त्तव्य हैं। एक निर्दोष महिला भागती हुई आकर मेरे पास छिप जाती है। कुछ बदमाश उसका पीछा करते हुए आते हैं और हमसे उसके बारे में पूछते हैं। यहाँ कर्त्तव्यों का विरोध उत्पन्न हो जाता है, सत्य बोलें या महिला की रक्षा करें। दैनिक जीवन में इस तरह के विरोध सदा उत्पन्न होते रहते हैं। ध्यान देने में पता चलता है कि कर्त्तव्यों का द्वन्द्व अवास्तविक है। किसी विशेष परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य एक ही होता है। हम ठीक से निर्णय नहीं कर पाते कि हमारा कर्त्तव्य क्या है? विचार करने पर पता चलता है कि महिला की रक्षा करना ही उस परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य है और उसके लिए झूठ बोलना अनैतिक नहीं है। अपराधी को दण्ड देना ही जज का कर्त्तव्य है, पिता की आज्ञा का उल्लंघन अनैतिक नहीं है। प्रो० ग्रीन ने इस विचार को स्वीकार करते हुए कहा है कि प्रत्येक परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य एक ही होता है यद्यपि परिस्थिति इतनी जटिल हो सकती है कि वास्तविक कर्त्तव्य का निर्णय कठिन हो जाता है।[1] पालसन के अनुसार भी कर्त्तव्य का निर्णय वास्तविक परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा ही करना चाहिए।

14. कर्त्तव्य में भेद

1. **निर्धारित तथा अनिर्धारित कर्त्तव्य :** निर्धारित कर्त्तव्य उसे कहते हैं जो बाह्य सत्ता द्वारा व्यक्ति के लिए निर्धारित होता है। अनिर्धारित कर्त्तव्य वह है जो बाह्य सत्ता द्वारा निर्धारित नहीं होता। राज्य द्वारा बनाए गए नियमों का पालन करना निर्धारित कर्त्तव्य के अन्तर्गत आता है। यदि हम राजकीय नियमों का पालन नहीं करते हैं तो हमें दण्ड मिलता है। दान देना, दया करना आदि अनिर्धारित कर्त्तव्य हैं क्योंकि राज्य द्वारा उनका पालन बलपूर्वक नहीं कराया जाता है।

2. **निश्चित तथा अनिश्चित कर्त्तव्य :** निश्चित कर्त्तव्य उसे कहते हैं जो स्पष्ट तथा निश्चित होता है जबकि अनिश्चित कर्त्तव्य अस्पष्ट तथा अनिश्चित होता है। राजकीय नियम निश्चित होते हैं पर अन्तःकरण या मानव के नैतिक स्वभाव द्वारा

1. "There is no such thing really as a conflict of duties. A man's duty under any particular set of circumstances is always one, though the conditions of the case may be so complicated and obscure as to make it difficult to decide what the duty really is." —Green : Prolegomena to Ethics, p. 355.

निर्धारित नियम अनिश्चित होते हैं। अतः इन नियमों का पालन करना अनिश्चित कर्त्तव्य है। कर्ज चुकाना निश्चित कर्त्तव्य है पर दया करना अनिश्चित कर्त्तव्य है।

3. **प्राकृतिक तथा कृत्रिम कर्त्तव्य :** मनुष्य के नैतिक स्वभाव तथा उसकी प्राकृतिक नैतिक बनावट द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य प्राकृतिक कर्त्तव्य कहलाते हैं। पिता-पुत्र के कर्त्तव्य प्राकृतिक कर्त्तव्य हैं। मानव के कृत्रिम सम्बन्धों से उत्पन्न कर्त्तव्य कृत्रिम कर्त्तव्य कहलाते हैं। वकील तथा मुवक्किल, मकान मालिक तथा किरायेदार आदि के पारस्परिक कर्त्तव्य कृत्रिम कर्त्तव्य कहे जाते हैं।

4. **सामान्य तथा विशेष कर्त्तव्य :** सामान्य कर्त्तव्य वे हैं जिनका पालन हर मनुष्य के लिए हर समय कर्त्तव्य है जबकि विशेष कर्त्तव्य विशेष परिस्थितियों तथा विशेष सम्बन्धों पर निर्भर करता है। ये कर्त्तव्य कुछ ही मनुष्यों के कर्त्तव्य हैं। दया, सहानुभूति, न्याय, दान आदि सामान्य कर्त्तव्य हैं तथा शिक्षक और विद्यार्थी, डॉक्टर और रोगी के कर्त्तव्य विशेष कर्त्तव्य कहलाते हैं।

उपर्युक्त कर्त्तव्यों के भेद अमान्य प्रतीत होते हैं। निर्धारित तथा अनिर्धारित कर्त्तव्य का भेद अमान्य है क्योंकि अन्तःकरण या मानव के नैतिक स्वभाव द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य भी कर्त्तव्य है। सभी कर्त्तव्य निर्धारित कर्त्तव्य हैं क्योंकि किसी विशेष परिस्थिति में उनका पालन करना व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य है।

इसी तरह निश्चित तथा अनिश्चित कर्त्तव्य का भेद भी अमान्य है क्योंकि सभी कर्त्तव्य निश्चित होते हैं।

कृत्रिम कर्त्तव्य भी प्राकृतिक ही हैं क्योंकि वे मनुष्य की प्राकृतिक नैतिक चेतना पर निर्भर करते हैं। कोई भी कृत्रिम कर्त्तव्य वास्तविक कर्त्तव्य नहीं है जब तक वह मानव के नैतिक स्वभाव के अनुकूल न हो।

अन्त में, सभी कर्त्तव्य एक दृष्टि से सामान्य हैं तथा दूसरी दृष्टि से विशेष सामान्य; क्योंकि वे मानव के सामान्य नैतिक स्वभाव से उत्पन्न होते हैं और विशेष, क्योंकि वे विशेष परिस्थिति तथा सम्बन्ध पर निर्भर करते हैं।

इस तरह नैतिक दृष्टिकोण से सभी कर्त्तव्य निर्धारित, निश्चित, प्राकृतिक, सामान्य तथा विशेष होते हैं। वे सभी पवित्र हैं तथा उनका पालन सभी मनुष्यों का कर्त्तव्य है।

दसवाँ अध्याय

नैतिक आदर्श या मापदंड

उनका वर्गीकरण

आचारशास्त्र की मुख्य समस्या है मानवीय कर्मों का मूल्यांकन अर्थात् मानवीय कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का निर्धारण। पर मानव के कर्मों को उचित या अनुचित निर्णय करने के लिए एक आदर्श या मापदण्ड की आवश्यकता होती है। इसी मापदंड के आधार पर किसी कर्म को उचित या अनुचित कहा जाता है। अतः आचारशास्त्र की मुख्य समस्या हो जाती है नैतिक आदर्श या मापदंड को स्थिर करना जिसके द्वारा मानवीय कर्मों पर नैतिक निर्णय दिया जा सके। अतः नैतिक आदर्श या मापदंड एक ऐसी तुला है जिसपर कर्मों को तौलकर उन्हें उचित या अनुचित कहा जाता है। इन आदर्शों को स्थिर करना तथा उनके स्वरूप का सम्यक् विवेचन करना ही आचारशास्त्र का प्रमुख विषय है।

नैतिक आदर्श या मापदंड क्या है? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न आचार-शास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से दिया है। कुछ लोग नियम को नैतिक मापदंड मानते हैं। जो कर्म नियम के अनुकूल होगा, वह उचित होगा और जो अनुकूल नहीं होगा, उसे अनुचित कहा जाएगा। नियम दो प्रकार का होता है—बाह्य और आन्तरिक। जो सिद्धान्त बाह्य नियम को नैतिक मापदंड मानता है, उसे बाह्य नियमवाद कहते हैं। जो लोग आन्तरिक नियम को नैतिक मापदण्ड मानते हैं, उनके मत को अन्तःअनुभूतिवाद कहते हैं। कुछ लोग सुख को नैतिक आदर्श मानते हैं। इनके सिद्धान्त को सुखवाद कहते हैं। इस मत के अनुसार जो कर्म सुखप्राप्ति में सहायक है, उसे उचित कहते हैं और जो सुखप्राप्ति में बाधक है, उसे अनुचित कहते हैं। कुछ अन्य आचारशास्त्रियों का कहना है कि जो कर्म पूर्णता प्राप्त करने में सहायक है, उसे शुभ तथा जो बाधक है, उसे अशुभ कहते हैं। इनके सिद्धान्त को पूर्णतावाद कहते हैं।

इन सिद्धान्तों का वर्गीकरण हम इस प्रकार कर सकते हैं। नैतिक मापदंड के सिद्धान्तों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—(1) वैधानिक सिद्धान्त तथा (2) प्रयोजनवादी सिद्धान्त। वैधानिक मत के अनुसार नियम (बाह्य या आन्तरिक) ही नैतिक मापदंड है। प्रयोजनवादी सिद्धान्त शुभ या आत्मा के किसी लक्ष्य को ही अन्तिम नैतिक आदर्श या मापदण्ड मानता है। आत्मा के स्वरूप या स्वभाव के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार हैं। आत्मा सम्बन्धी भिन्न विचारों के कारण

प्रयोजनवादी सिद्धान्त के भी अनेक रूप हो जाते हैं। सुखवाद सुख या ऐन्द्रिय आत्मा की सन्तुष्टि को ही नैतिक आदर्श मानता है। बुद्धिवाद या कठोरतावाद के अनुसार ऐन्द्रिय आत्मा का दमन कर विवेकी आत्मा की सिद्धि नैतिक आदर्श है। पूर्णतावाद के लिए आत्मा की पूर्णता ही अर्थात् विवेक द्वारा पाशविक प्रवृत्तियों एवं इन्द्रियों को नियंत्रित कर आदर्श आत्मा की प्राप्ति ही नैतिक आदर्श है।

आगे चलकर हम नैतिक आदर्श या मापदंड के इन विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या एवं समीक्षा करेंगे और यह दिखलाने की कोशिश करेंगे कि कौन-सा मापदंड सही तथा वास्तविक अन्तिम नैतिक मापदंड के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

बाह्य-नियमवाद

बाह्य-नियमवाद के अनुसार बाह्य नियम नैतिकता का मापदंड है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि हमसे शक्तिशाली किसी बाह्य सत्ता के द्वारा हम पर आरोपित नियम या नियमों की व्यवस्था ही नैतिकता का मापदंड है। उस सत्ता की इच्छा निरपेक्ष समझी जाती है, अर्थात् उसकी आज्ञा का पालन करना हमारा नैतिक कर्त्तव्य है। यदि हम उसके द्वारा आरोपित नियमों का पालन करते हैं तो हमें पुरस्कार मिलता है और यदि पालन नहीं करते तो दंड मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस मत के अनुसार कोई कर्म अपने आप में उचित या अनुचित नहीं होता। यह किसी बाह्य शक्ति के आदेश या इच्छा से ही उचित या अनुचित होता है। जिस कर्म का नियम से संगति होती है वह उचित है, जिसकी असंगति होती है, वह अनुचित होता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उस निरपेक्ष शक्ति की इच्छा और आदेश ही नैतिकता का समुचित मापदंड है। पर प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी सर्वश्रेष्ठ शक्ति है जिसकी इच्छा नैतिक नियम बन जाती है? जिसकी इच्छा कर्मों के औचित्य या अनौचित्य का अन्तिम मापदंड है। कुछ लोगों के अनुसार वह शक्ति ईश्वर है, कुछ लोगों के अनुसार राज्य या सरकार तथा कुछ लोगों के अनुसार समाज है। इस तरह इस सिद्धान्त के तीन रूप हो जाते हैं। एक रूप के अनुसार दैविक नियम ही नैतिक मापदंड हैं। दूसरे के अनुसार राजनैतिक नियम तथा तीसरे के अनुसार सामाजिक नियम ही नैतिक मापदंड हैं। तीनों रूपों में उस उच्चतर बाह्य सत्ता की इच्छा निरपेक्ष है, अर्थात् उसकी इच्छा किसी अन्य सत्ता पर निर्भर नहीं रहती। बाह्य-नियमवाद के इन तीनों रूपों की व्याख्या तथा समीक्षा हम अलग-अलग करेंगे। पर इसके पहले इस मत के प्रति जो सामान्य आक्षेप किये जाते हैं, उनका विवेचन आवश्यक है।

सामान्य आपत्तियाँ

1. बाहर से आरोपित नैतिकता सच्ची नैतिकता नहीं हो सकती है। संकल्प-स्वातन्त्र्य नैतिकता की मौलिक मान्यता है। बाह्य-नियमवाद के अनुसार वह कर्म

उचित है जो बाह्य उच्चतर शक्ति की इच्छा के अनुकूल है। अतः ऐसे कर्मों का करना हमारा कर्त्तव्य है। पर सच्ची नैतिकता के लिए आवश्यक है कि मनुष्य स्वतंत्र इच्छा से अपने कर्त्तव्य का निर्णय करे। वह यह आन्तरिक बाध्यता महसूस करे कि ऐसा करना उसका कर्त्तव्य है। पर इस मत के अनुसार बाह्य शक्ति की आज्ञा का पालन करना ही है, व्यक्ति उसकी करने की नैतिक बाध्यता महसूस करे या नहीं। हमारे कर्मों में नैतिक गुण तभी आते हैं जब हमारी स्वतंत्र इच्छा से किये जाते हैं। अतः बाह्य उच्चतर शक्ति द्वारा निर्मित नियम के अनुकूल होने से हमारे कर्म नैतिक नहीं होते। नैतिकता के साथ 'चाहिए' का भाव रहता है। पर बहिर्गत नियम के साथ 'करना पड़ेगा' का भाव रहता है। अतः बाह्य नियम नैतिकता का सही मापदंड नहीं हो सकता।

2. बाह्य नियम सदा पुरस्कार के प्रलोभन एवं दंड के भय से लागू होता है। पर जो कर्म स्वार्थ की पूर्ति के लिए किया जाता है, वह सच्चा नैतिक कर्म नहीं होता। पुरस्कार के प्रलोभन एवं दंड के भय से किया गया कर्म उचित नहीं है। इसका कारण है कि ऐसे कर्मों द्वारा हमारे चरित्र की अभिव्यक्ति नहीं होती। नैतिक कर्म हमारे अभिप्राय की अभिव्यक्ति करते हैं। पर पुरस्कार एवं दंड के प्रयोजन से किए कर्म हमारे अभिप्राय की अभिव्यक्ति नहीं करते। मान लें कि हमारा बुरा हो, पर दंड के भय से हम उसके अनुकूल कर्म नहीं करते। अतः हमारा कर्म हमारे अभिप्राय की अभिव्यक्ति नहीं करता और इसलिए वह नैतिक नहीं कहा जा सकता। ऐसे कर्मों को स्वार्थी या दूरदर्शी कहा जा सकता है, नैतिक या धार्मिक नहीं। इस तरह बाह्य-नियमवाद में नैतिकता स्वार्थपरता में बदल जाती है तथा धर्म दूरदर्शिता में।

3. बाह्य नियम बाह्य उच्चतर सत्ता की मनमानी इच्छा पर निर्भर है, अतः वह विवेकयुक्त नहीं है। नैतिकता को विवेक पर आधारित होना चाहिए। कोई कर्म उचित इसलिए है कि वह उच्च सत्ता द्वारा उचित माना गया है। पर उच्च सत्ता ने क्यों उस कर्म को उचित माना है ? इसका कोई उत्तर इस मत में नहीं मिलता। अतः बाह्य-नियमवाद हमारी बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं करता। इसलिए वह विवेकयुक्त नहीं है। इस कारण इसे सही मत नहीं माना जा सकता। प्रो० पी० बी० चटर्जी ने कहा है कि नैतिक मापदण्ड को विवेकयुक्त तथा हृदयग्राही होना चाहिए।[1]

1. "It (the moral standard) must be something which commends itself to the reason and the heart."
—P. B. Chatterji : Principles of Ethics, PP. 135-36.

प्राकृतिक नियम

कुछ आचारशास्त्री प्राकृतिक नियम को ही नैतिक नियम मानते हैं। इस मत का समर्थन कुछ प्राचीन आचारशास्त्रियों में मिलता है, विशेषकर कुछ यूनानी आचारशास्त्रियों में। समकालीन आचारशास्त्र में भी कुछ लोगों ने इसका समर्थन किया है। प्रकृति के कई अर्थ होते हैं। विलियम लिली ने इसके तीन अर्थों की ओर संकेत किया है। पर हमें उन सूक्ष्मताओं में नहीं जाना है। साधारण तौर पर हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक नियम वैज्ञानिक नियम है। यह वस्तु विशेषों के सम्बन्ध में सामान्य नियम है, यथा, गुरुत्वाकर्षण का नियम। प्रकृति के जितने भी नियम हैं उनमें से कुछ का उल्लंघन सम्भव नहीं है तथा कुछ के उल्लंघन से बीमारी आदि के रूप में हमें दण्ड मिलता है। इसी कारण प्राकृतिक नियमों का हम पर गहरा असर पड़ता है।

आलोचना

प्राकृतिक नियम भी बाह्य नियम है। अतः बाह्य नियमवाद के प्रति सभी आरोपित आक्षेप इसके विरुद्ध भी सही हैं। पुनः प्राकृतिक नियम यथार्थ से सम्बन्ध रखता है, पर नैतिक नियम आदर्श निर्देशक होता है। इस तरह इस मत में अनेक कठिनाइयाँ हैं, जिनके फलस्वरूप यह नैतिक नियम नहीं माना जा सकता।

दलगत नियम

प्राचीन काल से ही मनुष्य किसी दल का सदस्य रहा है। उस दल का एक मुखिया होता था जिसकी आज्ञा का पालन करना उसके प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक था। मुखिया का आदेश ही नैतिक नियम रहा है।

आलोचना

पर इस तरह के विभिन्न आदेशों को देखने से पता चलता है कि ये कभी-कभी विरोधी होते हैं। दूसरी बात, इस आदेश के साथ भी 'चाहिए' का भाव नहीं रहता जो नैतिकता के लिए आवश्यक है। यह बाह्य नियम भी है। दल का सदस्य नहीं समझ पाता कि उसे क्यों मुखिया के आदेश का पालन करना चाहिए। अतः दलगत नियम विवेकपूर्ण नहीं है। इन्हीं सब दोषों के कारण इसे नैतिक नियम नहीं माना जा सकता।

सामाजिक नियम

कुछ विद्वानों के अनुसार समाज का नियम ही नैतिक मापदण्ड है। जो कर्म सामाजिक नियम के अनुकूल है वह उचित है, और जो अनुकूल नहीं है, वह अनुचित है। समाज जिन कर्मों के करने का आदेश देता है, वे कर्म उचित हैं और जिन्हें

करने से मना करता है, वे अनुचित हैं। समाज के नियम हमें समाज के विचार तथा रीति-रिवाजों के रूप में प्राप्त होते हैं। समाज के प्रचलनों एवं परम्पराओं को जानकर ही हम सामाजिक नियम को जान पाते हैं। इस तरह समाज के विचार रीति-रिवाज एवं प्रचलन ही नैतिकता के मापदण्ड हैं। समाज अपने नियमों का पालन दण्ड के भय एवं पुरस्कार के प्रलोभन से करवाता है। जो व्यक्ति समाज के नियमों का पालन करता है, उसे प्रतिष्ठा, प्रशंसा आदि पुरस्कार के रूप में मिलते हैं। जो नियमों की अवहेलना करते हैं, उन्हें अनेक तरह के दण्ड मिलते हैं यथा निन्दा, आर्थिक दण्ड, सामाजिक बहिष्कार आदि। बेन ने कहा है कि नैतिकता एक सामाजिक संस्था है जिसका संरक्षण समाज की शक्ति और दण्ड-विधान के द्वारा होता है।[1] इस दृष्टि से समाज द्वारा आदिष्ट कर्म नैतिक कर्म है और उसका पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है।

आलोचना

1. सामाजिक नियम समरूप नहीं होते, वे परिवर्तनशील होते हैं। विभिन्न समाज में विभिन्न प्रकार के नियम हैं। पुनः एक ही समाज में समय के परिवर्तन के साथ नियम भी बदलते रहते हैं। जिस नियम को एक समाज में श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, उसी की निन्दा दूसरे समाज में की जाती है। एक ही समाज में जो नियम एक समय पूज्य माना जाता है, वही दूसरे युग में हेय एवं दूषित समझा जाता है। भारत में प्राचीन काल में सती-प्रथा आदि नियम प्रचलित थे। आज वे समाप्त हो गए; क्योंकि आज का समाज उन्हें अच्छा नहीं समझता। पुनः सामाजिक नियमों में कभी-कभी आत्म-विरोध भी पाया जाता है। इस तरह हम पाते हैं कि सामाजिक नियम न तो समरूप है और न उनमें आत्म-संगति ही पायी जाती है। अतः वह नैतिक मापदण्ड नहीं माना जा सकता; क्योंकि नैतिक मापदण्ड को समरूप तथा आत्म-संगत होना चाहिए।

2. समाज में प्रचलनों एवं रीति-रिवाजों की भी नैतिक समीक्षा की जाती है। उन्हें अच्छा या बुरा, नैतिक या अनैतिक कहा जाता है। इस तरह हमें एक दूसरे नैतिक मापदण्ड की आवश्यकता पड़ती हैं, जिसके द्वारा हम सामाजिक नियमों का मूल्यांकन करते हैं। अतः सामाजिक नियम को हम नैतिक मापदण्ड नहीं मान सकते, क्योंकि उसके नैतिक निर्णय के लिए स्वयं एक दूसरे नैतिक मापदण्ड को स्वीकार करना पड़ता है।

1. "Morality is an institution of society maintained by the authority and punishment of society."—Bain.

3. किसी समाज में मनुष्य के सारे बाह्य व्यवहार नहीं जाने जा सकते हैं, आन्तरिक प्रयोजनों तथा अभिप्रायों को जानने की बात ही नहीं उठती। पर नैतिक निर्णय सारे ऐच्छिक कर्मों पर दिया जाता है। हम जानते हैं कि अभिप्राय ही नैतिक निर्णय का उपयुक्त विषय है जिसका ज्ञान समाज के लिए सर्वथा असम्भव है। अतः सामाजिक नियम नैतिकता का मापदण्ड नहीं हो सकता।

4. यदि सामाजिक नियम को नैतिक नियम मान लिया जाए तो नैतिक दृष्टिकोण से किसी समाज को उन्नत तथा किसी समाज को पिछड़ा कहना अर्थहीन होगा। सभी समाज एक ही स्तर पर, नैतिक दृष्टिकोण से होंगे। जिस समाज में हिंसा समाज द्वारा आदिष्ट है तथा जिस समाज में 'अहिंसा परमो धर्मः' है, दोनों ही समान रूप से नैतिक कहे जाएँगे। पर ऐसा स्वीकार करना हास्यास्पद होगा। इस दृष्टि से सामाजिक विकास की सम्भावना नहीं रह जाती। समाज के बहुत से नियम बुरे होते हैं। समाजसुधारक उनके विरुद्ध आवाज उठाते हैं और आगे चलकर उन नियमों में परिवर्तन भी हो जाता है। प्रत्येक समाज के विकास का इतिहास यही बतलाता है। इसी तरह समाज का प्रारम्भिक काल से आज तक विकास होता चला आ रहा है। यदि सामाजिक नियम को ही नैतिक नियम स्वीकार किया जाए तो समाज का विकास रुक जाएगा। अतः सामाजिक नियम नैतिक मापदण्ड नहीं हो सकते।

5. अन्त में, बाह्य-नियमवाद के विरुद्ध किए गए सारे आक्षेप इस सिद्धान्त के विरुद्ध भी लागू हैं।

राजकीय नियम

हॉब्स, बेन आदि विचारकों का मत है कि राज्य का नियम या आदेश ही नैतिक मापदण्ड है। राज्य के द्वारा विभिन्न नियम या कानून बनाए जाते हैं। दण्ड के भय या पुरस्कार के प्रलोभन के कारण लोग उन नियमों का पालन करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जो कर्म राजनैतिक नियम के अनुकूल है वह उचित है और जो अनुकूल नहीं, वह अनुचित! राज्य द्वारा आदिष्ट कर्म उचित तथा इसके विपरीत कर्म अनुचित होते हैं। इस तरह कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय राजकीय नियम द्वारा होता है। इस दृष्टि से राजकीय नियम ही नैतिकता का मापदण्ड है। हॉब्स ने कहा है कि औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी सभी निर्णयों का सर्वोच्च न्यायलय राजकीय नियम हैं।[1] बेन के अनुसार भी सभी हालतों में नैतिक

1. "The civil law alone is the supreme court of appeal in all cases of right and wrong."—Hobbes.

नियम राज्य के नियम के सदृश हैं। राज्य के नियम का पालन करना ही नैतिकता है।

आलोचना

1. राजकीय नियमों का निर्माण जनता की रक्षा एवं सुख के लिए ही होता है। अतः ये लोक-हित के साधन मात्र हैं। इसलिए वे चरम नैतिक मापदण्ड के रूप में स्वीकार नहीं किए जा सकते।

2. राज्य के नियम परिवर्तनशील होते हैं। विभिन्न राज्यों के विभिन्न प्रकार के नियम हैं। लोकतान्त्रिक तथा साम्यवादी राज्य के नियम विभिन्न होते हैं। पुनः एक ही राज्य के नियम विभिन्न काल में बदलते रहते हैं। अतः राज्य के नियम नैतिकता के मापदण्ड नहीं हो सकते; क्योंकि नैतिक मापदण्ड समरूप एवं आत्म-संगत होती है।

3. मानव-जीवन की सभी परिस्थितियों के लिए राज्य नियम नहीं बना सकता। राज्य के नियम हमारे आचरण के खास पक्ष से ही सम्बन्धित हैं। हमारे सभी प्रकार के कर्मों को राज्य नहीं जान सकता। राज्य के नियम हमारे प्रयोजन तथा अभिप्राय की आन्तरिक दुनिया तक नहीं पहुँच सकते। पर कर्म का आन्तरिक पक्ष ही नैतिक दृष्टिकोण से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अतः राज्य का नियम नैतिकता का मापदण्ड नहीं हो सकता।

4. राजकीय नियमों की भी नैतिक आलोचना होती है। उन्हें भी अच्छा-बुरा, नैतिक-अनैतिक कहा जाता है। अतः राज्य के नियम नैतिकता के चरम मापदण्ड नहीं हो सकते। उन नियमों के नैतिक मूल्यांकन के लिए भी उच्चतर नैतिक मापदण्डों की आवश्यकता है। अतः राजकीय नियम अन्तिम नैतिक मापदण्ड नहीं हो सकते।

5. अन्त में, बाह्य-नियमवाद के विरुद्ध किए गए सारे सामान्य आक्षेप इस सिद्धान्त के विरुद्ध भी सही हैं।

दैवी या ईश्वरीय नियम

देकार्त, लॉक, पेली आदि विद्वानों के अनुसार ईश्वरीय नियम ही चरम नैतिक मापदंड हैं। ईश्वर द्वारा आदिष्ट कर्म उचित तथा निषिद्ध कर्म अनुचित हैं। ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा ही औचित्य-अनौचित्य की कसौटी है। उचित-अनुचित ईश्वर की मनमानी इच्छा पर निर्भर है। कोई भी कर्म उचित है; इसलिए वह ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल है, ऐसा समझना गलत है, क्योंकि कोई कर्म ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल है, इसलिए वह उचित है। कोई भी कार्य अनुचित है, इसलिए ईश्वरीय आदेश उसका निषेध करता है। ऐसा समझना गलत है, बल्कि ईश्वरीय आदेश उसका निषेध करता है; इसलिए वह कार्य अनुचित है, अर्थात् ईश्वर का आदेश उचित-अनुचित के विचार पर निर्भर नहीं करता, बल्कि उचित-अनुचित आदि उसके आदेश पर निर्भर करते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान है। वह उचित को अनुचित तथा अनुचित को उचित कर सकता है। ईश्वर अपनी इच्छा को पैगम्बरों या भक्तों द्वारा प्रकट करता है जो उसे धर्मग्रन्थों में लिपिबद्ध करते हैं। हम लोग धर्मग्रन्थों के द्वारा ही ईश्वर की इच्छा को जान पाते हैं।

देकार्त ईश्वर को गणितिक, तार्किक तथा नैतिक—सभी सत्यों का स्रष्टा मानते हैं। लॉक का कहना है कि ईश्वर की इच्छा एवं नियम ही नैतिकता का सही मापदंड है। अपनी इच्छा एवं अपनी आज्ञा का पालन वह पुरस्कार के प्रलोभन एवं दंड के भय से कराता है। यदि हम ईश्वर के आदेश का पालन करते हैं तो हमें स्वर्ग की प्राप्ति होगी जहाँ सुख-ही-सुख है। पर यदि उनके आदेश की अवहेलना करेंगे तो नरक प्राप्त होगा, जहाँ अपार कष्ट है। इस तरह हम पाते हैं कि इस मत के अनुसार दैवी नियम ही नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। इसी नियम से तुलना करके कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय किया जाता है। सुख या दुख की प्राप्ति ईश्वर के हाथों से ही होती है।[1]

आलोचना

1. ईश्वरीय नियम भी बहिर्गत है। अतः बाह्य-नियमवाद के विरुद्ध किए गए सारे आक्षेप इस मत के विरुद्ध भी सही हैं।

2. यह मत ईश्वर को नीति-शून्य बना देता है। इसके अनुसार उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर करते हैं। ईश्वर ही नैतिक गुणों का निर्माता है। अतः वह स्वयं नैतिक नियम से परे है। पर ऐसा ईश्वर भय का विषय है, श्रद्धा का नहीं। यह मत ईश्वर की पूर्णता को भी नष्ट कर देता है। ईश्वर पूर्ण नहीं रह जाता; क्योंकि उसमें नैतिक गुणों का अभाव है।

पर सत्य तो यह है कि ईश्वर पूर्ण है। वह नैतिक पूर्णता की शाश्वत मूर्त्ति है। औचित्य ईश्वर की प्रकृति का एक आवश्यक तत्त्व है। ईश्वर आदेश देता है, इसलिए कोई उचित नहीं है, बल्कि कोई कर्म उचित है, इसलिए वह ईश्वर का आदेश है। जिस कर्म की संगति ईश्वर की आध्यात्मिक प्रकृति से है; वह उचित है, जिसकी संगति नहीं है, वह अनुचित। औचित्य ईश्वर की आवश्यक नैतिक

1. 'Divine law is the true touch-stone of moral rectitude and it is by comparing to this law that men judge of the mor l good or evil of their actions."—Locke.

प्रकृति से निःसृत होता है। इस तरह उचित-अनुचित का भेद ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा पर नहीं; बल्कि उसकी नैतिक प्रकृति पर निर्भर करता है।

3. ईश्वर पूर्ण एवं स्वतन्त्र सत्ता है। उसकी प्रकृति विवेकी है। वह अपने स्वभाव से ही नियंत्रित होता है। विवेकी होने के कारण वह अविवेकपूर्ण तरीके से कार्य नहीं कर सकता। अतः ऐसा कहना कि ईश्वर उचित को अनुचित तथा अनुचित को उचित कर सकता है, गलत है। विरोधी चीजों को वह भी पैदा नहीं कर सकता।

स्वयं देकार्त ईश्वर की पूर्णता एवं सत्यप्रियता को स्वीकार करते हैं। लॉक भी ईश्वर में प्रज्ञा एवं औचित्य का आरोप करते हैं। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर की नैतिक प्रकृति ही नैतिकता का आधार है, उसकी मनम नी इच्छा नहीं।

निष्कर्ष

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि बाह्य नियम नैतिकता का मापदंड नहीं हो सकता। नैतिकता का प्रश्न वहीं उठता है, जहाँ मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कर्म करता है। बाह्य नियम कर्म के आन्तरिक पक्ष का स्पर्श नहीं कर सकता। अतः वह नैतिकता का सही मापदंड नहीं हो सकता है, क्योंकि नैतिकता के लिए कर्म के आन्तरिक पक्ष, अभिप्राय आदि ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

सुखवाद

विषय-प्रवेश

हम लोग पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि नैतिक मापदंड के सम्बन्ध में बाह्यनियमवाद सही नहीं है, क्योंकि यह बाह्य नियम को नैतिकता का चरम मापदंड मानता है। सभ्य समाज में यह सही है कि बाह्य नियम बहुत अंशों में मानव कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करते हैं तथापि हम उन्हें कर्मों के निर्णय का चरम मापदण्ड नहीं स्वीकार कर सकते। प्रत्येक बाह्य नियम किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही होता है, अतः वह साक्षेप है। चरम नैतिक मापदंड का प्रश्न तभी हल हो सकता है जब हम मानव-जीवन के चरम लक्ष्य या परम शुभ को निर्धारित करें। चरम लक्ष्य के आधार पर ही कर्मों को शुभ-अशुभ, उचित अनुचित कहना समुचित होगा। जो कर्म चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है, वह उचित या शुभ है जो इसकी प्राप्ति में बाधक है वह अशुभ या अनुचित। इस तरह जीवन के अन्तिम उद्देश्य को ही बहुत दार्शनिकों ने नैतिकता का चरम मापदंड माना है, उनके मत को प्रयोजनवाद कहते हैं, क्योंकि उनके अनुसार कर्मों का औचित्य-अनौचित्य चरम लक्ष्य की सिद्धि पर ही निर्भर है। अब प्रश्न उठता है कि जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? कुछ लोगों के अनुसार 'सुख' जीवन का चरम लक्ष्य है तथा कुछ दूसरे लोगों के अनुसार 'आत्मपूर्णता'। इस अध्याय में हम सुखवाद की ही व्याख्या करेंगे।

सुखवाद

सुखवाद के अनुसार सुख ही नैतिकता का चरम मापदंड है। सुख ही सर्वोच्च शुभ है। यही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है। यह सिद्धान्त दो प्रकार की मान्यताओं पर आधारित है—तात्त्विक तथा मनोवैज्ञानिक। इसकी तात्त्विक मान्यता है कि मनुष्य इन्द्रिय-प्रधान प्राणी है। वह मानसिक तथा ऐन्द्रिय संवेदना, भाव, प्रवृत्तियों आदि का समूह मात्र है। मानव में विवेक भी पाया जाता है, पर वह भाव तथा संवेगों का दास है। मानव-इन्द्रियों के उद्देश्यों की पूर्ति के सबसे अच्छे साधन को निर्देशित करना ही विवेक का काम है। इसके अनुसार निम्न आत्मा की सन्तुष्टि ही सर्वोच्च शुभ है।

सुखवाद की मनोवैज्ञानिक मान्यता है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से सुख की खोज करता है तथा दुःख से दूर हटना चाहता है। मिल, बेन्थम आदि का यही मत

है। इन लोगों का कहना है कि हमारी इच्छा मुख्य रूप मे सुख की ओर प्रवृत्त रहती है। हम सारी वस्तुओं को सुख के साधन के रूप में ही चाहते हैं। सुख ही हमारा चरम उद्देश्य है।

सुखवाद के इस तरह दो मत हो जाते हैं—(1) मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथा (2) नैतिक सुखवाद। पहले के अनुसार सुख ही प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक तथा वास्तविक ध्येय है। हम सदा स्वाभाविक रूप से सुख की खोज करते हैं तथा दुःख से दूर रहना चाहते हैं, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य का ध्येय है सुख प्राप्त करना। नैतिक सुखवाद का कहना है कि सुख-प्राप्ति ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। इसके अनुसार हम सदा स्वाभाविक रूप से सुख की खोज नहीं करते; पर हमें सुख की खोज करनी चाहिए अर्थात् सुख की प्राप्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार हम सदा सुख की खोज करते हैं पर नैतिक सुखवाद के अनुसार हमें सदा सुख की खोज करनी चाहिए। पहला यथार्थ-सूचक है तथा दूसरा आदर्श-निर्देशक। आचारशास्त्र में हमें यथार्थ से सम्बन्ध नहीं रहता, बल्कि आदर्श से रहता है। अतः नैतिक सुखवाद से ही आचारशास्त्र का सम्बन्ध है। पर हम मनोवैज्ञानिक सुखवाद की भी व्याख्या एवं समीक्षा करेंगे; क्योंकि यह अक्सर नैतिक सुखवाद से मिला रहता है तथा इसका आधार भी माना जाता है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद

मनुष्य को जब किसी अभाव की अनुभूति होती है तो उसमें अभाव-पूर्ति की इच्छा उत्पन्न होती है। वह उस वस्तु को प्राप्त करना चाहता है जिससे उसका अभाव दूर होगा। पर उस वस्तु को प्राप्त करना वह इसलिए चाहता है कि उसकी प्राप्ति से उसे सुख मिलेगा। इच्छा की सन्तुष्टि से ही सुख मिलता है। इस तरह हम सुख प्राप्त करने के लिए ही सारे कर्म करते हैं। इच्छा का अन्तिम लक्ष्य सुख ही है। हमारे कर्मों का स्वाभाविक लक्ष्य एवं प्रेरणा सुख है। सुख-प्राप्ति की भावना ही हमें कर्म करने को प्रेरित करती है तथा हमारा अन्तिम उद्देश्य भी है, सुख प्राप्त करना। हम सदा सुख प्राप्त करना चाहते हैं और दुखः को दूर करना चाहते हैं। इच्छा का स्वाभाविक लक्ष्य सुख ही है। हम सभी वस्तुओं को सुख के साधन के रूप में ही चाहते हैं। यदि किसी वस्तु की कामना हम करते हैं तो केवल इसीलिए कि उससे हमें सुख होगा। हम रुपया इसलिए चाहते हैं कि वह सुख-प्राप्ति का साधन है।

1. "Man's reason is the slave of his passion"—Hume.

कभी-कभी साधन ही चरम उद्देश्य या साध्य का रूप धारण कर लेता है। हम किसी वस्तु की प्राप्ति इसलिए करना चाहते हैं कि उसकी प्राप्ति से हमारे चरम उद्देश्य अर्थात् सुख की प्राप्ति होगी। वस्तु की प्राप्ति हमारा साधन है और सुख की प्राप्ति साध्य। पर कभी-कभी साधन तथा साध्य इस तरह मिले रहते हैं कि हम साध्य को भूलकर साधन में ही लगे रह जाते हैं; यथा, कंजूस व्यक्ति का रुपए के लिए प्रेम। प्रारम्भ में व्यक्ति सुख के लिए रुपए को चाहता है पर बाद में रुपए को रुपए के लिए चाहने लग जाता है, सुख के लिए नहीं। कंजूस को रुपए रखने मात्र से आनन्द मिलता है। यह अपवाद, सामान्य सिद्धान्त के विरोध के रूप में नहीं लिया जा सकता कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से सुख की खोज करता है।

प्राचीन काल से ही कुछ विचारक मनोवैज्ञानिक सुखवाद को मानते रहे हैं। आधुनिक काल में ह्यूम, बेन्थम, मिल, बेन आदि इस मत को स्वीकार करते हैं। बेन्थम ने कहा है कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख रूपी साम्राज्य में डाल दिया है। उसका एकमात्र लक्ष्य है सुख की प्राप्ति एवं दुःख से निवृत्ति।[1] मिल ने भी कहा है कि किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखप्रद समझना, किसी वस्तु से विरक्त होना और उसे दुःखप्रद समझना, दोनों एक ही बातें हैं। किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखप्रद नहीं मानना एक भौतिक तथा तात्त्विक असम्भावना है। इस तरह मिल का निष्कर्ष है कि हम सदा सुख की कामना करते हैं।

आलोचना

1. यह मत अमनोवैज्ञानिक है। सामान्य रूप से हम किसी वस्तु की इच्छा करते हैं और जब वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तब सुखानुभूति होती है। आरम्भ में हम सुख की इच्छा नहीं करते। पहले हम वस्तु की ही इच्छा करते हैं। इच्छा का विश्लेषण भी इसी मत का समर्थन करता है। मानसिक क्रियाओं का मनोवैज्ञानिक क्रम इस प्रकार है—(क) पहले अभाव की अनुभूति होती है, (ख) तब उस वस्तु की इच्छा होती है जिससे अभाव दूर होगा, (ग) तब वस्तु की प्राप्ति की जाती है और (घ) तब वस्तु प्राप्त हो जाने पर सुख की अनुभूति होती है। उदाहरण के लिए—जब हमें भूख लगती है तब हम भोजन की कामना करते हैं और जब भोजन की प्राप्ति हो जाती है तब सुखानुभूति होती है। भूख लगने पर

1. "Nature has placed man under the empire of pleasure and pain. His only object is to seek pleasure and to shun pain."
—Bentham.

हम भोजन की इच्छा करते हैं, सुखानुभूति की नहीं। पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद में मानसिक क्रिया का क्रम उल्टा बताया गया है। इसमें कहा गया है कि पहले हम सुख की इच्छा करते हैं और तब वस्तु की प्राप्ति की इच्छा। इस मत में स्थानान्तर-दोष है। इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह मत दोषपूर्ण है।

2. सुख हमारे कर्मों का निमित्त कारण है, अन्तिम कारण नहीं। सुख प्राप्त करना इच्छा का ध्येय नहीं रहता है। सुख तो प्रेरणा का काम करता है। सुख-प्राप्ति की भावना हमें कर्म करने को प्रेरित करती है। कर्म का ध्येय होता है किसी वस्तु की प्राप्ति।

3. मनोवैज्ञानिक सुखवाद में सुख के विचार तथा सुखप्रद-विचार के भेद को समझने में भूल की गई है। किसी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने का विचार सुखप्रद है। पर वह सुख-सम्बन्धी विचार नहीं है। देश-प्रेमी को देश-सेवा के विचार में सुख मिलता है। अतः उनके लिए देश-सेवा का विचार सुखप्रद विचार है। पर यह विचार सुखवादियों के आदर्श सुख का विचार नहीं है। कोई सुख के विचार से देश-सेवा नहीं करता, बल्कि देश-सेवा का विचार ही उसके लिए सुखप्रद है। देश-प्रेमी को देश-सेवा के विचार के सिवा और कोई विचार कर्म करने को प्रेरित नहीं करता। अतः सुख का विचार इच्छा का वास्तविक विषय नहीं है।

4. बटलर के अनुसार बहुत तरह के सुखों का अस्तित्व नहीं रह जाएगा यदि हममें विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा न हो। दयालुता के सुख की अनुभूति नहीं हो सकती यदि हममें दूसरों के उपकार की इच्छा न हो। इस तरह इच्छा का विषय सुख नहीं बल्कि दूसरों का उपकार है। अभाव की पूर्ति के बाद सुख मिलता है। अतः पहले अभाव की पूर्ति होती है और तब हमें सुख मिलता है। इस तरह कम-से-कम कुछ इच्छाएँ ऐसी हैं जिनका विषय सुख नहीं है।

5. सुख शब्द द्व्यर्थक है। इसका एक अर्थ है वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न सन्तोष की भावना। इसका दूसरा अर्थ है वह वस्तु जो सुख देती है। यदि सुख का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया जाये तब कोई आपत्ति नहीं उठ सकती, क्योंकि यह सही है कि हम वस्तुओं की इच्छा करते हैं और उनकी प्राप्ति से हमें सुख मिलता है। अतः हम सुखों की इच्छा करते हैं, सुख रूपी भावना की नहीं।[1]

कभी-कभी 'सुख' शब्द का प्रयोग 'इच्छा' के अर्थ में भी होता है। इस अर्थ में मनोवैज्ञानिक सुखबाद की उक्ति "हम सदा सुख की इच्छा करते हैं" का अर्थ होगा 'हम सदा इच्छा की इच्छा करते हैं' जो स्पष्टतः अर्थहीन एवं पुनरुक्ति मात्र है।

1. "The fact that we desire pleasures (objects) is no evidence that we desire pleasures (feeling)" —Mackenzie.

अतः यदि 'सुख' का प्रयोग 'वस्तु' के अर्थ में किया जाये तभी मनोवैज्ञानिक सुखवाद का कथन सही हो सकता है।

6. **सुखवाद का विरोधाभास** : यदि यह मान भी लिया जाये कि हम सुख की इच्छा करते हैं तो सुख प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीका है सुख को भूल जाना। जितना ही हम सुख के पीछे दौड़ेंगे वह हमसे उतना ही दूर भागता जाएगा और जितना ही सुख-प्राप्ति की चेतना तीव्र होगी, सुख में उतना ही कम आनन्द मिलेगा। यदि हम सिनेमा देख रहे हों तो हमें सिनेमा पर ध्यान देना चाहिए उससे प्राप्त सुख पर नहीं। यदि हम चेतन रूप से सुख पर ध्यान देंगे तो हमें उतना सुख नहीं मिलेगा। अतः हमें अपना ध्यान उन वस्तुओं पर केन्द्रित रखना चाहिए जिनसे सुख की प्राप्ति होती है, सुख पर नहीं। अन्यथा, हमें उनसे सुखानुभूति नहीं होगी। यही सुख का विरोधाभास है। सिजविक कहते हैं कि "सुख के बारे में अत्यधिक चेतन रहने से सुखानुभूति में कमी ही जाती है।"[1] मैकेन्जी का भी कहना है कि "हमें सुख देने वाली वस्तुओं की ओर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि सुख तो स्वतः प्राप्त होगा। पर यदि हम सुख की ओर ही ध्यान लगाए रहें तो हमें वह कभी भी प्राप्त नहीं होगा।"[2]

रैशडेल का कहना है कि सुखवाद के विरोधाभास में आंशिक सत्यता है। यह सभी सुखों के सम्बन्ध में सही नहीं है। कभी-न-कभी सुखों के बारे में चेतन रहना सुख में वृद्धि लाता है।

7. यदि यह मान भी लिया जाये कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद एक सही सिद्धान्त है तब भी इसके तथा नैतिक सुखवाद के बीच कोई आवश्यक या तार्किक सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता। एक के बिना दूसरे की कल्पना सम्भव है। यदि हम सदा अपने सुख की इच्छा करते हैं तो इस कथन का कोई अर्थ नहीं होता कि हमें सदा अपने सुख की इच्छा करनी चाहिए। पुनः 'हम सुख की खोज करते हैं'—इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हमें सुख को ही लक्ष्य बनाना चाहिए।[3]

1. "The impulse towards pleasure, if too predominant, defeats its own aim." —Sidgwick.
2. "Even when we do desire pleasure the best way to get it, is often to forget it. If we think about the pleasure itself, we are almost sure to miss it; whereas if we direct our desires towards objective ends, the pleasure comes of itself."—Mackenzie.
3. "No cogent inference is possible from the psychological generalisation that the agent's pleasures and pains are the universal motives, to the ethical principle that his own greatest pleasure is for each the ultimate rational end." —Sidgwick.

नैतिक सुखवाद

नैतिक सुखवाद के अनुसार सुख की प्राप्ति ही हमारा चरम आदर्श है। इसके दो रूप होते हैं :

1. स्वार्थमूलक सुखवाद तथा
2. परार्थमूलक सुखवाद।

पहले के अनुसार वैयक्तिक सुख ही हमारा नैतिक आदर्श है। पर दूसरे के अनुसार सामान्य सुख या अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख नैतिक आदर्श है। स्वार्थमूलक सुखवाद एवं परार्थमूलक सुखवाद दोनों में दो भेद हैं :

(क) निकृष्ट तथा (ख) उत्कृष्ट।

1. स्वार्थमूलक सुखवाद या स्वार्थवादी सुखवाद

इस मत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकतम सुख के लिए कर्म करना चाहिए। व्यक्ति का निजी अधिकतम सुख ही नैतिक मापदंड है। जो कर्म अपने अधिकतम सुख की प्राप्ति में सहायक है, उसे शुभ कहते हैं तथा जो सुख-प्राप्ति में बाधक है, उसे अशुभ कहते हैं। जिस कर्म से व्यक्ति को सुख मिलता है वह उचित है तथा जिससे दुःख मिलता है, वह अनुचित है। अतः हर व्यक्ति को वैसे ही कर्मों को करना चाहिए जिनसे उसे अधिकतम सुख मिले। व्यक्ति को अनेक वस्तुओं से तथा अनेक प्रकार के कर्मों से सुख मिलता है। यदि किसी समय दो ऐसे कर्म उपस्थित हों जिन दोनों को करने से सुख की प्राप्ति सम्भव हो तो हमें उस कर्म को चुन लेना चाहिए जिससे अधिक सुख मिलने की सम्भावना हो। उदाहरण के लिए, यदि किसी मौके पर यह द्वन्द्व उपस्थित हो कि हम सिनेमा जायँ या पत्नी के साथ किसी पार्टी में जायँ तो हमें यह निर्णय करना चाहिए कि किसमें हमें अधिक सुख मिलेगा। आनन्द की उपलब्धि तो दोनों कर्मों से होगी। पर जिस कर्म से हमें अधिक आनन्द मिलने की सम्भावना हो उसी कर्म को करना चाहिए। यदि हम यह निर्णय करते हैं कि पार्टी में हमें अधिक सुख मिलेगा तो हमें वही करना चाहिए और यदि हम यह समझते हैं कि सिनेमा से अधिक सुख मिलेगा तो सिनेमा ही जाना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे जानें कि किस कर्म में हमें अधिक सुख मिलेगा ? अर्थात् सुख के परिमाण का निर्धारण कैसे किया जाये ? इसके उत्तर में इस मत के समर्थकों का कहना है कि सुख के परिमाण-निर्धारण में साधारणतः दो बातों पर विचार करना चाहिए—तीव्रता तथा अवधि। किसी कर्म से कितने तीव्र सुख की प्राप्ति होगी तथा वह सुख कितनी देर तक मिलता रहेगा, इन्हीं बातों पर सुख का परिमाण निर्भर करता है। जिस कर्म से जितनी तीव्र

सुखानुभूति होगी तथा वह अनुभूति जितनी अधिक देर तक रहेगी, उस कर्म से उतना ही अधिक सुख मिलेगा। इस तरह कर्मों के परिमाण को निर्धारित कर जिस कर्म से अधिक सुख मिलने की आशा हो वही कर्म करना चाहिए।

स्वार्थमूलक या स्वार्थवादी सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक रूप से सुख के लिए प्रयत्न करता है। अतः इससे निष्कर्ष निकाला जाता है कि हर व्यक्ति को अपने ही सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यही स्वार्थमूलक सुखवाद की उक्ति है। अतः इसका मूल सिद्धान्त है, 'प्रत्येक व्यक्ति अपने ही लिए' अर्थात् हर व्यक्ति को अपने ही सुख के लिए कर्म करना चाहिए।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसे दूसरों के लिए भी अपने स्वार्थ का बलिदान करना पड़ता है। यदि प्रत्येक मनुष्य केवल अपने सुख की खोज करे, दूसरों के सुख की परवाह न करे तो समाज की उत्पत्ति एवं स्थिति की व्याख्या सम्भव नहीं है। हॉब्स आदि स्वार्थ सुखवादियों का कहना है कि समाज के निर्माण के पीछे भी व्यक्ति का स्वार्थ छिपा हुआ है। आरम्भिक स्थिति में मानव अलग-अलग रहता था। प्रत्येक व्यक्ति सिर्फ अपने सुख की खोज करता था। संसार की सभी वस्तुओं पर, दूसरों के शरीर पर भी, वह अपना स्वाभाविक अधिकार समझता था और स्वेच्छा से अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि करता था। पर धीरे-धीरे लोगों ने यह अनुभव किया कि उनकी अपनी सुरक्षा एवं सुख बहुत अंशों में दूसरे व्यक्तियों की सहायता एवं सहानुभूति पर निर्भर करता है। अतः लोगों ने समाज का निर्माण किया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति सहायता एवं सहानुभूति दिखला सके। समाज की उत्पत्ति की इस व्याख्या को सामाजिक समझौते का सिद्धान्त कहते हैं। इस तरह हॉब्स का निष्कर्ष है कि समाज का आधार भी व्यक्ति का निजी स्वार्थ है। समाज में एक व्यक्ति दूसरे के स्वार्थ की परवाह इसलिए करता है कि इससे उसे स्वयं अधिक सुख के उपभोग में सहायता मिलती है। समाज के प्रति त्याग की भावना अपनी रक्षा एवं सुख के स्वार्थ से ही व्यक्ति रखता है।

हॉब्स कहता है कि परार्थमूलक भावनाएँ यथा—सहानुभूति, दया, दान, मित्रता, कृतज्ञता आदि वास्तव में स्वार्थमूलक हैं। सभी उच्च भावनाओं तथा निःस्वार्थ प्रेम एवं संवेगों को वह स्वार्थमूलक मानता है। दूसरों की भलाई करने की भावना के पीछे मनुष्य की अपनी अधिक भलाई की भावना छिपी रहती है और इसी को सहानुभूति कहा जाता है। दूसरे के दुःख को देखने से अपने दुःख की कल्पना को दया कहते हैं। दूसरे के अभाव को दूर करने में अपनी श्रेष्ठता की सुखमय चेतना का अनुभव दान कहा जाता है। समाज तथा अन्य व्यक्तियों की सहायता से प्राप्त

सुख एवं लाभ की चेतना मित्रता कही जाती है। किसी से प्राप्त लाभ से उत्पन्न भविष्य के लाभ की भावना कृतज्ञता कही जाती है।

धार्मिक भावनाओं की व्याख्या भी इसी प्रकार की जाती है। आध्यात्मिक शक्तियों को प्रसन्न कर उनसे सहायता प्राप्त करने की भावना ही धार्मिक भावना है।

इस तरह स्वार्थमूलक सुखवाद का मत है कि व्यक्ति को अपने सुख के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है। अब प्रश्न है कि सुख अनेक प्रकार के हैं। विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न वस्तुओं से सुख मिलता है। विद्वान् को पुस्तकों के अध्ययन से सुख मिलता है तो एक शराबी को शराब पीने से। अतः अब, प्रश्न उठता है कि हमें जिस प्रकार का सुख मिले उसे प्राप्त करना चाहिए अथवा, उत्कृष्ट तथा निकृष्ट सुखों में भेद करना चाहिए। इस प्रश्न के दो उत्तर दिए गए हैं जिनके अनुसार इस मत के दो भेद हो जाते हैं—निकृष्ट स्वार्थ-मूलक सुखवाद तथा उत्कृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद।

निकृष्ट स्वार्थमूलक या स्वार्थवादी सुखवाद : प्राचीन काल से ही कुछ लोग यथा, भारतीय चार्वाक तथा ग्रीस के एरिसपिटस आदि इस मत के समर्थक रहे हैं। एरिसपिटस के अनुसार अपना सुख प्राप्त करना ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य होना चाहिए। वह सुखों में गुणात्मक-भेद या प्रकार-भेद नहीं मानता, सभी सुख एक ही प्रकार के हैं। उनमें सिर्फ मात्रा या तीव्रता या अवधि का भेद होता है। पुस्तक पढ़ने या शराब पीने में समान सुख मिलता है। शारीरिक सुख, मानसिक एवं आत्मिक सुख की अपेक्षा तीव्रतर है; अतः मनुष्य को शारीरिक सुख अर्थात् इन्द्रिय सुख के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। इसी कारण इस सिद्धान्त को इन्द्रिय-तृप्तिवाद भी कहते हैं।

इस मत में तात्कालिक सुख पर ही बल दिया जाता है। भूत बीत ही चुका है, भविष्य अनिश्चित है, अतः उनके बारे में सोचना समय नष्ट करना है। वर्तमान हमारे हाथ में हैं। हमें वर्तमान का ही सदुपयोग करना चाहिए।[1] भविष्य के सुख की आशा में वर्तमान के सुख को त्यागना मूर्खता है। कहा भी गया है 'हाथ की एक चिड़िया झाड़ी की दो से कहीं अच्छी है।' आज का कबूतर कल के मयूर से कहीं अच्छा है (वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात)। ये सारी कहावतें इसी तथ्य का संकेत करती हैं कि वर्तमान सुख को भविष्य में अधिक सुख पाने की आशा में त्यागना मूर्खता है; क्योंकि वर्तमान का सुख निश्चित है पर भविष्य का

1. गते शोको न कर्त्तव्यो भविष्यो नैव चिन्तयेत्।
वर्त्तमानेन कालेन विचरन्ति विचक्षणाः॥

सुख अनिश्चित एवं संदिग्ध। अतः निश्चित को छोड़कर अनिश्चित के पीछे दौड़ना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से निश्चित के भी नष्ट होने की सम्भावना रहती है और अनिश्चित तो नष्टप्राय है ही।[1] 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' का सिद्धान्त ही सच्चा नैतिक आदर्श है। जीवन अनिश्चित है। कब मृत्यु होगी, नहीं कहा जा सकता है। अतः हमें जहाँ कहीं जिस तरीके से जिस तरह का सुख मिले, प्राप्त करना चाहिए। यह विचार करना कि अमुक सुख नैतिक है तथा अमुक अनैतिक, मूर्खता है। इसी तरह के विचार में सुख के स्वर्णिम क्षण समाप्त हो जाएँगे और हम हाथ मलते रह जाएँगे।[2] अतः वर्तमान इन्द्रिय सुख ही जीवन का सच्चा उद्देश्य है। बुद्धि के प्रयोग से सुख की तीव्रता समाप्त हो जाती है। सुख प्राप्ति के समय बुद्धि का व्यावधान हानिकर है। सुकरात की तरह सिद्धान्त के लिए जीवन को उत्सर्ग करना मूर्खता है। अविचारपूर्वक भावनामय जीवन व्यतीत करना ही इस मत का आदर्श है।[3]

वर्तमान युग में मैन्डेविले तथा हेल्वेटियस इस मत के समर्थक हैं। मैन्डेविले का मत है कि मनुष्य अपने को ही केन्द्र में रखकर सारे कर्म करता है। वह प्रेम या घृणा अपने ही स्वार्थ के लिए करता है। आत्म-प्रेम ही एकमात्र धर्म है। हेल्वेटियस का भी यही मत है। इनके अनुसार भी प्रेम या मित्रता स्वार्थ के लिए ही की जाती है। अपने स्वार्थ के लिए ही कर्म करना चाहिए। मनुष्य स्वाभाविक रूप से सिर्फ ऐन्द्रिय सुख को ही जानता है। अतः इसी सुख को प्राप्त करना उसके जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। भारत का चार्वाक दर्शन भी इसी मत का समर्थन करता है। इसके अनुसार भी ऐन्द्रिय सुख ही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य है। चार पुरुषार्थों में से चार्वाक केवल दो को स्वीकार करते हैं, अर्थ और काम।[4] उनका कहना है कि जब तक जीवन है, हमें सुखपूर्वक जीना चाहिए। सुखपूर्वक जीवन यापन के लिए कर्ज भी लेना पड़े तो कोई बुरी बात नहीं क्योंकि मर जाने

1. यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नष्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव ही॥
2. "To sacrifice the present to the future, is unwarranted and perilous; the present is ours, the future may never be. To look before and after were to defeat the end of life, to miss that pleasure which is essentially a thing of the present." —Seth
3. "A life of feeling, pure and simple, heedless and unthinking, undisturbed by reason—such is the cyrenaic ideal."
—Seth : Ethical principles, P. 84.
4. अर्थकामौ पुरुषार्थौ—चार्वाक।

के बाद फिर इस शरीर का लौटकर आना असम्भव है।[1] कहने का अर्थ यह है कि यदि हमें अनैतिक तरीके से भी सुख मिले तो बिना हिचक के उसका पूरा आनन्द उठाना चाहिए।

उत्कृष्ट स्वार्थमूलक या स्वार्थवादी सुखवाद : इस मत के समर्थक एपीक्यूरस हैं। अतः इस मत को एपीक्यूरसवाद भी कहते हैं। इनके अनुसार भी अपना सुख प्राप्त करना ही प्रत्येक मनुष्य का उद्देश्य होना चाहिए। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, सुख-प्राप्ति। पर ये अविचारपूर्वक भावनामय जीवन व्यतीत करने की सलाह नहीं देते। इनका कहना है कि विवेकयुक्त सुख ही आदर्श सुख है। हमारे नैतिक जीवन में विवेक या बुद्धि का प्रमुख स्थान है। बुद्धि की सहायता के बिना सच्चा सुख प्राप्त होना सम्भव नहीं। जीवन का उद्देश्य क्षणिक सुख की प्राप्ति नहीं, बल्कि सुखी जीवन की प्राप्ति है। सच्चा सुख निश्चय ही विवेकयुक्त होता है। सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए बुद्धि का पथ-प्रदर्शन अत्यावश्यक है। भावनाएँ हमें अन्धकूप में ले जाती हैं; इनकी सन्तुष्टि से हमें क्षणिक सुख मिलता है। बुद्धि द्वारा ही इन्द्रिय की पूर्ण संतुष्टि संभव है।[2]

सुख का यहाँ अर्थ है शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का अभाव। यदि वर्तमान सुख के परित्याग से भविष्य में अधिक सुख प्राप्त होने की सम्भावना हो तो हमें वर्तमान सुख को त्याग देना चाहिए। अपनी इच्छाओं तथा आवश्यकताओं में हमें कमी करनी चाहिए क्योंकि इन्हें हम जितना बढ़ाते जाएँगे, ये बढ़ती ही जायेंगी और हमारा जीवन उतना ही बोझिल होता जाएगा। हमें कुछ ही वस्तुओं की प्राप्ति से सन्तोष करना चाहिए। सन्तोष से ही सच्चा सुख मिल सकता है (संतोषः परमं सुखम्)। एपीक्यूरस के अनुसार जीवन आदर्श भावात्मक सुख की अवस्था नहीं बल्कि सुख-दुःख से उदासीन रहने की अवस्था है।

सुख दो प्रकार का माना गया है—शारीरिक तथा मानसिक। मानसिक सुख को शारीरिक सुख से श्रेष्ठ बताया गया है। इसका कारण है कि शारीरिक सुख

1. यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पीबेत्,
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः। —माधवाचार्य : सर्वदर्शनसंग्रह
2. "The end of life is not the pleasure of the moment, but happiness or a pleasant life. A truly happy life must be also a rational, reflective and well-considered life...The end is pleasure, but this end cannot be attained except under the guidance of reason; feeling would be but a blind and perilous guide to its own satisfaction. It is reason alone that makes possible the most perfect gratification of sensibility." —Seth.

के साथ दुःख होता है। इस सुख का परिणाम अधिकतर दुःख होता है। शारीरिक सुख कभी-कभी तीव्रतर होता है पर इसका उपभोग अधिक समय तक नहीं किया जा सकता। यह क्षणिक होता है। इसके विपरीत, मानसिक सुख शुद्ध, शान्त एवं अधिक समय तक ठहरने वाला होता है। अतः बौद्धिक सुख प्राप्त करना ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। निकृष्ट सुखवाद के विरुद्ध एपीक्यूरस का कहना है कि जब हम सुख को जीवन का लक्ष्य मानते हैं तो हमारा मतलब व्यभिचारी के सुख से नहीं है बल्कि उस सुख से है जो शरीर को दुःख से तथा मन को चिन्ता से मुक्त होने पर मिलता है। सुखी जीवन सुस्वादु भोजन एवं काम-वासना की तृप्ति से नहीं प्राप्त होता। सादा, शान्त, विरामयुक्त एवं शुभ संकल्पयुक्त जीवन ही सच्चे रूप में सुखी जीवन है।[1] ऐसा जीवन सन्तोष से ही प्राप्त हो सकता है, इच्छाओं की वृद्धि से नहीं। सोपेनहावर ने ठीक ही कहा है कि एक इच्छा की सन्तुष्टि अनेक इच्छाओं को जन्म देती है।

एपीक्यूरस के अनुसार सुख-प्राप्ति के चार निर्देश हैं :

(i) वैसा सुख अपनाना चाहिए जिससे दुःख की उत्पत्ति न हो।

(ii) वैसे दुःख का त्याग करना चाहिए जिससे सुख की उत्पत्ति न हो।

(iii) वैसे सुख का परित्याग करना चाहिए जो अधिक सुख-प्राप्ति में बाधक अथवा अधिक दुःख उत्पन्न करता हो।

(iv) वैसे दुःख को सहना चाहिए जिससे अधिक दुख का निवारण हो अथवा जिससे अधिक सुख की प्राप्ति हो।

स्वार्थमूलक या स्वार्थवादी सुखवाद की आलोचना

1. स्वार्थमूलक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है। मनुष्य स्वभावतः अपने सुख के लिए कर्म करता है। अतः उसे अपने ही सुख के लिए कर्म करना चाहिए। अपना सुख ही मानव का लक्ष्य होना चाहिए। हम लोग इस अध्याय के प्रारम्भ में देख चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद में अनेक दोष हैं। चूँकि स्वार्थमूलक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है, इसलिए मनोवैज्ञानिक सुख के विरुद्ध किए गये सारे आक्षेप स्वार्थमूलक सुखवाद के विरुद्ध भी सही हैं।

2. सुखवाद का विरोधाभास इस मत में भी है। हम जितना अधिक अपने सुख की चिन्ता करते हैं, वह हमसे उतना ही दूर हो जाता है।[2] उत्कृष्ट स्वार्थमूलक

1. "The happiest life is one of simple ease, good will, serene leisure."
2. "The practice of Hedonistic observation and calculation has an inevitable tendency to decrease our pleasures generally." —Sidgwick.

सुखवादी इस तथ्य से अवगत प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि उनके मत में निराशावादी प्रवृत्ति पायी जाती है।

3. स्वार्थमूलक सुखवाद, अनुभववाद तथा जड़वाद पर आधारित प्रतीत होता है। अनुभव से ज्ञात होता है कि मनुष्य निजी स्वार्थ के लिए ही अधिकतर कर्म करता है। जड़वाद का कहना है कि आत्मा, चेतना आदि जड़ से उत्पन्न हैं। मृत्यु से मनुष्य का पूर्णतः नाश हो जाता है। उसका कोई भी अंश अमर नहीं जो मृत्यु के बाद बच जाता है और पुनः कर्म के फल भोगने के लिए शरीर धारण करता है। यह मत स्वर्ग, नर्क, पुनर्जन्म आदि में विश्वास नहीं करता क्योंकि इनका ज्ञान अनुभव से सम्भव नहीं है। अतः मनुष्य को इसी जन्म में अपने अधिक-से-अधिक सुख के लिए चेष्टा करनी चाहिए। इस मत के अनुसार ईश्वर का भी अस्तित्व नहीं है। इसलिए किसी मनुष्य को अनैतिक तरीके से भी सुख प्राप्त करने में हिचक नहीं होनी चाहिए।

अनुभववाद एवं जड़वाद दोनों सिद्धान्तों में अनेक दोष हैं। अतः इन पर आधारित स्वार्थ सुखवाद में भी वे दोष आ जाते हैं।

4. इस मत के अनुसार मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है। पर ऐसा मानना गलत है। मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी तथा परार्थी दोनों होता है। स्वार्थ भावना जिस तरह जन्म से ही पायी जाती है, उसी तरह परार्थ भावना भी।[1] बल्कि यह कहा जाये कि मनुष्य में परार्थ-भावना की प्रधानता है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। माँ का अपने बेटे के लिए, देश-प्रेमी का देश के लिए, प्राण न्यौछावर कर देना इस कथन की पुष्टि करता है।

5. स्वार्थमूलक सुखवाद नैतिकता का सामान्य मापदंड प्रस्तुत करने में असमर्थ है। जो कर्म किसी एक के लिए सुखप्रद है, वह दूसरे के लिए दुःखप्रद हो सकता है। जो किसी एक लिए बहुत अधिक सुख देने वाला है, दूसरे के लिए वह कम सुखद हो सकता है। अब यदि सुख देने वाला कर्म उचित है तथा दुःख देने वाला अनुचित तब जो किसी एक के लिए उचित है, वही दूसरे के लिए अनुचित हो जाता है। अतः नैतिकता का मापदण्ड दोनों स्थितियों में समरूप नहीं रह जाता है। इस तरह हम पाते हैं कि यह मत सामान्य नैतिक मापदण्ड देने में असमर्थ है।

6. स्वार्थमूलक सुखवाद विभिन्न प्रकार के सुखों के मूल्यांकन के लिए उनके

1. "Self-sacrifice is no less primordial than self-preservation." "Without gratis benefits to offspring, life could not have continued." —Spencer.

परिमाण पर जोर देता है। किसी सुख की तीव्रता और अवधि के आधार पर हमें यह निर्णय करना चाहिए कि कौन-सा सुख अधिक है और कौन कम। अधिक सुख को ही हमें अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। पर इस प्रकार की परिमाणात्मक परिगणना अत्यन्त ही कठिन है। आत्मगत अनुभवों की परिमाणात्मक माप सम्भव नहीं है। पुनः सुखानुभूति मनुष्य के व्यक्तिगत चरित्र एवं परिस्थितियों पर निर्भर करता है। हमारे अनुभव में सुख और दुःख प्रायः मिले रहते हैं। यह मापना कि उनमें कितना सुख है और कितना दुःख, असम्भव-सा लगता है। इन सब कठिनाइयों के कारण स्वार्थमूलक सुखवाद का सुख की माप का सिद्धान्त अव्यावहारिक हो जाता है।

7. स्वार्थमूलक सुखवाद का निकृष्ट रूप तो वास्तव में कोई नैतिक सिद्धान्त हो ही नहीं सकता। यह शारीरिक सुख को ही जीवन का आदर्श मानता है। सुख के गुणात्मक भेद को यह स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार इन्द्रिय-सुख एवं बौद्धिक सुख में किसी प्रकार का भेद नहीं माना गया है। यह मत कहता है कि मनुष्य को जिस प्रकार अधिक-से-अधिक इन्द्रिय-सुख प्राप्त हो उसे वही करना चाहिए। इन्द्रियों को बुद्धि के नियंत्रण की आवश्यकता नहीं है। यह मत व्यभिचार करने की भी स्वतन्त्रता देता है। यह देश और समाज के लिए घातक है। कोई भी सभ्य समाज इस मत को स्वीकार नहीं कर सकता। नैतिकता तो आत्म-नियंत्रण में ही है।

8. सुखवाद का उत्कृष्ट रूप निश्चय ही उसके निकृष्ट रूप से अधिक विचारपूर्ण है। यह बौद्धिक सुख को शारीरिक सुख से श्रेष्ठ मानता है और उसी को जीवन का लक्ष्य बतलाता है। पर इस सिद्धान्त में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह निष्क्रिय तथा उदासीन जीवन को प्रोत्साहित करता है। पर नैतिकता क्रियाशीलता में है, निष्क्रियता में नहीं। निष्क्रिय, शान्त तथा उदासीन जीवन नैतिक नहीं कहा जा सकता। जीवन का मूल्यांकन भावना के आधार पर नहीं, बल्कि कर्म के आधार पर होना चाहिए। अतः नैतिक जीवन के लिए सक्रियता आवश्यक है जिसकी अवहेलना इस मत में की गई है।

पुनः इस मत में स्वार्थ तथा परार्थ हित को एक-दूसरे का विरोधी माना गया है। पर वास्तव में ये विरोधी नहीं; बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।

9. धार्मिक कर्मों से सन्तोष की भावना उत्पन्न होती है तथा उनसे हमें सदा सुख मिलता है। पर कोई भी धार्मिक कर्म सुख की भावना से नहीं किया जाता है। सुख की प्राप्ति धार्मिक कर्म करने से होती है। हमारे जीवन में सुख की भावना

का स्थान अवश्य है, पर भावना न तो नैतिक जीवन की प्रेरणा और न उसका लक्ष्य ही हो सकती है।

इन सब कठिनाइयों के कारण स्वार्थमूलक या स्वार्थवादी सुखवाद दोषपूर्ण है। मात्र वैयक्तिक सुख मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता।

2. परार्थमूलक सुखवाद या परार्थवादी सुखवाद या उपयोगितावाद

आधुनिक आचारशास्त्र का दृष्टिकोण सामान्यतः परार्थवादी है। वर्तमान काल में स्वार्थवाद को कोई भी सही नैतिक सिद्धान्त नहीं मानता। परार्थमूलक सुखवाद के अनुसार हमें सम्पूर्ण मानव के सुख को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। यदि ऐसा सम्भव न हो तो अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को ही जीवन का आदर्श मानना चाहिए। जो कर्म इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक है, उसे उचित तथा जो बाधक है, उसे अनुचित कहते हैं। चूँकि यह मत 'समष्टि अधिकतम सुख' को चरम नैतिक मापदंड मानता है, अतः इसे परार्थवादी सुखवाद कहते हैं। इसे उपयोगितावाद भी कहते हैं, क्योंकि इसके अनुसार कर्मों का मूल्यांकन समष्टि के अधिकतम सुख की वृद्धि में इनकी उपयोगिता के आधार पर किया जाता है, अर्थात् जो कर्म अधिकतम सुख की प्राप्ति में उपयोगी है, वह शुभ या उचित है तथा जो उपयोगी नहीं है, उसे अशुभ या अनुचित कहते हैं।

ह्यूम, बेन्थम, मिल, बेन आदि इस मत के समर्थक हैं। मिल तथा बेन्थम इस मत के सबसे प्रमुख समर्थक समझे जाते हैं, पर दोनों में एक बात को लेकर भेद है। बेन्थम के अनुसार सुख में केवल परिमाण का भेद होता है, गुण का नहीं। सभी सुख एक ही प्रकार के होते हैं। पर मिल के अनुसार सुख में गुणात्मक भेद भी होते हैं। यही कारण है कि बेन्थम के मत को निष्कृष्ट परार्थवादी सुखवाद तथा मिल के मत को उत्कृष्ट परार्थवादी सुखवाद कहते हैं। अब हम परार्थवाद के इन दो भेदों की अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

(अ) निकृष्ट परार्थवाद या उपयोगितावाद : इस मत के सबसे प्रमुख समर्थक बेन्थम हैं बेन्थम के मत को निकृष्ट परार्थवाद कहते हैं क्योंकि वे सुखों में गुणात्मक भेद नहीं मानते। उनके लिए सभी सुख गुण की दृष्टि से समान हैं। भेद केवल मात्रा या परिमाण का है। बेन्थम के अनुसार बच्चों का खेल तथा कविता पाठ गुण की दृष्टि से समान है।[1] सुख का केवल एक मापदण्ड है—परिमाण। परिमाण निर्धारण के सम्बन्ध में बेन्थम ने सात बातें बतलाई हैं—(1) तीव्रता, (2) व्यापकता

1. "Quantity of pleasure being equal, push-pin is as good as poetry." —Bentham.

(3) उत्पादकता, (4) शुद्धता, (5) अवधि (6) निकटता तथा (7) निश्चितता। दो समान सुखों में जो तीव्रतर है, वह श्रेष्ठ है। अधिक व्यापक सुख कम व्यापक सुख से उत्तम है, अर्थात् जिस सुख का उपभोग अधिक व्यक्तियों के द्वारा किया जाए वह सुख उस सुख से श्रेष्ठ है जिसका उपभोग कम व्यक्तियों के द्वारा किया जाए। उस सुख में उत्पादकता पाई जाती है जो अनेक अन्य सुखों को जन्म देता है। ऐसा सुख उस बन्ध्या-सुख से वरेण्य है जो दूसरे सुखों को उत्पन्न नहीं करता। दुःख से रहित सुख को शुद्ध सुख कहते हैं। जिस सुख के साथ दुःख मिला हुआ है, उसे अशुद्ध सुख कहते हैं। शुद्ध सुख अशुद्ध सुख से अधिक ग्राह्य है। दो सुखों में जो अधिक देर तक ठहरे वह श्रेष्ठ है उससे जो कम देर तक ठहरे। सुख जितना ही स्थायी हो उतना ही श्रेष्ठ है। निकटस्थ सुख दूरस्थ सुखों से श्रेष्ठ है। निश्चित सुख अनिश्चित सुख से अधिक वांछनीय है।

बेन्थम के अनुसार कर्मों के नैतिक मूल्यांकन में इन्हीं सात बातों पर ध्यान देना चाहिए। ये ही सुख के मूल्य के माप हैं। इन्हीं मापों के आधार पर कर्मों को शुभ या अशुभ कहा जाना चाहिए। इन मापों में एक है व्यापकता। इसके अनुसार वही सुख श्रेष्ठ है जिसका उपभोग अधिक-से-अधिक व्यक्ति कर सकें, यानी हमें सिर्फ अपने सुख की चिन्ता नहीं करनी चाहिए बल्कि सम्पूर्ण मानव या अधिकतम व्यक्तियों के सुख के लिए प्रयास करना चाहिए। इसी कारण बेन्थम का मत परार्थवादी है, स्वार्थवादी नहीं। समाज के सुख को ही वे मानव जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। पर यह मत निकृष्ट है क्योंकि सुखों में गुण की दृष्टि से भेद नहीं माना जाता। बेन्थम ने कहा है कि सुख और दुःख को तौल लें और जिसका पलड़ा भारी हो उसी के अनुसार कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करें।[1] तौलने का अर्थ है परिमाण को निश्चित करना। जिस कर्म से अधिक सुख और कम दुःख की प्राप्ति होगी वह उचित होगा। जिस कर्म से कम सुख और अधिक दुःख की प्राप्ति होगी, वह अनुचित होगा। इस तरह बेन्थम परिमाण को ही सुख का एकमात्र मापदण्ड समझते हैं। जिस सुख का परिमाण जितना ही अधिक होगा वह सुख उतना ही श्रेष्ठ एवं वांछनीय होगा। इस परिमाण के निर्धारण की विधि को सुखवादी परिगणना कहते हैं।

बेन्थम का परार्थवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित है। उसने कहा है कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख रूपी साम्राज्य में रखा है। हमारे सभी कर्मों के कारण वे ही हैं। सुख और दुःख ही मानव कर्मों के निर्णायक हैं।

1. "Weigh pleasures, weigh pains, and as the balance stands, will stand the question of right and wrong," —Bentham.

मनुष्य का उद्देश्य है सुख की प्राप्ति तथा दुःख से निवृत्ति। बेन्थम मनुष्य की स्वार्थवादी प्रवृत्ति से अवगत हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है। उसका लक्ष्य है अपना अधिकतम सुख प्राप्त करना।[1] दूसरे के सुख के लिए वह तभी प्रयत्न करता है जब वह जानता है कि ऐसा करने से उसे स्वयं सुख मिलेगा। बेन्थम ने कहा है कि मनुष्य अपनी कानी उँगली भी उठाने का कष्ट नहीं करेगा यदि उसे यह स्पष्ट न हो जाए कि ऐसा करने से उसे लाभ होगा। मानव प्रवृत्ति ही ऐसी है कि वह निजी सुख को ही सर्व-प्रथम स्थान देता है।[2] हर एक गिनती में एक है, एक से अधिक कोई नहीं।[3]

हम जानते हैं कि बेन्थम परार्थवाद के समर्थक हैं। अतः प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है, तो वह दूसरों के हित के लिए क्यों कर्म करता है? यदि निजी अधिकतम सुख ही उसका लक्ष्य है तो अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही उसका लक्ष्य क्यों तथा कैसे होता है? क्यों वह अपने सुख को दूसरों के सुख के लिए त्यागने को बाध्य होता है? यदि वह अपने ही सुख की परवाह करता है तो उसे क्यों दूसरे व्यक्तियों के सुख की चिन्ता करनी चाहिए? संक्षेप में, यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है तो वह परार्थी कैसे होता है? उसे क्यों परार्थी होना चाहिए? बेन्थम ने इसके चार मुख्य कारण बताए हैं। इन्हें नैतिक आदेश कहते हैं? नैतिक आदेश वे शक्तियाँ हैं जिनके कारण मनुष्य नैतिक कर्म करने को बाध्य होता है। इन आदेशों के दबाव से ही स्वभावतः स्वार्थी मनुष्य परहित के लिए कर्म करता है। ये आदेश हैं—(1) शारीरिक या प्राकृतिक, (2) राजनैतिक (3) सामाजिक तथा (4) धार्मिक या दैवी। स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन से शरीर रुग्ण हो जाता है। यह प्राकृतिक नियम है कि भूख लगने पर हल्का भोजन

1. "To obtain the greatest portion of happiness for himself is the object of every rational being. Every man is nearer to himself than he can be to any other man; and no other man can weigh for him his pleasures and pains. Himself must necessarily be his own concern. His interest must, to himself be the primary interest." —Bentham.
2. "Dream not that men will move their little finger to serve you, unless their own advantage in so doing be obvious to them. Men never did so and never will, while human nature is made of the present materials. But they will desire to serve you, when by so doing, they can serve themselves." —Bentham.
3. "Each is to count for one, and no one for more than one." —Bentham.

किया जाए। यदि हम इस नियम का उल्लंघन कर अधिक भोजन करते हैं तो वह शरीर के लिए हानिकारक होता है। इसी कारण हम प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते क्योंकि ऐसा करने से शारीरिक कष्ट होता है। इसे प्राकृतिक या शारीरिक आदेश कहते हैं। राज्य के नियमों का पालन हम इसी भय से करते है कि यदि ऐसा नहीं करेंगे तो राज्य की ओर से हमें दण्ड मिलेगा। यह दण्ड-भय राजनैतिक आदेश कहलाता है। समाज के भी नियम होते हैं। यदि हम उन नियमों का पालन नहीं करते तो समाज हमें दण्ड देता है। समाज हमें बहिष्कृत कर देता है जिससे हमें बहुत कष्ट होता है। इसी कारण हम समाज के हित का भी ख्याल करते हैं, सिर्फ अपने हित का नहीं। यही सामाजिक आदेश है। धार्मिक आदेश के अन्दर नरक का भय आता है। यदि हम धार्मिक या दैवी नियमों का पालन नहीं करते तो हमें नरक मिलता है। यदि हम धार्मिक नियमों का पालन करते हैं तो हमें स्वर्ग की प्राप्ति होती है, जहाँ सुख-ही-सुख है। इन बाह्य आदेशों के दबाव के कारण ही मनुष्य पर-हित के लिए अपने सुख का परित्याग करता है। ये ही उसे परार्थी होने को बाध्य करते हैं।

(ब) उत्कृष्ट परार्थवादी सुखवाद या उपयोगितावाद : जे० एस० मिल भी सुखवाद के समर्थक हैं। उनके अनुसार कोई कर्म उसी अनुपात में उचित है जिस अनुपात में उससे आनन्द की प्राप्ति होती है तथा उसी अनुपात में अनुचित है जिस अनुपात में उससे दुःख की प्राप्ति होती है। आनन्द का अर्थ, मिल के अनुसार, सुख की प्राप्ति तथा दुःख का अभाव है। वे कहते हैं कि मनुष्यों के कर्मों का एकमात्र लक्ष्य सुख-प्राप्ति है। 'आनन्द' तथा 'सुख' का प्रयोग वे एक ही अर्थ में करते हैं। विश्व की सारी वस्तुएँ सुख के साधन के रूप में ही वांछनीय हैं, स्वतः उनका कोई मूल्य नहीं। पुण्य, स्वास्थ्य, प्रतिष्ठा, धन आदि सभी सुख के साधन हैं। अपने आप में उनका कोई मूल्य नहीं। हम उन्हें साध्य के रूप में नहीं चाहते बल्कि साधन के रूप में चाहते हैं। सुख ही मानव-जीवन का चरम आदर्श है। अतः कोई कर्म तभी उचित है जब उससे अधिक सुख तथा कम दुःख का अनुभव होता है और अनुचित है जब उससे कम सुख और अधिक दुःख की उत्पत्ति होती है।

मिल के सुखवाद का आधार भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। इनके अनुसार किसी वस्तु की इच्छा करना तथा उसे सुखकर पाना दोनों एक ही बात है। दूसरे शब्दों में, हम सदा सुखकर वस्तुओं की ही इच्छा करते हैं। इसी तर्क पर मिल का नैतिक सुखवाद आधारित है। चूँकि हम सदा सुख की इच्छा करते हैं, अतः सुख ही वांछनीय है। इसका प्रमाण वे इस तरह देते हैं। कोई वस्तु दृश्य है

इसका एकमात्र प्रमाण है कि लोग उसे वास्तव में देखते हैं। कोई शब्द श्रव्य है इसका एकमात्र प्रमाण है कि लोग इसे सुनते हैं। इसी तरह कोई वस्तु वांछनीय है इसका एकमात्र प्रमाण है कि लोग इसकी इच्छा करते हैं। सब लोग सुख का ही इच्छा करते हैं, अतः सुख ही वांछनीय है।[1]

सारांश यह है कि चूँकि मनुष्य स्वभावतः सुख की ही इच्छा करता है, अतः सुख की ही इच्छा उसे करनी चाहिए। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर ही नैतिक सुखवाद का निष्कर्ष निकाला जाता है। इस तरह मिल कहते हैं कि सुख की प्राप्ति ही मानव-जीवन का परम आदर्श होना चाहिए। सुख ही चरम नैतिक मापदण्ड है। यही कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का निर्णायक है। जिस कर्म में सुख मिलता है, वह उचित है; जिससे दुःख मिलता है, वह अनुचित है। यही मिल का सुखवाद है।

मिल का सुखवाद बेन्थम की तरह परार्थवादी है, स्वार्थवादी नहीं। उनके अनुसार व्यक्ति का निजी सुख नहीं; बल्कि सामान्य सुख अथवा अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख ही जीवन का परम आदर्श है। हमें दूसरों के साथ वही बर्ताव करना चाहिए जो हम दूसरों से अपेक्षा रखते हैं तथा अपने सदृश अपने पड़ोसी को प्यार करना चाहिए। इसे ही मिल नैतिक मापदण्ड मानते हैं।[2]

पर प्रश्न उठता है कि सामान्य सुख अथवा सार्वजनिक सुख क्यों वांछनीय है? बेन्थम इसके लिए कोई तार्किक युक्ति नहीं देते, पर मिल देते हैं। उनके अनुसार सामान्य सुख की वांछनीयता का एकमात्र कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना निजी सुख चाहता है। इस सम्बन्ध में उनका तर्क इस प्रकार है।

सुख शुभ है

∴ प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका शुभ है अर्थात् मेरा सुख मेरा शुभ है, तुम्हारा सुख तुम्हारा शुभ है और उसका सुख उसका शुभ है······

1. The only proof capable of being given that an object is visible is that people actually see it. The only proof that a sound is audible is that people hear it; the sole evidence that anything is desirable is that people do actually desire it." —Mill.

2. "To do as one would be done by, and to love one's neighbour as one self, constitute the ideal perfection of utilitarian morality. The happiness which forms the utilitarian standard of what is right in conduct, is not the agent's own happiness; but that of all concerend" —Mill

(अब दोनों ओर योग कर देने से)

∴ (मेरा सुख + तुम्हारा सुख + उसका सुख······)

अर्थात् सामान्य सुख (मेरे लिए + तुम्हारे लिए + उसके लिए) यानी सब व्यक्तियों के समूह के लिए शुभ है।[1]

अब प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है तो वह समाज की भलाई करने को क्यों बाध्य होता है? मिल इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रारम्भ में मनुष्य दूसरों के दुःख को दूर करने में अपना दुःख दूर करता है। अर्थात् परोपकार का प्रयोग वह अपने सुख की प्राप्ति के साधन के रूप में करता है। पर बार-बार ऐसा करने से मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त 'रुचि के स्थानान्तर' के अनुसार हमारी अभिरुचि साध्य से हटकर साधन में चली जाती है अर्थात् साधन ही साध्य हो जाता है। इस तरह हम अपना सुख भूलकर दूसरों की भलाई में ही आनन्द उठाने लग जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य में परोपकार की भावना का उदय होता है। पर दूसरा प्रश्न है कि हम आखिर परोपकार के लिए बाध्य क्यों होते हैं? हम क्यों नैतिक कर्म करने को बाध्य होते हैं? हम सार्वजनिक सुख के लिए क्यों कर्म करें? मिल बेन्थम की तरह चार बाह्य आदेशों को मानते हैं जिसके कारण मनुष्य 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' का आदर्श अपनाता है। ये आदेश हैं—शारीरिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक। शरीर के कष्ट का भय, समाज द्वारा दण्ड का भय, राज्य द्वारा दण्ड का भय तथा ईश्वर द्वारा दण्ड का भय—इन्हीं के कारण मनुष्य परोपकार करने को बाध्य होता है। पर मिल का कहना है कि यदि मनुष्य इन बाह्य आदेशों के दबाव में आकर ही परोपकार करता है तो वास्तव में वह स्वार्थी है। सेथ ने ठीक ही कहा है कि ऐसी परिस्थितियों में बाह्य व्यवहार में नहीं तो चरित्र तथा प्रयोजन में मनुष्य अवश्य स्वार्थी कहा जाएगा।[2] इसी कारण मिल ने इन चार बाह्य आदेशों के अतिरिक्त एक आन्तरिक आदेश को भी स्वीकार किया है। यह आन्तरिक आदेश है—मनुष्य जाति के सुख की भावना, दूसरों की अनुभूतियों तथा दुःखों के प्रति सम्मान का भाव, मनुष्य की सामाजिक अनुभूतियाँ अर्थात् अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर रहने की इच्छा। यह सामाजिक भावना मनुष्य में जन्मजात नहीं तो प्राकृतिक अवश्य

1. "......happiness is a good......

2. "The individual whose life was governed by such constraints would still be, in character and motive, if not in out-ward act, an egoist; his end would still be egoistic, though it was accomplished by altruistic means". —Seth.

हैं[1] और इसी के कारण हम समाज के हित के लिए कर्म करते हैं। इस तरह मिल का निष्कर्ष है कि सामान्य सुख अथवा 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' ही मानव जीवन का लक्ष्य है। मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है, पर स्वार्थ से ही परार्थ की भावना उत्पन्न होती है। चार बाह्य आदेशों तथा एक आन्तरिक आदेश के दबाव के कारण ही मनुष्य परोपकार करने को बाध्य होता है। इससे स्पष्ट है कि मिल का सुखवाद परार्थवादी है।

पर मिल का परार्थवाद बेन्थम की तरह निकृष्ट नहीं, बल्कि उत्कृष्ट है, क्योंकि वे सुख के गुणात्मक भेद को स्वीकार करते हैं। बेन्थम सुख में केवल परिमाणात्मक भेद मानते हैं, गुणात्मक नहीं। इसी कारण उनका परार्थवाद निकृष्ट है। पर मिल सुख में गुणात्मक तथा परिमाणात्मक दोनों भेद स्वीकार करते हैं। इसी कारण इनका परार्थवाद उत्कृष्ट कहलाता है। यह मिल की सबसे बड़ी देन है। वे पहले सुखवादी हैं जो सुख में गुणात्मक भेद को भी स्वीकार करते हैं। उनके आचारशास्त्र की यह सबसे प्रमुख विशेषता है। एपीक्यूरस ने मानसिक तथा शारीरिक सुख में भेद बतलाया था और मानसिक सुख को श्रेष्ठ भी कहा था, क्योंकि यह अधिक देर तक ठहरता है तथा अपेक्षाकृत दुःखपूर्ण परिणामों से मुक्त रहता है। पर मानसिक सुख को वह गुण की दृष्टि से शारीरिक सुख से श्रेष्ठ नहीं मानता है। बेन्थम भी सभी सुखों को एक ही प्रकार का मानते हैं। यद्यपि वे सुख की शुद्धता की बात करते हैं; पर इससे उनका तात्पर्य गुणात्मक श्रेष्ठता से नहीं है बल्कि दुःख-रहित सुख से है। सर्वप्रथम मिल ही सुखों में परिमाणात्मक भेद के साथ-साथ गुणात्मक भेद को भी सत्य मानते हैं। उन्होंने कहा है कि गुण की दृष्टि से सुखों के भिन्न-भिन्न स्तर हैं। सुख विभिन्न प्रकार के हैं। कुछ सुख अन्य सुखों से मूल्यवान एवं श्रेष्ठ हैं।[2] सुखों के मूल्यांकन में हमें उनके परिणाम एवं गुण दोनों का ख्याल रखना चाहिए। कोई सुख परिमाण की दृष्टि से दूसरे सुखों से श्रेष्ठ हो सकता है, पर गुण की दृष्टि से निम्न स्तर का हो सकता है। कोई सुख परिमाण की दृष्टि से निम्न स्तर का हो सकता है, पर गुण की दृष्टि से उच्च स्तर का हो सकता है। सारांश यह कि दो सुखों में—एक परिमाण की दृष्टि से श्रेष्ठ हो सकता है तो दूसरा गुण की दृष्टि से। यदि हमें

1, "The internal sanction is a feeling for the happiness of mankind, a feeling of regard for the feelings and pains of others—the social feelings of mankind—the desire to be in unity with our fellow creatures which if not innate are none the less natural" —Mill.

2. "Some kinds of pleasure are more desirable and valuable than others" —Mill

इन दोनों में से किसी एक को चुनना हो तो हमें गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ ही चुनना चाहिए। सुखों के गुण और बड़प्पन को परिमाण से उत्तम मानना चाहिए।[1] अतः मनुष्य का सर्वोच्च शुभ उच्च तथा उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति है, भले ही वह कम तीव्र हो या कम अवधि का हो। इस तरह मिल सुखवाद को इन्द्रियवाद के दोष से बचाते हैं। सुखवाद को हेय एवं निन्दित होने से बचाने का श्रेय मिल को ही है। सुखवाद के इन दोषों को दूर कर मिल ने उत्कृष्ट सुखवाद की स्थापना की।

पर मिल के अनुसार गुण की दृष्टि से सुखों में भेद करने का आधार क्या है? कैसे हम गुण को परिमाण से श्रेष्ठ मानें? मिल का कहना है कि इस सम्बन्ध में योग्य निर्णायकों का निर्णय ही मान्य है। यदि दो सुखों में यह जानना हो कि कौन श्रेष्ठ है तो यह वही व्यक्ति बतला सकता है जिसे दोनों सुखों का अनुभव हो। ऐसे व्यक्ति को ही योग्य निर्णायक कहते हैं। ऐसे व्यक्ति को निम्न स्तर तथा उच्च स्तर—दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव रहता है। साथ-साथ उनमें आत्म-चिन्तन तथा आत्म-निरीक्षण की शक्ति भी पायी जाती है। सुखों के सम्बन्ध में ऐसे ही योग्य निर्णायकों का निर्णय अन्तिम माना जाता है। वे जिस सुख को उच्च बतलाते हैं; उसे उच्च मानना चाहिए और जिसे वे निम्न बतलाते हैं; उसे निम्न। इनके निर्णय के विरुद्ध किसी उच्च न्यायालय में अपील सम्भव नहीं है। यदि किसी निर्णय में निर्णायकों के बीच मतभेद पाया जाए तो उनमें से बहुसंख्यकों का निर्णय ही मान्य होना चाहिए।[2] ऐसे लोग बौद्धिक सुखों की शारीरिक तथा ऐन्द्रिय सुखों से श्रेष्ठ मानते हैं। अतः बौद्धिक सुख ही वांछनीय है।

पर उन निर्णायकों के निर्णय का आधार क्या है? क्यों वे किसी सुख को उच्च बतलाते हैं तथा किसी सुख को निम्न? क्या उनका निर्णय मनमानी है? मिल कहते हैं, नहीं। प्रत्येक मनुष्य में गरिमा की भावना रहती है जिसके आधार पर वह उच्च कोटि तथा निम्नकोटि के सुखों में भेद करता है। इसी भावना के आधार पर योग्य निर्णायक बौद्धिक सुखों को शारीरिक सुखों से उच्च एवं श्रेष्ठ बतलाते हैं। उनके निर्णय का अन्तिम आधार का यही भावना है। इसी भावना के कारण मनुष्य पाशविक सुखों के उपभोग के लिए पशु बनना स्वीकार नहीं करेगा। इसी कारण कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य मूर्ख या दुष्ट बनना पसन्द नहीं करेगा यदि उसे यह विश्वास भी दिला दिया जाये कि मूर्ख और दुष्ट व्यक्ति उससे अधिक सुख प्राप्त

1. "Worth and dignity of pleasure must be looked upon as better than quantity."—Mill

2. "From this verdict of the only competent judges. I apprehend there can be no appeal......If they differ, that of the majority among them, must be admitted to be final."—Mill.

करते हैं। 'एक असन्तुष्ट सुकरात (बुद्धिमान मनुष्य) होना अच्छा है बनिस्पत एक सन्तुष्ट सुकर (पशु) होने के। यदि मूर्ख या पशु का विचार इससे भिन्न है तो इसका कारण है कि वे केवल अपने ही बारे में जानते हैं। पर बुद्धिमान मनुष्य को दोनों पक्षों का ज्ञान है।'[1]

कहने का तात्पर्य यह कि 'गरिमा की भावना' के कारण ही मनुष्य निम्न कोटि के अधिक सुख प्राप्त करने के लिए निम्न स्तर में जाना पसन्द नहीं करता। वह उच्च स्तर पर ही रहना चाहता है, भले ही वहाँ उसे कम सुख प्राप्त हो।

परार्थवादी सुखवाद की आलोचना

1. परार्थवादी सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। अतः वह मनोवैज्ञानिक सुखवाद के सारे दोषों से दूषित है। मनुष्य वस्तुतः सुख की नहीं, बल्कि सुखप्रद वस्तु की कामना करता है। वस्तु की प्राप्ति के बाद ही उसे सुख की अनुभूति होती है। पुनः हम जितना अधिक सुख की खोज करते हैं, वह उतना ही कम प्राप्त होता है। यही सुखवाद का विरोधाभास है।

2. यदि यह मान भी लिया जाए कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद सही सिद्धान्त है तो भी इससे नैतिक सुखवाद का निष्कर्ष नहीं निकलता। 'हम सभी सुख की कामना करते हैं' इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि 'हमें सुख की कामना करनी चाहिए'। मिल नैतिक सुखवाद को निष्कर्ष रूप में मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर निकालने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं कि कोई वस्तु दृश्य है, इसका अर्थ है कि लोग उसे वास्तव में देखते हैं। इसी तरह कोई वस्तु वांछनीय है यदि लोग वास्तव में उसकी इच्छा करते हैं। लोग वास्तव में सुख की इच्छा करते हैं। अतः सुख ही वांछनीय है। लोगों को सुख की ही इच्छा करनी चाहिए।

पर मिल की इस युक्ति में आलंकारिक भाषादोष है। मिल वांछनीय शब्द के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ पाते हैं। पर यह सही है कि 'दृश्य' का अर्थ है जिसे वास्तव में देखा जाता है। पर वांछनीय उसे नहीं कहते 'जिसकी इच्छा की जाती है', बल्कि उसे कहते हैं 'जिसकी इच्छा की जानी चाहिए।' जो इच्छा की जाती है वह सदा आवश्यक रूप से इच्छा करने के योग्य नहीं होता। कोई दुराचारी यदि लड़कियों को भगाने की इच्छा करता है तो यह वांछनीय अर्थात् इच्छा करने के

1. "It is better to be a Socrates dissatisfi-d than a fool satisfied; better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied. And if fool or the pig is of a different opinion, it is because they only know their own side of the question. The other party to the comparison knows both sides."—Mill.

योग्य नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार यदि सभी लोग सुख की ही इच्छा करते हैं तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि सुख वांछनीय है। अतः मिल यह प्रमाणित करने में सफल नहीं होते कि नैतिक सुखवाद मनोवैज्ञानिक सुखवाद के निष्कर्ष रूप में प्राप्त किया जा सकता है। वास्तव में, इन दोनों के बीच कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है।

3. सुखवाद का परार्थवादी होना युक्तिसंगत नहीं है। यह आवश्यक रूप से स्वार्थी या वैयक्तिक ही हो सकता है। यदि मनुष्य स्वाभाविक रूप से निजी सुख की कामना करता है, तो उसे सामान्य सुख की कामना क्यों करनी चाहिए? क्यों दूसरों के सुख के लिए उसे अपने सुख का बलिदान करना चाहिए? ऐसा वह तभी करेगा जब वह जनता हो कि दूसरों के सुख से उसे स्वयं सुख मिलेगा, अथवा जब वह भ्रम में पड़कर दूसरे के लिए अपने सुख को त्याग दे। पर यदि वह ऐसा करता है तो उसका कार्य पूर्णतः परार्थवादी नहीं कहा जा सकता। मार्टिन्यू ने ठीक ही कहा है कि स्वार्थवाद के आधार पर परार्थवाद की स्थापना सम्भव नहीं है। 'प्रत्येक अपने लिए' से 'प्रत्येक सबके लिए' तक जाने का कोई मार्ग नहीं है।[1]

4. मिल ने परार्थवाद के लिए एक यह भी प्रमाण दिया है। "प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका शुभ है, अतः सामान्य सुख सभी व्यक्तियों के समूह के लिए शुभ है।" इस प्रमाण को हम इस तरह स्पष्ट कर सकते हैं। यहाँ दो तर्कों का प्रयोग किया गया है :

(i) सुख	शुभ है
∴ प्रत्येक व्यक्ति का सुख	उसके लिए शुभ है।
अर्थात् मेरा सुख	मेरा शुभ है।
आपका सुख	आपका शुभ है।
राम का सुख	राम का शुभ है।
....	....
∴ (मेरा + आपका + राम का + ...) सुख अर्थात् सामान्य सुख	(मेरा + आपका + राम का + ...) शुभ है, अर्थात् सब व्यक्तियों के समूह के लिए शुभ है।

इस युक्ति में संकलन-दोष है। यहाँ हम व्यक्ति के आधार पर समष्टि के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हैं। पर न तो व्यक्तियों का योग सम्भव है और न सुख का ही।

1. "From 'each for himself' to 'each for all'—no road."—Martineau.

(ii) दूसरी युक्ति इस प्रकार है। इसको मिल ने स्पष्ट रूप में नहीं रखा है।
सामान्य सुख सब व्यक्तियों के समूह के लिए शुभ है।
∴ सामान्य सुख प्रत्येक व्यक्ति के लिए शुभ है।

इस तर्क में विग्रह-दोष है। यहाँ हम समष्टि के आधार पर व्यष्टि के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि मिल जैसे महान् तार्किक के तर्क में इस प्रकार के दोष पाए जाते हैं। यह स्पष्ट है कि परार्थवाद को प्रमाणित करने में मिल सफल नहीं होते हैं।

5. उपयोगितावादियों के अनुसार परार्थ भावना स्वार्थ से ही उत्पन्न होती है। मिल ने इसे 'रुचि-स्थानान्तर' सिद्धान्त के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है। पर शुद्ध परार्थ भावना कभी भी शुद्ध स्वार्थ भावना से उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है तथा पहले वह परोपकार साधन के रूप में करता है एवं बाद में अभ्यास के कारण, तो यह निश्चित है कि जब उसे परोपकार की भावना की उत्पत्ति का ज्ञान हो जाएगा तो वह उसे भ्रम मानने लगेगा तथा उससे प्रेरित नहीं होगा। जब मनुष्य को यह ज्ञात हो जाएगा कि परोपकारी भावना का उद्देश्य भी निजी सुख की प्राप्ति है तो वह अपने निजी सुख के लिए कभी भी उसका त्याग कर सकता है। इस तरह परार्थ भावना की बाध्यता समाप्त हो जाती है। स्वार्थ से उत्पन्न परार्थ भावना शुद्ध तथा सच्ची परार्थ भावना नहीं हो सकती; अधिक-से-अधिक वह स्वार्थी परार्थ भावना हो सकती है अर्थात् ऐसी परार्थ भावना जिसमें स्वार्थ ही निहित हो। दर असल बात तो यह है कि मानव में स्वार्थ तथा परार्थ दोनों प्रवृत्तियाँ होती हैं। किसी एक की दूसरे से उत्पत्ति सम्भव नहीं।

6. उपयोगितावाद नैतिक बाध्यता का समुचित आधार प्रस्तुत करने में असमर्थ है। यदि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है तो वह दूसरे के हित के लिए कोई कर्म क्यों करेगा ? परार्थी होने को कोई क्यों बाध्य होता है ? क्यों कोई परोपकार को अपना कर्त्तव्य समझता है ? बेन्थम ने कहा है कि चार बाह्य आदेशों—भौतिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक के कारण मनुष्य परोपकार करता है। पर मिल ने स्वयं उनकी आलोचना की है और कहा है कि यदि मनुष्य इन आदेशों के दबाव के कारण ही परोपकारी होता है तो वास्तव में वह स्वार्थी है। इसलिए मिल ने एक आन्तरिक आदेश सहानुभूति की भावना या सामाजिक भावना को भी स्वीकार किया है। मिल के अनुसार इसी भावना के कारण मनुष्य परोपकार करने को बाध्य होता है। पर केवल सहानुभूति की भावना से ही मनुष्य सही परोपकारी नहीं हो सकता। मनुष्य की स्वार्थ-भावनाएँ बड़ी तीव्र होती हैं। अतः यह संदिग्ध है कि मनुष्य दूसरों के सुख के लिए अपने सुख का बलिदान करेगा। आन्तरिक आदेश रूपी भावना में

इतनी शक्ति कहाँ कि वह मनुष्य को बड़े-बड़े त्याग एवं बलिदान करने को प्रेरित कर सके। इस तरह हम पाते हैं कि मिल भी नैतिक बाध्यता के सही कारणों को बतलाने में असमर्थ हैं।

7. उपयोगितावाद कर्मों के नैतिक मूल्यांकन का कोई सही मापदण्ड प्रस्तुत नहीं करता। इसके अनुसार वह कर्म उचित है जिससे अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख मिलता है और वह कर्म अनुचित है जिससे अधिकतम व्यक्तियों को दुःख होता है। पर बहुत से ऐसे अनुचित कर्म हैं जिनसे किसी को कोई दुःख नहीं होता। तब क्या वे कर्म उचित कहे जायँगे ? यदि कोई बैंक का किरानी शाम को चुपचाप बैंक से रुपये ले लेता है और उससे अपना काम कर सबेरे जमा कर देता है, तो इस तरह के काम से किसी को कोई क्षति नहीं होती, अपितु कुछ को लाभ हो जाता है। अतः मिल के अनुसार यह कर्म उचित होगा। पर सूक्ष्मता से विचार करने पर स्वयं मिल इस कर्म को अनुचित कहेंगे। अतः यह स्पष्ट है कि मिल का उपयोगितावाद सही मापदण्ड देने में असमर्थ है।

8. बेन्थम ने सुखों में सिर्फ परिमाणात्मक भेद को ही स्वीकार किया है, गुणात्मक भेद को नहीं। परिमाण को मापने के लिए उन्होंने तीव्रता, अवधि, शुद्धता, व्यापकता आदि सात बातों का उल्लेख किया है। जिस कर्म से अधिक सुख होगा तथा कम दुःख, वह उचित होगा और जिस कर्म से कम सुख और अधिक दुःख, वह अनुचित होगा। बेन्थम के कहने का तात्पर्य है कि सुख को मापा जा सकता है। पर ऐसा समझना भूल है। सुख तथा दुःख आत्मनिष्ठ अनुभूतियाँ हैं जिनको मापा नहीं जा सकता। वे इतनी चंचल एवं क्षणिक होती हैं कि उनका ठीक-ठीक हिसाब लगाना सम्भव नहीं है कि फिर दूसरों के सुख की मापना तो असम्भव-सा ही है। बेन्थम ने स्वयं कहा है कि प्रत्येक मनुष्य दूसरों को अपेक्षा अपने निकटतर है और कोई भी मनुष्य उसके सुख-दुःख को तौल नहीं सकता। पुनः जो कर्म किसी एक मनुष्य के लिए सुखद है; वही दूसरे के लिए दुःखद हो सकता है। यही नहीं, बल्कि एक ही मनुष्य के लिए जो कर्म एक परिस्थिति में सुखद है, वही दूसरी परिस्थिति में दुःखद हो सकता है; अर्थात् सुख-दुःख परिस्थितियों तथा प्रवृत्तियों पर निर्भर करते हैं। ऐसी हालत में 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' का हिसाब कैसे लगाया जा सकता है ? मिल ने सुख में गुणात्मक भेद को लाकर इस समस्या को और भी जटिल बना दिया है। सुखवादी परिगणना सिर्फ सैद्धान्तिक है, व्यावहारिक नहीं।

9. मिल ने सुख में गुणात्मक भेद को भी स्वीकार किया है। उन्होंने बतलाया है कि एक सुख दूसरे सुख से सिर्फ मात्रा या परिमाण में ही भिन्न नहीं होता; बल्कि प्रकार या गुण में भी भिन्न होता है। कुछ सुख उच्च कोटि के हैं तथा कुछ निम्न

कोटि के। बौद्धिक सुख शारीरिक सुख से श्रेष्ठ हैं। अब प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा गुण है जिसके आधार पर समान परिमाण वाले सुख एक-दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठतर कहलाते हैं? दोनों प्रकार के सुखों से हमें सुख ही मिलता है। अतः समान मात्रा में सुख देने के कारण सुख के आधार पर इनमें भेद नहीं किया जा सकता। यदि इनमें प्रकार-भेद किया जाता है, तो अवश्य ही इस विभेदीकरण का आधार सुख देने की क्षमता नहीं वरन् कोई अन्य गुण होगा। इसी गुण के आधार पर मिल के अनुसार एक सुख को दूसरे से श्रेष्ठ एवं उच्च कहा जाता है। मिल ने यह भी कहा है कि उच्च कोटि का सुख ही आदर्श है। मिल के अनुसार एक सुख को दूसरे सुख से उत्कृष्ट मानने का आधार हमारी नैतिक प्रवृत्ति या 'गरिमा की भावना' है जिसके कारण मनुष्य शराबी के सुख की अपेक्षा पठन-पाठन के सुख को उच्च मानता है। इस तरह मिल अपने सिद्धान्त में बुद्धिवाद को ला देते हैं। पर इससे तो सुखवाद की तिलांजलि ही हो जाती है। मिल सुखवाद को इन्द्रियवाद से बचाने में असंगत बना डालते हैं। ठीक ही कहा गया है कि एरिस्टिपस से मिल तक सुखवाद का विकास सुखवादी सिद्धान्त के क्रमिक त्याग का सूचक है।[1]

10. सुख की परिगणना के लिए मिल ने 'योग्य निर्णायकों के निर्णय' को मापदण्ड माना है। वे जिस सुख को उत्कृष्ट मानें, वह उत्कृष्ट है और जिसे निकृष्ट बतलाएँ, वह निकृष्ट है।

पर उनके निर्णय का आधार क्या है? मिल के अनुसार यह आधार 'गरिमा की भावना' है जो प्रत्येक मनुष्य में स्वाभाविक रूप से पायी जाती है। यह 'गरिमा की भावना' सुख की इच्छा नहीं है, बल्कि यह बुद्धि की उपज है, अन्तरात्मा की पुकार है।[2] इस तरह मिल के सिद्धान्त में बुद्धिवाद का समावेश हो जाता है। इसका सुखवाद वास्तव में पूर्णतावाद की ओर इंगित करता है। सुख के भेद को बुद्धि या अन्तरात्मा ही बतलाती है, सुखबोधक इन्द्रियाँ नहीं।

---

1. "The progress of hedonism from Aristippus to Mill makes the gradual surrender of the hedonistic principle itself."
2. "The sense of dignity cannot be resolved into desire of pleasure ......It is the utterance of the rational self behind the sense of sensibility. Not the attainment of pleasure as such, but the finding of our pleasure in activities which are worthy of this higher and rational nature...such is the end set before us by our peculiar sense of dignity."
—Seth.

निष्कर्ष : बेन्थम, मिल आदि उपयोगितावादियों के 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के सिद्धान्त पर बल देने से राजनीति में अनेकों गणतांत्रिक सुधार हुए हैं। बहुत-सी सामाजिक बुराइयों को दूर करने में तथा गणतांत्रिक शासन के विकास में इस सिद्धान्त से सहायता मिलती है पर सामाजिक उत्थान को उन्होंने बहुत अंशों में भौतिक तथा शारीरिक सुखों से मिला दिया तथा बौद्धिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा धार्मिक मूल्यों पर बड़ा कम बल दिया। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि सुखवाद या उपयोगितावाद नैतिकता का सही सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

बारहवाँ अध्याय

विकासात्मक सुखवाद

विषय-प्रवेश

बेन्थम तथा मिल का सुखवाद अनुभववादी सुखवाद कहा जाता है, क्योंकि वे नैतिक नियमों को सुख-दुःख के अनुभव से प्राप्त करते हैं। हर्बर्ट, स्पेन्सर, लेजली, स्टीफेन तथा अलेक्जेन्डर का सुखवाद विकासात्मक सुखवाद कहा जाता है, क्योंकि इन लोगों ने नैतिक नियमों को जैवी विकास के नियम के आधार पर प्राप्त करने का प्रयास किया है। यद्यपि प्राचीन काल से ही नैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में विकासवाद के प्रयोग की चर्चा यत्र-तत्र मिलती है, पर सर्वप्रथम स्पेन्सर ने ही विकासवाद का प्रयोग नैतिक क्षेत्र में व्यवस्थित रूप से किया। आज बहुत से विचारक मानते हैं कि नैतिकता का विकास भी प्रकृति की तरह हुआ है। अतः विकास की दृष्टि से ही यह ठीक से समझा जा सकता है। पशुओं के नीतिशून्य व्यवहारों से ही नैतिकता का विकास हुआ है।

यदि हम विकासवाद को स्वीकार करते हैं तो केवल दो तरीकों से ही नैतिक जीवन की व्याख्या सम्भव है। या तो हमें विकास के प्रारम्भ से आरम्भ करना है या इसके अन्तिम फल से। प्रत्येक विकास में तीन बातें पायी जाती हैं—प्रारम्भ, प्रक्रिया तथा अन्त। पर इनमें हम केवल प्रक्रिया को ही वास्तव में देखते हैं, प्रारम्भ तथा अन्त (आदर्श जिस ओर विकास हो रहा है) हमसे छिपे रहते हैं। उदाहरणार्थ, हम केवल पशु-जीवन के वर्तमान रूप को ही देखते हैं। सबसे निम्नतम जैवी-रूप को हम नहीं जानते और न अन्तिम जैवी-रूप ही जाना जा सकता है। हम यह नहीं जानते कि भविष्य में पशु-जीवन कौन-सा रूप धारण करेगा। नैतिक जीवन के साथ भी यही बात है। नैतिक जीवन का सबसे निम्नतम रूप भी हमसे छिपा है और हम पूर्णतया विकसित नैतिक जीवन की भी स्पष्ट धारणा नहीं बना सकते। हम केवल नैतिक विकास की वर्तमान स्थिति को ही जानते हैं। नैतिक चेतना के विकाम की प्रक्रिया ही केवल दृष्टि-गोचर होती है। तथापि हम इस प्रक्रिया की व्याख्या या तो इसके प्रारम्भिक बिन्दु के द्वारा कर सकते हैं अथवा इसके लक्ष्य या अन्तिम आदर्श के द्वारा। विकासवादी इसकी व्याख्या प्रारम्भ की स्थिति के द्वारा ही करते हैं। वे ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग करते हैं। हीगेल, ग्रीन आदि आदर्शवादी इसकी व्याख्या अन्त या आदर्श के द्वारा करते हैं। वे प्रयोजनवादी पद्धति का प्रयोग

करते हैं। इन दोनों पद्धतियों में दूसरी पद्धति ही आचारशास्त्र के लिए उपयुक्त है, क्योंकि आचारशास्त्र का सम्बन्ध नैतिक जीवन की उत्पत्ति या इतिहास से उतना नहीं जितना नैतिकता के आदर्श से है। प्रारम्भिक स्थिति के माध्यम से व्याख्या करना प्राकृतिक विज्ञानों के लिए सही है। इसी कारण ग्रीन ने कहा है कि विकासवादी हमें 'नैतिकता का प्राकृतिक विज्ञान प्रदान करते हैं।'

विकासात्मक सुखवाद के सामान्य सिद्धान्त

विकासवादियों का कहना है कि नैतिक जीवन की समुचित व्याख्या पूर्वजों के अनुभवों से ही हो सकती है, क्योंकि विकास-क्रम में हर वर्तमान अवस्था अपनी पूर्व अवस्था का ही विकसित रूप है। इसीलिए विकासात्मक आचारशास्त्र मनुष्य की वर्तमान मानसिक तथा नैतिक प्रकृति की व्याख्या उसके पूर्वजों के इतिहास, वातावरण तथा व्यक्तियों की अन्तर क्रिया के द्वारा करता है। अन्तःकरण तथा सामाजिक भावना, जीवन-संग्राम, प्राकृतिक चुनाव तथा परिस्थितियों के अनुकूल बनने की क्रिया की ही आवश्यक उपज है।

विकासवाद के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने सभी पूर्वजों के सभी अनुभवों तथा योग्यताओं का सम्मिलित परिणाम है। मानव जाति का विकास व्यक्ति के विकास की तरह हुआ है। जिस प्रकार मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों को हम अपने माँ-बाप से प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार नैतिक शक्ति भी हमने अपने पूर्वजों से ही प्राप्त की है। पूर्वजों की पीढ़ी दर पीढ़ियों में क्रमिक रूप से संचित होती हुई इन शक्तियों को हमने वर्तमान में इस रूप में पायी है। परार्थवादी सहानुभूति-पूर्ण तथा सामाजिक प्रवृत्तियों को हमने इसी विकास क्रम में अपने पूर्वजों से प्राप्त किया है। इस तरह विकासवाद नैतिक प्रवृत्तियों को जन्मजात तथा अर्जित दोनों मानता है। ये प्रवृत्तियाँ हममें जन्मजात हैं पर वे हमारे पूर्वजों के अविछिन्न संचित अनुभव के परिणाम हैं। आनुवंशिक नियम के अनुसार जो गुण पिता में अभ्यास से प्राप्त होता है वह पुत्र में स्वभाव के रूप में परिणत हो जाता है। मौलिक नैतिक नियम यद्यपि पूर्वजों के अनुभवों पर आधारित है पर आनुवंशिकता के कारण वे हममें जन्मजात हो जाते हैं। इसी कारण नैतिक नियमों का हमें सहज-बोध होता है!

विकासात्मक सुखवाद की एक खास विशेषता है कि यह समाज के साव-यवात्मक स्वरूप को स्वीकार करता है। समाज व्यक्तियों का मात्र योग नहीं है। समाज तथा व्यक्तिय के बीच उस तरह का सम्बन्ध है जिस तरह का सम्बन्ध शरीर तथा उसके अंगों के बीच है। समाज शरीर है और व्यक्ति उसके अंग हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज तथा व्यक्ति के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

समाज के विकास पर ही व्यक्ति का विकास निर्भर है और व्यक्ति के विकास पर ही समाज का। व्यक्ति का वर्तमान शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक रूप इसी अन्तर क्रिया का परिणाम है। मनुष्य समाज की इकाई के रूप में ही जीता है। वह समाज का अभिन्न अंग है। सामाजिक भावनाएँ तथा प्रवृत्तियाँ समाज से ही उत्पन्न होती हैं तथा समाज के विकास के साथ ही उनका भी विकास होता है। मनुष्य इन प्रवृत्तियों को आनुवंशिकता के नियम द्वारा प्राप्त करता है। जिन जातियों में सामाजिक भावनाओं तथा प्रवृत्तियों का विकास नहीं होता है वे नष्ट हो जाती हैं या असभ्य तथा असंस्कृत स्थिति में रहती हैं। जिनमें इन गुणों का विकास होता है वे जीवन-संग्राम में सफल होती हैं और उन्नति के पथ पर अग्रसर होती रहती हैं। अब प्रश्न उठता है कि मनुष्य के निकटतम तथा अंतिम लक्ष्य क्या हैं? विकासवादियों के अनुसार मनुष्यों के कर्मों का निकटतम लक्ष्य है सामाजिक संस्थान का स्वास्थ्य। अन्तिम लक्ष्य है सुख या आनन्द की प्राप्ति। परम लक्ष्य की प्राप्ति निकटतम लक्ष्य की प्राप्ति से ही सम्भव है। अतः कर्मों का नैतिक मापदण्ड 'सामाजिक स्वास्थ्य' या 'सामाजिक शुभ' है; 'सुख' नहीं जैसा उपयोगितावादी मानते हैं।

अन्य सुखवादियों की तरह विकासवादी सुख की परिगणना आवश्यक नहीं समझते। बेन्थम ने सुख को मापने का तरीका बतलाया है और कहा है कि हमें वैसे ही कर्म करना चाहिए जिससे अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख की प्राप्ति हो। पर विकासात्मक सुखवाद के अनुसार ऐसी परिगणना अनावश्यक है। सामाजिक विकास के क्रम में मनुष्य को ऐसी सामाजिक प्रवृत्तियाँ पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिलती हैं जो उसे सामाजिक स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए प्रेरित करती हैं। इन जन्मजात प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य स्वभावतः ऐसे कर्मों को करता है जिसमें सामाजिक शुभ की वृद्धि होती है, क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करने से ही वह स्वयं सुखी हो सकेगा। अतः सुख की परिगणना प्रकृति ने ही कर रखी है। मनुष्य को उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

इस तरह हम पाते है कि विकास के सिद्धान्त में स्वार्थवाद तथा परार्थवाद के समन्वय की चेष्टा की गई है। मानव-आचरण के विकास-क्रम में ही धीरे-धीरे वैयक्तिक तथा सामाजिक शुभ के बीच सामंजस्य स्थापित होता आ रहा है। स्पेन्सर ने तो विश्वासपूर्वक एक ऐसे समाज की कल्पना की है जिसमें वैयक्तिक तथा सामाजिक शुभ बिल्कुल एक हो जाएँगे। तब नैतिक नियम तथा नैतिक बाध्यता दोनों ही अर्थहीन हो जाएँगे। सभी मनुष्य प्रेम तथा आनन्द से अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे। वैयक्तिक शुभ की प्राप्ति समाज के एक अभिन्न सदस्य के रूप में

अपने कर्त्तव्य पालन से ही प्राप्त होगी। सामाजिक शुभ की वृद्धि से ही वैयक्तिक शुभ की वृद्धि होगी।

अब प्रश्न उठता है कि तब आचारशास्त्र की क्या आवश्यकता है? यदि मनुष्य में सामाजिक प्रवृत्तियाँ जन्मजात हैं तथा वह स्वतः ऐसे कर्मों को करता है जिनसे सामाजिक संस्थान की स्वास्थ्य-वृद्धि होती है तब कर्मों के औचित्य-अनौचित्य की मीमांसा की क्या आवश्यकता है। विकासवादियों के अनुसार आचारशास्त्र का धर्म है जैविक तथा सामाजिक नियमों से नैतिक सिद्धान्तों का निगमनात्मक रीति से प्राप्त करना। स्पेन्सर का कहना है कि नैतिक विज्ञान का उद्देश्य है जीवन के नियमों तथा अस्तित्व की स्थितियों के अध्ययन के द्वारा यह जानना कि किन कर्मों से सुख की उत्पत्ति होती है तथा किन कर्मों से दुःख की। इस तरह प्राप्त निष्कर्ष ही आचरण के नियम होंगे। इनका पालन बिना सुख-दुःख के विचार किए ही मनुष्य को करना चाहिए। इस विवेचन से स्पष्ट है कि विकासात्मक सुखवाद की विधि निगमनात्मक है जबकि उपयोगितावाद या सुखवाद की विधि आगमनात्मक है।

आलोचना

1. विकासात्मक सुखवाद बेन्थम लादि के परिगणनात्मक सिद्धान्त को दोषपूर्ण बतलाता है। यह ठीक है, पर वह स्वयं अन्ध-प्रवृत्तियों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है। इसका यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता कि इन अन्धप्रवृत्तियों के द्वारा ही हमें वैसे कर्मों का संकेत मिलता है जिनसे सामाजिक स्वास्थ्य की वृद्धि होती है।

2. उपयोगितावाद की तरह विकासात्मक सुखवाद भी नैतिकता के सही मापदण्ड तथा नैतिक बाध्यता के वास्तविक आधार को प्रस्तुत करने में सफल नहीं होता है।

3. विकासात्मक सुखवाद सुख को चरम लक्ष्य मानता है, पर कहता है, कि सीधे सुख को लक्ष्य बनाने से सुख की प्राप्ति नहीं होगी। हमारा निकटतम लक्ष्य होना चाहिए समाजरूपी शरीर की स्वास्थ्य-वृद्धि। ऐसा लक्ष्य अपनाने से ही हमें सुख की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि सामाजिक सुख में ही वैयक्तिक सुख निहित है। यह विचार सुखवादी मत को त्याग कर पूर्णतावादी मत की ओर संकेत करता है। व्यक्ति अपने में अपूर्ण हैं, पूर्णता के लिए उसे अपने को समूह में विलीन कर देना चाहिए। ऐसा मानना सुखवाद का त्याग नहीं तो और क्या है?

4. वर्तमान विकासवाद का सिद्धान्त सुखवादी सिद्धान्त के प्रतिकूल है। किसी वस्तु से हमें सुख इसलिए मिलता है, क्योंकि हम उसे चाहते हैं। उससे हमें सुख

मिलता है, इसलिए हम उसकी इच्छा नहीं करते। अतः हम सुख की इच्छा नहीं करते बल्कि किसी वस्तु की इच्छा करते हैं जिसकी प्राप्ति से हमें सुख मिलता है।

5. ऐसा मानना गलत है कि जैविक विकास मानसिक तथा नैतिक विकास की व्याख्या करता है। मनुष्य की विवेकी तथा नैतिक प्रकृति का विकास अविवेकी तथा नीतिशून्य तत्वों से सम्भव नहीं है। ऐसा मानने में वैज्ञानिक नियम 'शून्य से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती' का खण्डन होता है। विकास केवल अव्यक्त को व्यक्त करता है, कोई नई सृष्टि नहीं करता। इसी कारण डा० वैलेस जैविक विकास के समर्थक होते हुए भी यह स्वीकार नहीं करते कि जैविक विकास बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की व्याख्या करता है।

6. जैविक तथा नैतिक विकास में मौलिक अन्तर है। जैविक विकास में बलवान की विजय होती है। इसमें बलवान कमजोर को सताता है और उसे नष्ट कर देता है। इसमें अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ता है और प्रत्येक व्यक्ति सिर्फ अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है, दूसरों के लिए नहीं। इसके विपरीत नैतिक विकास में बलवान् वह समझा जाता है जो दूसरों की सहायता करता है, जो कमजोर और दुःखी के प्रति सहानुभूति, प्रेम और दया दिखलाता है। वह केवल अपने अस्तित्व के लिए ही संघर्ष नहीं करता अपितु दूसरों को भी जीवन-संघर्ष में सहायता प्रदान करता है, अयोग्य को भी जीवन-संघर्ष में सफल होने योग्य बनाता है। कभी-कभी नैतिक दृष्टि से बलवान् व्यक्ति कमजोर को जीवन-संग्राम में सफल बनाने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग भी कर देता है। इस तथ्य को हक्सले जैसे प्रसिद्ध विकासवादी भी स्वीकार करते हैं। अतः नैतिकता के क्षेत्र में विकासवाद का प्रयोग अनुचित है।

7. अन्त में, विकासवाद नैतिक जीवन के विकास की व्याख्या करता हो या नहीं, वह नैतिक आदर्श की व्याख्या तो नहीं ही कर पाता है। आचारशास्त्र आदर्श-निर्धारक विज्ञान है, यथार्थवादी विज्ञान नहीं। अतः इसका लक्ष्य नैतिकता का प्राकृतिक विज्ञान प्रस्तुत करना नहीं है जैसा विकासवाद मानता है, बल्कि इसका उद्देश्य है नैतिकता का आदर्श निर्धारित करना। मानव कर्मों का अन्तिम लक्ष्य क्या है तथा कोई एक कर्म दूसरे कर्म से क्यों अधिक वांछनीय है—इन प्रश्नों का उत्तर विकासवाद नहीं दे पाता। विकासवाद केवल नैतिक विकास का इतिहास प्रस्तुत करता है। वह केवल यह बतलाता है कि नैतिक भावनाओं तथा विचारों का विकास किस प्रकार आरम्भिक अवस्था से वर्तमान रूप में हुआ है। वह यह नहीं बतलाता कि नैतिक आदर्श क्या है।

जैसा कि हम प्रारम्भ में कह चुके हैं, स्पेन्सर, स्टीफन तथा अलेक्जेंडर इसके तीन प्रमुख समर्थक हैं। अब हम तीनों विकासवादियों के विचारों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

हर्बर्ट स्पेन्सर का विकासात्मक सुखवाद

स्पेन्सर के अनुसार नैतिकता विकास का परिणाम है। जैविक नियमों से ही नैतिकता उत्पन्न होती है। वे नैतिक नियमों को जैविक नियमों से निगमन विधि द्वारा प्राप्त करते हैं।[1] मनुष्य की सारी क्रियाएँ अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए ही होती हैं। जो क्रियाएँ इस अभियोजन में सहायक होती हैं उन्हें शुभ या उचित कहा जाता है। शुभ क्रियाओं से हमें सुख मिलता है तथा अशुभ क्रियाओं से दुःख उत्पन्न होता है। प्रायः सभी व्यवहार अंशतः शुभ और अंशतः अशुभ होते हैं। पूर्णतः शुभ व्यवहार वह है जिससे दुःख-रहित सुख की उत्पत्ति होती है। वह व्यवहार सापेक्ष शुभ है जिससे अधिक सुख और कम दुःख की उत्पत्ति होती है। वह व्यवहार सापेक्ष अशुभ है जिससे अधिक दुःख और कम सुख मिलता है। शुभ व्यवहार से जीवन का उत्कर्ष होता है तथा अशुभ व्यवहार से जीवन का अपकर्ष।

स्पेन्सर का यह मत सुखवादी है और यह जैविक आधार पर स्थित है। सुख जीवन-वृद्धि का सूचक है और दुःख उसके ह्रास का। जीवन-वृद्धि की प्रवृत्ति पशु तथा मनुष्य में जन्मजात है। अतः पशु तथा मनुष्य स्वभावतः सुख की खोज करते हैं तथा दुःख का परित्याग।

स्पेन्सर के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। पर सन्निकट लक्ष्य स्वस्थ तथा दीर्घ-जीवन की प्राप्ति। नैतिकता के ये ही सन्निकट लक्ष्य हैं। इनकी प्राप्ति द्वारा ही चरम लक्ष्य, 'सुख' की प्राप्ति सम्भव है। अतः सुख ही सम्पूर्ण शुभ है।[2]

स्पेन्सर का कथन है कि जीवन-संरक्षण के लिए मानव-प्रकृति पर कुछ बाह्य दबाव होना आवश्यक है। उनके अनुसार ये बाह्य दबाव तीन प्रकार के हैं—राज-

1. "The business of Moral Science is to deduce from the laws of life what kinds of action necessariiy tend to produce happiness and what kinds tend to produce unhappness. Its deductions are to be recognized as laws of conduct, and are to be conformed to irrespective of a direct estimation of happiness or misery."
—Herbert Spencer

2. "Pleasure is the good and the whole good and that there is no other good than pleasure."
—Theory of Good and Evil, Vol. II, P. 379, Spencer.

नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक (बेन्थम के बाह्य आदेशों से इनकी तुलना की जा सकती है) स्पेन्सर बाह्य दबाव के अतिरिक्त एक आन्तरिक दबाव भी मानते हैं जिसे वे नैतिक दबाव कहते हैं। सच्चा नैतिक दबाव नैतिक बाध्यता की अनुभूति अथवा कर्त्तव्य की भावना है।

नैतिक बाध्यता में दो तत्त्व हैं—प्रभुता तथा दबाव। स्पेन्सर के अनुसार बाद की विकसित भावनाओं का प्रभुत्व पूर्व विकसित भावनाओं पर सदा रहा है। दूसरा तत्त्व है बाहरी दबाव और यह तीन प्रकार का है—राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक। कर्त्तव्य की भावना की उत्पत्ति मनुष्य के समाज के साथ अपूर्ण सामंजस्य के कारण होती है। अतः यह कर्त्तव्य-बोध या नैतिक दबाव स्थायी नहीं है। जब व्यक्ति का वातावरण के साथ पूर्ण सामंजस्य हो जायेगा तो यह बाध्यता लुप्त हो जायेगी।[1] मनुष्य अभ्यासवश ही उचित कर्म करेगा और ऐसा करने से उसे सन्तुष्टि का अनुभव होगा। इस तरह स्वार्थ तथा परार्थ का एकीकरण हो जायेगा। मानव स्वभावतः परार्थी तथा स्वार्थी दोनों है। स्वार्थवाद तथा परार्थवाद दोनों का विकास साथ-साथ हुआ है। दोनों में से कोई भी सिद्धान्त शुद्ध रूप में ग्राह्य नहीं है। यदि स्वार्थवाद अनुचित है तो साथ-साथ परार्थवाद भी। दोनों का समन्वय ही शुभ है।

स्पेन्सर निरपेक्ष आचारशास्त्र तथा सापेक्ष आचारशास्त्र में अन्तर करते हैं। निरपेक्ष आचारशास्त्र का सम्बन्ध मानव-जीवन की उस स्थिति से है जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच पूर्ण सामंजस्य की स्थापना हो जायगी। सापेक्ष आचारशास्त्र का सम्बन्ध वर्तमान मानव-जीवन से है जब व्यक्ति का वातावरण के साथ पूर्ण सामंजस्य नहीं है। केवल वही आचरण निरपेक्ष रूप से उचित है जिससे दुःख-रहित शुद्ध सुख की प्राप्ति होती है। वह आचरण सापेक्ष रूप से उचित है जिससे अधिक सुख और कम दुःख की उत्पत्ति होती है।

आलोचना

1. विकासवाद नैतिकता के विकास की व्याख्या कर सकता है, इसकी उत्पत्ति की नहीं। यथार्थ से आदर्श की उत्पत्ति असम्भव है। नीति-शून्य तत्त्वों से नैतिकता का विकास नहीं हो सकता। आचारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है नैतिक आदर्श को निर्धारित करना, नैतिक प्रत्ययों के विकास क्रम की खोज करना नहीं।

2. मैकेंजी के अनुसार स्पेन्सर के सिद्धान्त में चक्रक-दोष है। वातावरण के साथ सामंजस्य का क्या अर्थ है? यह सामंजस्य तभी अर्थपूर्ण होगा जब हम किसी

1. "The sense of duty or normal obligation is transitory and will diminish as fast as moralisation increases..."—Spencer,

आदर्शरूपी सामंजस्य के द्वारा इसका मूल्यांकन करें।[1] अतः सामंजस्य आवश्यक रूप से किसी लक्ष्य या आदर्श का संकेत करता है। इस आदर्श द्वारा ही सामंजस्य की व्याख्या हो सकती है, सामंजस्य द्वारा आदर्श की नहीं। नैतिक जीवन में भौतिक तथा सामाजिक वातावरण को मनुष्य अपने नैतिक आदर्श के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है। बाह्य को अन्तः के अनुकूल बनाया जाता है, अन्तः को बाह्य के अनुकूल नहीं।

3. जैविक विकास के सिद्धान्त, यथा प्राकृतिक चुनाव, योग्यतम की रक्षा आदि नैतिकता पर लागू नहीं हो सकते। नैतिकता के क्षेत्र में शक्ति की नहीं, औचित्य की विजय होती है। इसमें व्यक्ति सिर्फ अपनी रक्षा का प्रयास नहीं करता; बल्कि दूसरों को भी उनके रक्षा प्रयास में मदद करता है।

4. नैतिक विकास जीवन-विकास का अंग नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें संकल्प स्वतन्त्र्य होता है जबकि जीवन-विकास में इसका अभाव रहता है।

5. सुख और दुःख की जीवशास्त्रीय व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। सुख जीवन-वृद्धि का सूचक नहीं है, बल्कि जीवन-शक्ति का व्यय है। सुख कर्म की प्रेरणा नहीं है; बल्कि इसका परिणाम है। पुनः अनेक उपयोगी क्रियाएँ जिनसे जीवन-वृद्धि होता है, यथा पाचन क्रिया, श्वांस लेना आदि सुखप्रद नहीं हैं।

6. स्वस्थ तथा दीर्घ जीवन जैविक आदर्श हो सकता है, नैतिक आदर्श नहीं। जीवन जितना ही दीर्घ एवं जटिल होता है जीवन-संग्राम उतना ही कठिन एवं कष्टमय होता है।

7. राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक नियंत्रणों से 'चाहिए की भावना' उत्पन्न नहीं हो सकती जो नैतिकता के लिए आवश्यक है। ये बाह्य दबाव नैतिक बाध्यता की व्याख्या नहीं कर सकते। नैतिकता के लिए आवश्यकता है आत्म-नियंत्रण की, न कि बाहरी दबाव की।

8. स्पेन्सर नैतिक बाध्यता या कर्त्तव्य की भावना को स्थायी नहीं मानते। पर ऐसा मानना गलत है। नैतिक विकास के साथ-साथ नैतिक आदर्श भी उच्च होते जाते हैं। अतः विकास की किसी भी अवस्था में नैतिक बाध्यता लुप्त नहीं हो सकती; बल्कि वह और गहरी होती जाती है।

9. निरपेक्ष आचारशास्त्र का विचार नैतिकता के आधार को ही नष्ट कर देता है। नैतिक विकास-क्रम में यथार्थ तथा आदर्श का द्वन्द्व कभी भी समाप्त नहीं हो सकता।

1. "Adjustment seems to have no meaning unless we presuppose some ideal form of adjustment, some end that is consciously or unconsciously, sought."

—Manual of Ethics, pp. 199-200, Mackenzie.

लेजली स्टीफेन का विचार

स्टीफेन समाज को शरीररूप मानते हैं तथा व्यक्तियों को शरीर के अंग। समाज से अलग व्यक्तियों का अस्तित्व सम्भव नहीं है। समाज तथा व्यक्तियों के बीच आन्तरिक तथा सावयवात्मक सम्बन्ध हैं, बाह्य तथा यांत्रिक नहीं।[1] समाज तथा वातावरण के बीच चलती हुई क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण समाज बढ़ता और विकसित होता है। व्यक्ति का समाज के साथ सामंजस्य प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास चलता रहता है। जीवन का चरम लक्ष्य समाज-रूपी शरीर के स्वास्थ्य की वृद्धि है। वह कर्म उचित है जो इस लक्ष्य प्राप्ति में सहायक है और वह अनुचित जो इसकी प्राप्ति में बाधक है। स्वास्थ्य और सुख में विरोध नहीं है। स्वास्थ्यजनक कर्म सुखप्रद और हानिकारक कर्म दुःखप्रद होते हैं। नैतिक नियमों से समाज-रूपी शरीर को स्वास्थ्य वृद्धि होती है। समाज के विकास के साथ-साथ व्यक्तियों में सहानुभूति की भावना भी विकसित होती है। सहानुभूति एक सामाजिक भावना है।

स्टीफेन स्पेन्सर के निरपेक्ष आचारशास्त्र के विचार की निन्दा करते हैं। वे किसी परम लक्ष्य को नहीं मानते जिसकी ओर समाज बढ़ रहा है। वे समाज के वर्तमान रूप को ही मानते हैं और इसकी उत्तरोत्तर स्वास्थ्य-वृद्धि को ही लक्ष्य समझते हैं। पुनः स्पेन्सर व्यक्तिवादी हैं पर स्टीफेन समाजवादी हैं क्योंकि इनके अनुसार सामाजिक सुख में ही व्यक्ति का सुख निहित है।

आलोचना

यह सही है कि समाज तथा व्यक्ति के बीच यान्त्रिक सम्बन्ध नहीं है; बल्कि यह सम्बन्ध बहुत कुछ शरीर तथा उसके अंगों के सम्बन्ध जैसा है। पर यह एक उपमा मात्र है और इस उपमा को बहुत दूर तक ले जाना उचित नहीं।

अंगों का शरीर से स्वतन्त्र जीवन सम्भव नहीं है, पर व्यक्ति का समाज से स्वतन्त्र जीवन होता है। समाजरूपी शरीर सुख-दुःख की अनुभूति नहीं कर सकता, उसका अनुभव व्यक्ति ही करता है। समाज कोई चेतन वस्तु नहीं और न उसका चेतन-केन्द्र ही होता है। समाज व्यक्तियों में उनके सामाजिक या विवेक आत्मा के रूप में ही जीता है।

समाज-रूपी शरीर के स्वास्थ्य की बात भी एक उपमा मात्र है। इसका अर्थ है व्यक्तियों का सुख, समाज का नहीं; क्योंकि व्यक्ति ही सुख का अनुभव कर सकते हैं। नैतिक जीवन का केन्द्र व्यक्ति में ही है, उसके बाहर नहीं। समाजरूपी शरीर के स्वास्थ्य को नैतिक मापदण्ड मानकर स्टीफेन सुखवाद का परित्याग कर आत्मपूर्णतावाद की ओर अग्रसर होते हैं। सामाजिक स्वास्थ्य का अर्थ आवश्यक रूप

1. "Society may be regarded as an organism, implying a social tissue' modified in various ways so as to form the organs adapted to various specific purposes."—Leslie Stephen.

से व्यक्ति का सुख नहीं है यद्यपि यह उसकी आवश्यक शर्त्त है। सामाजिक शरीर के स्वास्थ्य को जीवन का चरम लक्ष्य मानना आत्म-पूर्णतावाद को ही स्वीकार करना है। इसके अनुसार समाज द्वारा ही आत्मपूर्णता की प्राप्ति सम्भव है।

अलेक्ज़ेन्डर का विचार

प्रो० अलेक्जेन्डर के अनुसार सामाजिक व्यवस्था की साम्यावस्था सर्वोच्च शुभ है। इनका मत प्रायः वही है जो लेजली स्टीफेन का है। ये समाज रूपी शरीर के स्थान पर सामाजिक-व्यवस्था शब्द का व्यवहार करते हैं। यह साम्यावस्था मानव-व्यवहार में पूर्ण सामंजस्य की अवस्था है। इनके अनुसार पूर्ण सामाजिक सामंजस्य ही नैतिक आदर्श है। इस नैतिक आदर्श की उत्पत्ति प्रतियोगी प्रवृत्तियों के बीच सामंजस्य की स्थापना से होती है। यह अवस्था प्रतियोगी प्रवृत्तियों के बीच साम्यावस्था लाती है। यह सामंजस्य ही शुभ है।[1]

पशुओं में प्राकृतिक चुनाव का अर्थ है योग्यतम (सबसे बलवान) की विजय पर नैतिक क्षेत्र में इसका अर्थ है सबल आदर्शों के द्वारा दुर्बल आदर्शों की पराजय। यह पराजय पशु-बल द्वारा नहीं; नैतिक प्रोत्साहन द्वारा होती है।

आलोचना

अलेक्जेन्डर का मत प्रायः लेजली स्टीफेन के मत जैसा है। अतः इसके विरुद्ध भी वे आपत्तियाँ सही हैं जो स्टीफेन के मत के विरुद्ध दी गई हैं। सामाजिक व्यवस्था की साम्यावस्था क्यों परम शुभ है? नैतिक विकास की व्याख्या आदर्श द्वारा ही हो सकती है, विकास-प्रक्रिया आदर्श की व्याख्या नहीं कर सकती। अंत में, अलेक्जेन्डर स्वीकार करते हैं कि नैतिकता में प्राकृतिक चुनाव का अर्थ योग्यतम की विजय नहीं बल्कि सबल आदर्शों की विजय है। इसको प्राकृतिक चुनाव नहीं कहा जा सकता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैविक विकास नैतिक मूल्यों की व्याख्या करने में असमर्थ है।

स्पेन्सर, स्टीफेन तथा अलेक्जेन्डर के विचारों की तुलना करने पर यह पाया जाता है कि अन्य दो की अपेक्षा

1. स्पेन्सर का सिद्धान्त अधिक सुखवादी है,
2. उनका सिद्धान्त अधिक व्यक्तिवादी है,
3. वे निरपेक्ष तथा सापेक्ष आचारशास्त्र में अन्तर बतलाते हैं जो अन्य दोनों को मान्य नहीं है।

1. "This moral ideal is an adjusted order of conduct, which is based upon contending inclinations and establishes an equilibrium between them. Goodness is nothing but this adjustment in the equilibrated whole." —Alexander.

तेरहवाँ अध्याय

बुद्धिमूलक उपयोगितावाद

सिजविक का बुद्धिमूलक उपयोगितावाद

सिजविक के अनुसार सुख ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। सुख हमारे कर्मों का अन्तिम लक्ष्य है। सभी कर्म इसी लक्ष्य की प्राप्ति के साधन मात्र हैं। पर सुख किसी लक्ष्य की प्राप्ति का साधन नहीं। यह सदा लक्ष्य ही रहता है, कभी साधन नहीं बनता। यह अपना लक्ष्य स्वयं है। अतः यह स्वतः मूल्यवान् तथा शुभ है। ज्ञान, सौन्दर्य, पुण्य आदि सुख के साधन मात्र हैं। अतः वे साधन के रूप में ही मूल्यवान् हैं।[1] सुख ही अन्तिम वांछनीय मूल्य है। इस सुख का ज्ञान हमें बुद्धि से मिलता है। अतः सिजविक का कहना है कि हमें सुख की ही खोज करनी चाहिए। ये सुख तथा आनन्द में अन्तर नहीं मानते हैं। उनका यह विचार सुखवादी है।

पर सिजविक का सुखवाद बेन्थम तथा मिल के सुखवाद से भिन्न है। बेन्थम तथा मिल मनोवैज्ञानिक सुखवाद के समर्थक हैं। उनका कहना है कि मनुष्य स्वभावतः सुख की खोज करता है और दुःख का परित्याग करता है। सिजविक कहते हैं कि मनुष्य स्वभावतः सुख की खोज नहीं करता। मनुष्य को सुख की खोज करनी चाहिए। अतः सिजविक मनोवैज्ञानिक सुखवाद का खंडन कर नैतिक सुखवाद का समर्थन करते हैं। सुख को हमें अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझना चाहिए और उसी की खोज करनी चाहिए। इसका ज्ञान हमें बुद्धि देती है।[2]

सिजविक के अनुसार बुद्धि ही हमें यह बतलाती है कि जीवन का चरम लक्ष्य सुख है। अतः सिजविक के सुखवाद को बुद्धिमूलक सुखवाद कहते हैं। बुद्धि को यह ज्ञान तर्क द्वारा नहीं बल्कि सहजबोध के द्वारा होता है। अतः इसे अन्तः अनुभूतिवादी सुखवाद भी कहा जाता है। बुद्धि अपने सहजबोध के द्वारा केवल चरम शुभ का ही ज्ञान नहीं देती बल्कि अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में उसके वितरण के सिद्धान्तों को भी बतलाती है। परम शुभ चेतना की

1. "Pleasure or happiness is the ultimate good. Knowledge, beauty and other objects which are considered by some to have intrinsic value are only means to happiness."—Sidgwick.
2. When we sit down in a cool hour we perceive that there is nothing which it is reasonable to seek i. e., nothing which is desirble in itself—except pleasure.''—Sidgwick.

वांछनीय अवस्था है जिसे सुख कहा जाता है। इसका ज्ञान अनुभव द्वारा नहीं होता बल्कि बुद्धि के सहजबोध द्वारा होता है। 'क्या है' के अनुभव से 'क्या होना चाहिए' का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः सिजविक का सिद्धान्त बुद्धिमूलक उपयोगितावाद कहा जाता है जबकि बेन्थम तथा मिल के सिद्धान्त को अनुभववादी उपयोगितावाद कहते हैं। नैतिक आदर्श या मापदण्ड के विषय में सिजविक का मत सुखवादी है, पर नैतिक शक्ति के विषय में उनका मत बुद्धिवादी तथा उसके स्वरूप के विषय में अन्तःअनुभूतिवादी है। सिजविक इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि नैतिकता तार्किक तथा प्रागनुभविक निर्णयों पर आधारित है।

सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के साधन

बुद्धि से केवल सर्वोच्च शुभ का ही सहजबोध नहीं होता बल्कि उसकी प्राप्ति के साधन यथा, दूरदर्शिता, परोपकारिता तथा न्याय का भी बोध होता है। ये तीन साधन वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में सुख के वितरण के तीन तार्किक सिद्धान्त हैं :

(अ) दूरदर्शिता : आत्म-प्रेम केवल क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिए हमें प्रवृत्त करता है। पर बुद्धि जन्म-जात आत्म-प्रेम को शिक्षित कर सुखी जीवन की ओर अग्रसर करती है। जीवन के प्रत्येक क्षण के प्रति निष्पक्ष रहना चाहिए तथा वर्तमान एव भविष्य का समान रूप से विवेचन करते हुए अपने सुखों को चुनना चाहिए। हमें सम्पूर्ण जीवन के सुख को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए, किसी खास क्षण के सुख को नहीं। वर्तमान न्यून सुख का परित्याग करना चाहिए यदि इससे भविष्य में अधिक सुख मिलने की सम्भावना हो।[1] यही दूरदर्शिता का सिद्धान्त है जो हमें अपने जीवन में सुख के उचित वितरण में सहायता पहुँचाता है।

(ब) परोपकारिता : परोपकारिता बतलाती है कि हमें दूसरों के सुख को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण समझना चानिए जितना हम अपने सुख को समझते हैं। अनुभव स्वार्थवाद तथा परार्थवाद के बीच की खाई को नहीं हटा सकता। बुद्धि ही इस खाई को पाटने में समर्थ है। जब सुख स्वतः मूल्यवान् है तो दूसरे का सुख उतना ही महत्त्व रखता है जितना अपना सुख। अतः हमारा लक्ष्य केवल अपने सुख की प्राप्ति नहीं होना चाहिए बल्कि 'सब मिलाकर अधिकतम सुख' अर्थात् सामान्य सुख की प्राप्ति होना चाहिए। बुद्धि ही ऐसी निर्देश देती है। सामान्य सुख के लिए आवश्यकता पड़ने पर वैयक्तिक सुख का परित्याग करना

1. "A smaller present good is not to be preferred to a greater future good". —Sidgwick.

चाहिए। यह नहीं, बल्कि बुद्धि यह भी बतलाती है कि दूसरे के अधिक सुख के बदले हमें अपने सुख को पसन्द नहीं करना चाहिए।[1]

इस परोपकारिता के नियम द्वारा ही हम सुख का उचित वितरण अपने तथा दूसरों के बीच कर पाते हैं। सिजविक का सुखवाद इसी कारण उपयोगितावाद कहा जाता है।

(स) न्याय : जीवन के प्रत्येक क्षण का समान महत्त्व नहीं होता। कुछ क्षण अन्य की अपेक्षा सुखोत्पादन की अधिक क्षमता रखते हैं। इसी प्रकार सभी व्यक्ति बिल्कुल समान नहीं हैं, कुछ व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक सुख भोग के योग्य हैं। सुख के उपभोग की क्षमता उनमें अन्य व्यक्तियों से अधिक है। अतः न्याय हमें बतलाता है कि जीवन के उन क्षणों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए जिनसे अधिक सुख की उत्पत्ति होती है। इसी तरह जो व्यक्ति सुख के उपभोग की अधिक क्षमता रखते हैं, उन्हें सुख-प्राप्ति के अधिक अवसर मिलने चाहिए।

इस प्रकार दूरदर्शिता वर्तमान क्षणों के नहीं अपितु सम्पूर्ण जीवन के सुख-लाभ का आदेश देती है। परोपकारिता केवल व्यक्तियों के निजी सुख का आदेश नहीं देती बल्कि मानव जाति के सुख का आदेश देती है। न्याय आदेश देता है कि जीवन के अधिक उपयोगी क्षणों तथा अधिक योग्य व्यक्तियों के अधिक सुख से ही सम्पूर्ण मानव के अधिकतम सुख की प्राप्ति सम्भव है।

मूल्यांकन

1. सुख को मानव-जीवन का सर्वोच्च शुभ नहीं माना जा सकता। मानव प्रकृति संवेदनशील तथा विचारशील दोनों है। अतः सुख या ऐन्द्रिय शुभ सम्पूर्ण आत्मा को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। सिजविक सिर्फ भावना को मानव-प्रकृति का आवश्यक तत्त्व समझते हैं। पर उनका ऐसा समझना गलत है। मानव-प्रकृति में भावना, विचार तथा क्रिया तीनों तत्त्व पाए जाते हैं। अतः उसका सही आदर्श वही हो सकता है जो इन तीनों तत्त्वों को सन्तुष्ट करे। अतः पूर्णता ही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य हो सकती है।[2]

---

1. "I ought not to prefer my own lesser good to the greater good of another".
—Sidgwick.
2. "The man is Reason, Feeling, Will, and the Ideal state for man is an Ideal state of all three elements in his nature in their ideal relation to one another".
—Theory of good and Evil, Vol. I, p, 78.

2. सिजविक सिर्फ सुख को स्वतः शुभ मानते हैं तथा ज्ञान और धर्म को इसकी प्राप्ति का मात्र साधन समझते हैं। पर ज्ञान तथा धर्म भी स्वतः शुभ हैं; क्योंकि मानव-जीवन में ज्ञान तथा धर्म का उतना ही महत्त्व है जितना भावना का।

3. सिजविक स्वार्थवाद तथा परार्थवाद में समन्वय स्थापित नहीं कर पाते। दूरदर्शिता सम्पूर्ण जीवन के अधिकतम आत्म-सुख का आदेश देती है और परोपकारिता सम्पूर्ण मानव-जाति के अधिकतम सुख का आदेश देती है। इन दोनों आदेशों में द्वन्द्व है, क्योंकि एक का आदर्श है अधिकतम वैयक्तिक सुख तथा दूसरे का सम्पूर्ण मानव-जाति का अधिकतम सुख। इसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं और इसे व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत कहते हैं। सिजविक इस द्वैत का परिहार नहीं कर पाते।

4. सिजविक के ये तीनों सिद्धान्त आचारशास्त्र के सिर्फ परिमाणात्मक पक्ष का विवेचन करते हैं। वे यह नहीं बतलाते कि किस स्थिति में कौन-सा कर्म शुभ है। वे केवल सामान्य रूप से यह बतलाते हैं कि कम सुख की अपेक्षा अधिक सुख वांछनीय है।

5. सिजविक का मत उपयोगितावाद तथा बुद्धिवादी अन्तःअनुभूतिवाद का असंगत मिश्रण है। अन्तःकरण या व्यावहारिक बुद्धि सुख को परम शुभ बतलाती है। पर सुख की प्राप्ति से ही बुद्धि को आवश्यक रूप से सन्तोष नहीं होता, क्योंकि बुद्धि की आवश्यकता ज्ञानात्मक होती है। अतः बुद्धि द्वारा दिया गया परम शुभ अबौद्धिक हो जाता है।

6. अन्त में, सिजविक सुख को ही परम शुभ मानते हैं तथापि वे सुख के अतिरिक्त सुखप्रदता, युक्तियुक्तता आदि को भी कर्मों का लक्ष्य बतलाते हैं। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि ये दोनों दो विभिन्न मापदण्ड हैं।

सिजविक बुद्धि की नींव पर सुखवाद की इमारत खड़ी करने का प्रयास करते हैं; पर इससे उनका सुखवाद कमजोर हो जाता है। अतः बुद्धिवादी उपयोगितावाद भी असंगत सिद्धान्त प्रतीत होता है।

चौदहवाँ अध्याय

अन्तःअनुभूतिवाद

अन्तःअनुभूतिवाद के सामान्य सिद्धान्त

अन्तःअनुभूतिवाद[1] वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार कर्मों का औचित्य-अनौचित्य उनके परिणाम या उद्देश्य पर निर्भर नहीं करता बल्कि उनके आन्तरिक स्वभाव पर निर्भर करता है। कर्म स्वतः उचित या अनुचित होते हैं। नैतिक गुण कर्मों में उसी प्रकार निहित हैं जिस प्रकार भौतिक गुण भौतिक वस्तुओं में। नैतिक गुण स्वतन्त्र हैं, कर्म के उद्देश्य या फल या अन्य किसी बात पर निर्भर नहीं करते। इस तरह अन्तःअनुभूतिवाद के अनुसार कर्मों में नैतिक गुण अन्तर्भूत हैं। वे अपने स्वभाव के कारण ही उचित या अनुचित होते हैं।

नैतिक गुण मौलिक तथा अव्युत्पन्न होते हैं। ये किसी मूल सिद्धान्त या नियम पर आधारित नहीं होते हैं। बुद्धि या अन्य किसी शक्ति या नियम से नैतिक गुण उत्पन्न नहीं होते। बुद्धि उचित को अनुचित या अनुचित को उचित नहीं बना सकती। जो उचित है वह उचित रहेगा और जो अनुचित है, वह अनुचित ही रहेगा। इसमें परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है।

नैतिक गुण अनुपम होते हैं। इन्हें सत्य, सौन्दर्य, सुख या सामाजिक उपयोगिता के रूप में नहीं बदला जा सकता। कोई कर्म इसलिए उचित या अनुचित नहीं होता कि उससे सुख या किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति होती है या नहीं, वह अपने स्वभाव के कारण उचित या अनुचित होता है। दूसरे शब्दों में, अन्तःअनुभूतिवाद अप्रयोजनवादी सिद्धान्त है। इसके अनुसार नैतिक कर्मों का कोई प्रयोजन या लक्ष्य नहीं होता।

नैतिक गुण वस्तुनिष्ठ होते हैं। उनका अस्तित्व हमसे स्वतन्त्र है। जिस तरह भौतिक गुणों का अस्तित्व हमसे स्वतन्त्र है, उसी तरह नैतिक गुणों का अस्तित्व भी हमारे विचार या ज्ञान पर निर्भर नहीं है।

नैतिक गुण प्रागनुभविक होते हैं। वे अनुभव से उत्पन्न नहीं होते।

---

1. 'इनट्यूशनिज्म' (अन्तःअनुभूतिवाद) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'इनट्यूरी' से हुई है जिसका अर्थ होता है 'देखना'। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मों को देखने मात्र से उनके बौद्धिक गुणों का ज्ञान हो जाता है।

नैतिक गुणों का ज्ञान हमें अन्तःकरण से होता है। अब प्रश्न है कि अन्तःकरण का स्वरूप क्या है तथा यह किस तरह नैतिक गुणों का ज्ञान प्राप्त करता है ? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जाते हैं जिसके कारण अन्तःअनुभूतिवाद के दो रूप हो जाते हैं। एक उत्तर यह है कि अन्तःकरण भी एक इन्द्रिय की तरह है जिसे बिना किसी युक्ति के ही कर्मों के नैतिक गुणों का सहजबोध हो जाता है। यह विचार अदार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद का है। इससे भिन्न दूसरा विचार है दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद का। उसका कहना है कि अन्तःकरण की प्रकृति बौद्धिक है जो सहज रूप में नैतिक गुणों को जान लेता है और तब उनके आधार पर कर्मों को उचित या अनुचित बतलाता है। दोनों रूप यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक गुणों का ज्ञान अन्तःकरण को साक्षात् रूप से होता है। वही कर्मों पर नैतिक निर्णय देता है।

अन्तःअनुभूतिवाद के अनुसार अन्तःकरण ही नैतिकता का मापदण्ड है। उसके ही आदेश नैतिक नियम हैं। वह जिन कर्मों को उचित बतलाता है, वे उचित हैं और जिन कर्मों को अनुचित, वे अनुचित हैं।

अन्तःकरण की ये विशेषताएँ हैं :

1. अन्तःकरण सरल और अव्युत्पन्न होता है।
2. इसके निर्णय सहज एवं अपरोक्ष होते हैं।
3. यह प्रभुत्वसम्पन्न होता है। यह हमें आदेश देता है कि अमुक कर्म करो और अमुक कर्म मत करो। यह जिस कर्म को करने का आदेश देता है वह उचित कर्म है तथा जिस कर्म को करने का आदेश नहीं देता, वह अनुचित है।
4. अन्तःकरण सामान्य होता है। यह सभी जातियों तथा सभी मनुष्यों में पाया जाता है। यह किसी में कम विकसित रहता है और किसी में अधिक विकसित।
5. अन्तःकरण से कभी भी भूल नहीं होती है।[1] यह कर्मों के निर्णय का सर्वोच्च न्यायालय है जिसके निर्णय के विरुद्ध कहीं अपील नहीं होती।

सेफ्ट्सवरी, हैचीसन, हर्बर्ट, रस्किन, मार्टिन्यू, वुडवर्थ, क्लार्क, कांट, बटलर आदि अन्तःअनुभूतिवाद के समर्थक हैं।

मूल्यांकन

1. कर्म के परिणाम, उद्देश्य तथा उद्देश्य-प्राप्ति के साधन पर विचार किए बिना ही नैतिक निर्णय देना युक्तिसंगत नहीं है। प्रत्येक ऐच्छिक कर्म में लक्ष्य तथा

---

1. "An erring conscience is a chimera." —Kant.

उसकी प्राप्ति के साधन का स्पष्ट विचार रहता है। अन्तःअनुभूतिवाद कहता है कि नैतिक निर्णय देने में लक्ष्य या साधन या परिणाम का विचार अनावश्यक है। इसका यह मत अतार्किक एवं अमान्य है।

2. अन्तःअनुभूतिवाद का कहना है कि सभी व्यक्तियों को साक्षात् रूप से अन्तःकरण द्वारा नैतिक गुणों का ज्ञान होता है। इस अन्तःकरण को सामान्य कहा गया है। अतः सभी व्यक्तियों के तथा सभी युगों के नैतिक नियम समान होने चाहिए, पर ऐसी बात नहीं पायी जाती। विभिन्न जातियों, विभिन्न युगों तथा विभिन्न व्यक्तियों के नैतिक विचारों में बहुत अधिक भिन्नता पायी जाती है। यही नहीं; एक ही व्यक्ति के नैतिक विचार जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न पाए जाते हैं। एक ही कर्म के सम्बन्ध में क्यों विभिन्न नैतिक निर्णय दिए जाते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर अ तःअनुभूतिवाद के पास नहीं है। जब एक ही प्रकार का अन्तःकरण सभी मनुष्यों में वर्तमान है तथा नैतिक गुण भी वस्तुनिष्ठ हैं, तो फिर नैतिक निर्णयों में भेद का कारण क्या है? अन्तःअनुभूतिवाद के पास इसका हल नहीं है।

3. अन्तःकरण द्वारा प्राप्त नैतिक नियमों की सही परिभाषा नहीं की जा सकती है। प्रत्येक नैतिक नियम का अपवाद होता है। 'अहिंसा परमोधर्मः' एक नैतिक नियम है। पर कुछ परिस्थितियों में हिंसा करना अधर्म नहीं होता, यथा—आत्म-रक्षा, धर्मयुद्ध तथा न्यायिक दण्ड आदि में। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति किसी की हत्या करने के लिए उसका पीछा कर रहा हो और वह हमारे घर आकर छिप जाए तो हत्यारे से झूठ बोलना कि वह व्यक्ति हमारे यहाँ नहीं है, अधर्म नहीं; धर्म है। अन्तःअनुभूतिवाद में नैतिक नियम के अपवाद का कोई स्थान नहीं है।

4. उपर्युक्त विचार से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक नैतिक नियम के साथ परिणाम की चर्चा अत्यावश्यक है। किसी कर्म के प्रत्याशित परिणाम उस कर्म के वास्तविक अंश हैं। उन्हें उस कर्म से अलग करना सम्भव नहीं है।[1] अन्तःअनुभूतिवाद किसी कर्म के परिणाम पर विचार नहीं करता, अतः वह इस दृष्टि से अयथार्थ है।

5. अन्तःकरण द्वारा प्राप्त नैतिक नियमों या नैतिक निर्णयों में कभी-कभी विरोध पाया जाता है। अन्तःकरण द्वारा इसका परिहार सम्भव नहीं है। लक्ष्य

1. "The consequences, in so far as they can be foreseen, are actually part of the act, you cannot carry out any rule whatever without some consideration of consequences." —Rashdall

तथा परिणाम के विचार से ही विरोधी नैतिक निर्णयों में से एक को सही तथा दूसरे को गलत कहा जा सकता है। बिना यह विचार किए हुए कि कोई कर्म मानव-कल्याण में कहाँ तक सहायक या बाधक है, उसके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करना विवेकपूर्ण नहीं होगा।

6. अन्तःअनुभूतिवाद के अनुसार कर्म स्वतः उचित या अनुचित होता है। पर ऐसा मानना गलत है। कोई कर्म इसलिए उचित है कि यह शुभ की प्राप्ति का एक साधन है। अतः शुभ ही सर्वोच्च नैतिक मूल्य है, 'उचित' नहीं जैसा कि अन्तःअनुभूतिवाद मानता है।

7. अन्तःअनुभूतिवाद नैतिकता का सामान्य तथा सर्वमान्य मापदण्ड प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है। चरम नैतिक मापदण्ड सभी मनुष्यों के लिए तथा सभी युगों के लिए एक होता है, भिन्न-भिन्न नहीं। अन्तःअनुभूतिवाद के अन्तर्गत इस चरम शुभ या चरम मापदण्ड के लिए कोई स्थान नहीं दिखाई देता।

अन्तःअनुभूतिवाद के प्रकार

हमलोग देख चुके हैं कि अन्तःअनुभूतिवाद के दो भेद हैं—अदार्शनिक तथा दार्शनिक। अदार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद के अनुसार अन्तःकरण भी एक इन्द्रिय की तरह है जिससे कर्मों के नैतिक गुणों का सहज बोध होता है। दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद का कहना है कि अन्तःकरण का स्वरूप बौद्धिक है जिससे नैतिक सिद्धान्तों का सहज बोध होता है। इन सिद्धान्तों को कर्मों पर लागू करके अन्तःकरण उनके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करता है। पहले के अनुसार नैतिक निर्णय सहज है और दूसरे के अनुसार अनुमानजन्य। पहले मत के अनुसार अन्तःकरण एक वैसे शासक की भाँति है जो हर स्थिति में अपना आदेश देता रहता है। दूसरे के अनुसार अन्तःकरण एक विधायक की तरह है जो नियम बना देता है और इन्हीं नियमों को कर्म विशेषों पर लागू करके उनका नैतिक मूल्यांकन किया जाता है।[1]

अदार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद

जैसा हम अभी देख चुके हैं, अदार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद वह सिद्धान्त है जो मानता है कि अन्तःकरण कर्मों के नैतिक गुणों को सहज ही जान लेता है। यह

1. "According to the first view (unphilosophical), concience is an ever-present dictator issuing detailed injunctions to meet particular cases as they arise, according to the second, conscience is a legislator, whose enactments have to be applied to particular cases by the same intellectual process as is employed by a judge in administering an act of parliament."
—Theory of good and Evil, Vol. I. P. 80, Rashdall.

सिद्धान्त कर्मों के औचित्य-अनौचित्य के लिए कोई तर्क नहीं देता। यह नहीं नहीं बतलाता कि कोई कर्म क्यों उचित है अथवा अनुचित। अतः यह सिद्धान्त तार्किक नहीं है। यदि अन्तःकरण के आदेश युक्तिसंगत नही हैं तो हमें क्यों उनका पालन करना चाहिए ? मनुष्य विवेकशील प्राणी है। अतः जब तक उसकी बुद्धि सन्तुष्ट नहीं होती, वह सन्तुष्ट नहीं होता और न किसी तथ्य को स्वीकार ही करता है। यह सिद्धान्त कोई वस्तुनिष्ठ नैतिक मापदण्ड नहीं प्रस्तुत करता। नैतिक निर्णय के लिए कुछ सामान्य नैतिक नियमों का होना अनिवार्य है। यह सिद्धान्त ऐसे नियमों को स्वीकार नहीं करता। पर बिना इन्हें स्वीकार किए तथा विशेष कर्मों पर बिना इनका प्रयोग किए नैतिक निर्णय कैसे सम्भव होगा ? इस तरह हम पाते हैं कि अदार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद रूढ़िवादी तथा अतार्किक सिद्धान्त है। इस मत में नैतिकता के प्रचलित विचारों को रूढ़िवादी रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अतः यह सिद्धान्त मान्य नहीं है।

अदार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद के दो भेद होते हैं—1. नैतिक इन्द्रियवाद तथा 2. सौन्दर्य इन्द्रियवाद। अब हम दोनों सिद्धान्तों का अलग-अलग विवेचन करेंगे।

1. नैतिक इन्द्रियवाद

इस सिद्धान्त के अनुसार नैतिक गुण कर्मों में उसी प्रकार वर्तमान है जिस प्रकार रंग-रूप, आकार आदि गुण वस्तुओं में अन्तर्निहित रहते हैं। औचित्य-अनौचित्य के गुण कर्मों में स्वाभाविक रूप से अन्तर्भूत रहते हैं। कोई कर्म अपने आन्तरिक स्वभाव के कारण ही उचित या अनुचित होता है, किसी बाह्य आरोप के कारण नहीं। भौतिक गुणों यथा रंग-रूप आदि का ज्ञान हमें बाह्य इन्द्रियों द्वारा साक्षात् रूप से होता है। नैतिक इन्द्रियवाद का मत है कि मनुष्य में एक अन्तरइन्द्रिय है जिसके द्वारा नैतिक गुणों का अन्तःप्रत्यक्ष होता है। इस अन्तर-इन्द्रिय को अन्तःकरण या नैतिक इन्द्रिय कहा जाता है। इस नैतिक इन्द्रिय से हमें नैतिक गुणों का ठीक उसी प्रकार प्रत्यक्ष होता है जिस प्रकार आँख से रंग का या जीभ से स्वाद का। नैतिक गुणों का ज्ञान-साक्षात् रूप से होता है। नैतिक इन्द्रिय कर्मों को देखते ही तत्काल अव्यवहृत रूप से जान लेती है कि ये उचित है या अनुचित।

जब हमारी इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ सन्निकर्ष होता है तो हमारे मन में संवेदना उत्पन्न होती है। इसी संवेदना के द्वारा हमें उन वस्तुओं के ऐन्द्रिय गुणों का ज्ञान होता है। नैतिक इन्द्रियवाद का कहना है कि इसी तरह हमें नैतिक गुणों का भी ज्ञान होता है। जब नैतिक इन्द्रिय का सम्पर्क कर्मों के साथ होता है तो हमारे मन में नैतिक भावना उत्पन्न होती है। इसी नैतिक भावना के द्वारा हमें कर्मों

के नैतिक गुणों (औचित्य-अनौचित्य आदि) का ज्ञान होता है। जिस कर्म से सुखात्मक भावना की उत्पत्ति होती हैं, उसे उचित कहा जाता है और जिस कर्म से दुःखात्मक भावना की उत्पत्ति होती है, उसे अनुचित। नैतिक भावनाएँ नैतिक निर्णय के पूर्व होती हैं। नैतिक निर्णय का आधार ये ही नैतिक भावनाएँ हैं।

इस मत के अनुसार नैतिक निर्णय का आधार बुद्धि नहीं, भावना है। इसी कारण इस मत को रूढ़िवादी अन्तःअनुभूतिवाद कहते हैं। इसके प्रवर्त्तक हचसन, सेफ्ट्सबरी, मार्टिन्यू आदि हैं।

मूल्यांकन

1. नैतिक इन्द्रियवाद के अनुसार मनुष्य की एक नैतिक इन्द्रिय है जिसके द्वारा उसे नैतिक गुणों का प्रत्यक्ष होता है। पर मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञान को इस इन्द्रिय का अभी तक कोई पता नहीं चला है। यदि हम इन विज्ञानों में आस्था रखते हैं, तो नैतिक इन्द्रिय में विश्वास करने का कोई आधार नहीं दीख पड़ता। अतः नैतिक इन्द्रिय का अस्तित्व प्रमाणित नहीं है।

2. यदि नैतिक अनुमोदन एक भावना मात्र है तो यह अन्य भावनाओं से श्रेष्ठ कैसे होगा ? यदि यह ऐन्द्रिय भावनाओं से श्रेष्ठ है और इसलिए इसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए तो इसका अर्थ है कि इसमें मूल्य-विषयक निर्णय या बुद्धि का आदेश निहित है। अतः नैतिक निर्णय का सिर्फ भावना पर आधारित होना मान्य नहीं हो सकता।

3. यदि नैतिक निर्णय सिर्फ भावना पर निर्भर है तो यह सामान्य निर्णय नहीं हो सकता। एक ही कर्म किसी में सुखात्मक भावना उत्पन्न करता है तो किसी में दुःखात्मक। अतः एक के लिए यदि वह कर्म उचित है तो दूसरे के लिए अनुचित हो जाता है। इस तरह नैतिक निर्णय आत्मनिष्ठ तथा परिवर्तनशील हो जाता है, सामान्य तथा वस्तुनिष्ठ नहीं रह जाता। यदि नैतिक निर्णय सामान्य तथा वस्तुनिष्ठ है तो वह अवश्य ही बुद्धि द्वारा नैतिक मूल्यांकन पर निर्भर है, भावना पर नहीं।

4. नैतिक कर्मों का लक्ष्य शुभ की प्राप्ति है। केवल भावना से यह लक्ष्य उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि हम यह मान भी लेते हैं कि नैतिक भावना से कर्म के औचित्य-अनौचित्य का ज्ञान होता है तो भी इस समस्या का समाधान नहीं होता; क्योंकि 'उचित' तो शुभ की प्राप्ति का एक साधन मात्र है। बुद्धि से ही शुभ का विचार उत्पन्न होता है। इस शुभ से ही आत्मा के सभी तत्त्वों की सन्तुष्टि होती है।

5. नैतिक निर्णय में यदि भूल होती है तो उसमें परिवर्तन कर उसे बदल दिया जाता है। ऐसा करने पर नैतिक भावना भी बदल जाती है। अतः नैतिक निर्णय का आधार नैतिक भावता नहीं हो सकती।

6. यदि नैतिक इन्द्रिय द्वारा नैतिक गुणों का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, तो किसी व्यक्ति के नैतिक निर्णय में भूल दिखलाना सम्भव नहीं है। किसी वस्तु का रंग यदि किसी व्यक्ति को लाल दीख रहा हो तो तर्क से वह उसे काला या अन्य रंग का नहीं समझ सकता। अतः नैतिक इन्द्रियवाद में नैतिक निर्णयों में भूल की गुंजाइश नहीं रह जाती।

7. नैतिक इन्द्रियवाद कर्त्तव्य-भावना या नैतिक बाध्यता की व्याख्या नहीं कर पाता। यदि कोई कर्म हममें अनुमोदन की भावना उत्पन्न करता है तो हम उसे करने को बाध्य क्यों होते हैं ? मात्र भावना इस बाध्यता की व्याख्या नहीं कर सकती।

8. यह मत प्रायश्चित की भावना की व्यख्या नहीं कर पाता। यदि अन्तःकरण एक इन्द्रिय है तो उसके आदेशों के पालन नहीं करने से पश्चात्ताप क्यों होता है ? इसका उत्तर इसमें नहीं मिलता।

9. यदि अन्तःकरण एक इन्द्रिय है तो नैतिक निर्णयों में विविधता कैसे होती है ? सभी सामान्य दृष्टिवाले व्यक्ति उजले रंग को उजला ही बतलाते हैं, पर एक ही कर्म को कोई व्यक्ति उचित कहता है और कोई अनुचित। ऐसा क्यों ?

10. यदि अन्तःकरण एक इन्द्रिय है जो बाह्य इन्द्रियों की तरह है तो इसके नहीं रहने से भी मनुष्य ही रहेगा जिस प्रकार बाह्य इन्द्रिय, जैसे आँख के नहीं रहने पर भी मनुष्य ही रहता है। कहने का अर्थ यह कि इस सिद्धान्त के अनुसार नैतिक चेतना मनुष्य का आवश्यक तत्त्व नहीं है। पर हम ऐसा मानने को तैयार नहीं हैं। नैतिक चेतना के अभाव में मनुष्य, मनुष्य ही नहीं रह जाता।

11. इस मत के अनुसार नैतिक गुणों का ज्ञान उनसे उत्पन्न भावनाओं के द्वारा होता है। अतः हमारा नैतिक गुणों का ज्ञान केवल परोक्ष तथा प्रतीकात्मक होता है, साक्षात् नहीं।

12. नैतिकता का इतिहास बतलाता है कि प्राचीन काल से आज तक इसका विकास होता चला आया है। आज के नैतिक विचार प्राचीन काल के नैतिक विचार से बहुत अधिक विकसित हैं। यदि नैतिक गुणों को जानने के लिए एक विशेष इन्द्रिय होती तो नैतिक ज्ञान के क्षेत्र में भी उतना ही कम विकास होता जितना प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र में हुआ है। पर हम पाते हैं कि नैतिक गुणों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान ऐन्द्रिय गुणों के ज्ञान से बहुत अधिक विकसित हुआ है।

इस तरह हम पाते हैं कि नैतिक इन्द्रियवाद का सिद्धान्त मान्य नहीं है।

2. सौन्दर्य इन्द्रियवाद

सौन्दर्य इन्द्रियवाद के अनुसार नैतिकता का चरम मापदण्ड सौन्दर्य है। इसके

अनुसार उचित का अर्थ है सुन्दर और अनुचित का असुन्दर या कुरूप। सौन्दर्य-इन्द्रिय द्वारा इन नैतिक गुणों का प्रत्यक्ष होता है। सेफ्टसबरी, हचीसन, हरबर्ट, रस्किन आदि इस मत के प्रतिपादक हैं। इन लोगों के अनुसार भी नैतिक गुण कर्मों में अन्तर्भूत रहते हैं। इन गुणों को सौन्दर्य-इन्द्रिय सहज ही जान लेती है। सेफ्टसबरी का कहना है कि जो सुन्दर है वह सामंजस्यपूर्ण तथा सानुपातिक होता है। जो सामंजस्यपूर्ण तथा सानुपातिक है, वही सत्य है। जो सुन्दर और सत्य है वही प्रिय और शुभ है।[1] सौन्दर्य और शुभ बिलकुल एक हैं। हचीसन भी कर्मों के नैतिक सौन्दर्य और असौन्दर्य की बात करते हैं। रस्किन ने कहा है कि रस-बोध नैतिकता का केवल एक अंग एवं सूचक नहीं, बल्कि एकमात्र नैकिता है। आप मुझे बता दें कि आप क्या पसन्द करते हैं और मैं बता दूँगा कि आप क्या हैं।[2] हरबर्ट भी सौन्दर्य और शुभ को अभिन्न मानते हैं। अन्तःकरण सौन्दर्य-इन्द्रिय है जो सहज रूप से कर्मों के सौन्दर्य-असौन्दर्य को जान लेती है।

इस तरह सौन्दर्य-इन्द्रिय जो एक अन्तर इन्द्रिय है, कर्मों के नैतिक गुणों को तुरत ही जान लेती है। ए० सी० मित्र ने सौन्दर्य-इन्द्रियवाद के दो रूपों की चर्चा की है—(क) व्यक्तिवादी तथा (ख) सामान्यवादी। इसका पहला रूप हरबर्ट तथा रस्किन के सिद्धान्तों में मिलता है और दूसरा रूप सेफ्टसबरी तथा हचीसन के विचारों में। व्यक्तिवादी के अनुसार नैतिक निर्णय व्यक्ति के निजी अनुभव पर आधारित है। सौन्दर्य-रस अनुभूति की चीज है। कुछ व्यक्तियों की सौन्दर्य-रुचि अच्छी होती है और कुछ की दोषपूर्ण। विभिन्न व्यक्तियों की सौन्दर्य-रुचि भिन्न होती है। इसी कारण सेफ्टसबरी तथा हचिसन ने सौन्दर्य-इन्द्रिय को नैतिकता का आधार नहीं माना है। ये सामान्यवादी रूप के समर्थक हैं। इनके अनुसार समाज कल्याण ही नैतिकता का आधार है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह सामाजिकता ही नैतिकता का आधार है। अभ्यस्त नैतिक-रुचि उसी का अनुमोदन करती है जो समाज के लिए हितकर है, जिसमें 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' की प्राप्ति होती है। अतः यदि हम धार्मिक बनना चाहते हैं तो हमें अपनी नैतिक रुचि को अभ्यास द्वारा दृढ़ करना होगा। मानव का स्वभाव है सौन्दर्य का अनुमोदन करना। अतः कर्मों के सौन्दर्य (औचित्य) के सामाजिक अनुमोदन से हमें उनका

---

1. "What is beautiful, is harmonious and proportionable, what is harmonious and proportionable is true; and what is beautiful and true is agreeable and good." —Shaftesbury.
2. "Taste is not only a part and an index of morality; it is the only morality. Tell me what you like, and I will tell you what you are." —Raskin : Crown of wild olive.

ज्ञान अपरोक्ष रूप से होता है। इस ज्ञान के द्वारा हम उचित कर्मों के करने की प्रेरणा पाते हैं। सौन्दर्य इन्द्रियवाद सामाजिक अनुमोदन के आधार पर ही नैतिक बाध्यता की व्याख्या करता है।

मूल्यांकन

1. सौन्दर्य तथा नैतिक भावनाओं में कुछ साम्य अवश्य है। दोनों ही तटस्थ तथा प्रिय हैं। जो शुभ है वह भी प्रिय है और जो सुन्दर है वह भी प्रिय है। शुभ तथा सुन्दर प्रिय हैं; क्योंकि ये शुभ तथा सुन्दर हैं। ये प्रिय इसलिए हैं कि इनसे किसी दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति होती हैं। पर इस साम्य के होते हुए भी दोनों भावनाओं में बहुत अन्तर है जिसके कारण वे दोनों एक नहीं कहे जा सकते। नैतिक भावना कर्मों से सम्बन्धित है और उसमें नैतिक बाध्यता या कर्त्तव्य की भावना निहित है। सौन्दर्य में नैतिक बाध्यता नहीं है। सौन्दर्य हमें मुग्ध कर सकता है, आदेश नहीं दे सकता। फिर नैतिक कर्मों में द्वन्द्व रहता है पर सौन्दर्य में द्वन्द्व नहीं रहता। नैतिक कर्मों में विरोधी इच्छाओं का दमन, तृष्णा पर विजय तथा अभाव की अनुभूति रहती है जिसके कारण इनसे मिश्रित सुख की उत्पत्ति होती है, शुद्ध सुख की नहीं। पर सौन्दर्य से शुद्ध सुख की प्राप्ति होती है।

2. यदि नैतिक निर्णय सौन्दर्य-भावना पर निर्भर है तो यह आत्मनिष्ठ तथा परिवर्तनशील हो जाता है, क्योंकि भावना आत्मनिष्ठ तथा परिवर्तनशील होती है। पर नैतिक निर्णय वस्तुनिष्ठ तथा सामान्य होता है। अतः सौन्दर्य-मापदण्ड नैतिक मापदण्ड नहीं हो सकता।

3. जो कुछ सौन्दर्य-भावना को उत्तेजित करता है, यह आवश्यक नहीं है कि नैतिक भावना को भी उत्तेजित करे। सामंजस्य और अनुपात सौन्दर्य-भावना को उत्तेजित कर सकता है, नैतिक भावना को नहीं। अतः सौन्दर्य तथा शुभ एक नहीं हैं।

4. सौन्दर्य और शुभ एक नहीं हैं। जो सुन्दर है वह आवश्यक रूप से शुभ नहीं होता है। अश्लील गाने, अनैतिक नाट्य-अभिनय, अश्लील चित्र आदि सुन्दर हो सकते हैं; पर नैतिक नहीं।

5. नैतिक अनुभव में पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, दण्ड-पुरस्कार, पश्चात्ताप आदि भाव पाए जाते हैं, पर सौन्दर्य की अनुभूति में इनका अभाव पाया जाता है। सौन्दर्य-इन्द्रिय से रहित व्यक्ति समाज में आदरणीय हो सकता है, पर नैतिक-इन्द्रिय से रहित व्यक्ति समाज में निन्दित समझा जाता है। अतः सौन्दर्य-इन्द्रिय को नैतिक इन्द्रिय नहीं माना जा सकता।

6. सौन्दर्य-इन्द्रिय को नैतिक-इन्द्रिय नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें नैतिक-इन्द्रिय का प्रभुत्व नहीं पाया जाता।

7. नैतिक निर्णय का सम्बन्ध मानव व्यवहार के सभी पहलुओं से है, पर सौन्दर्य-निर्णय का सम्बन्ध मानव व्यवहार के केवल एक पक्ष से है—सौन्दर्य-असौन्दर्य के अनुभव से। नैतिक-निर्णय सौन्दर्य-निर्णय से उच्च है। कलाकृतियों पर भी नैतिक निर्णय किया जाता है।

8. सौन्दर्य-निर्णय और नैतिक निर्णय भिन्न हैं, एक नहीं। सौन्दर्य-निर्णय यह बतलाता है कि यह सुन्दर है। पर नैतिक निर्णय इस सौन्दर्य का मूल्यांकन कर बतलाता है कि यह आत्मोत्थान के लिए उपयोगी है अथवा नहीं। सौन्दर्य-निर्णय वस्तु के बाह्य रूप पर आधारित है पर नैतिक-निर्णय का आधार आन्तरिक है—कर्म का अभिप्राय।

9. सौन्दर्य से मानव-प्रकृति के एक अंश की सन्तुष्टि होती है, पर नैतिकता से सम्पूर्ण मानव-प्रकृति की।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सौन्दर्य-इन्द्रिय को नैतिक-इन्द्रिय नहीं माना जा सकता। नैतिकता और कला में अन्तर है। सौन्दर्य-इन्द्रियवाद नैतिकता का सही मापदण्ड नहीं दे पाता। यह नैतिकता को सौन्दर्य भावना पर आधारित करके इसकी वस्तुनिष्ठता और सामान्यता का अन्त कर देता है क्योंकि भावना अंधी, आत्मनिष्ठ तथा परिवर्तनशील होती है।

दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद

इस मत के अनुसार अन्तःकरण का स्वरूप बौद्धिक है। यह कोई अलग इन्द्रिय नहीं है। इसीलिए इसे बुद्धिवादी अन्तःअनुभूतिवाद भी कहते हैं। बुद्धिमूलक अन्तःकरण को नैतिक नियमों का सहज बोध होता है। इन नियमों को कर्म विशेषों पर लागू करके वह उन्हें उचित या अनुचित बतलाता है। इस तरह दार्शनिक मत के अनुसार अन्तःकरण को कर्म विशेषों के नैतिक गुणों का सहज बोध नहीं होता जैसा अदार्शनिक मत मानता है। किसी कर्म को देखते ही उसके औचित्य-अनौचित्य का सहज ज्ञान अन्तःकरण को नहीं होता। उसे सिर्फ सामान्य नैतिक नियमों का सहज ज्ञान होता है। इन नियमों को कर्म विशेषों पर लागू करके उन्हें उचित या अनुचित बतलाया जाता है। अतः दार्शनिक मत के अनुसार नैतिक निर्णय अनुमानजन्य है, सहज नहीं, जैसा अदार्शनिक मत का कहना है।

नैतिक निर्णय का आधार बुद्धि है, भावना नहीं, जैसा अदार्शनिक मत का विचार है। भावनाएँ नैतिक निर्णय के उपरान्त उत्पन्न होती हैं, पूर्व नहीं। अतः वे नैतिक निर्णय का आधार नहीं हो सकतीं।

अन्तःकरण बौद्धिक तो है पर यह साधारणरूप से बौद्धिक है या कोई विशेष रूप से ? वुडवर्थ, क्लार्क, वोलेस्टन आदि का कहना है कि नैतिक बुद्धि साधारण बुद्धि है। इनके मत को तर्कवाद कहते हैं। कांट का मत है कि जिस बुद्धि से हमें नैतिक गुणों का ज्ञान होता है वह व्यावहारिक बुद्धि है, साधारण बुद्धि नहीं। इनके मत को कठोरवाद कहते हैं।

मूल्यांकन

1. दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद नैतिक नियम की व्याख्या नहीं कर पाता। यह केवल बतलाता है कि अमुक कर्म उचित है अथवा अनुचित, पर यह नहीं बतलाता कि वह क्यों उचित है या अनुचित है। आचारशास्त्र का सबसे प्रमुख प्रश्न है कि नैतिक मापदण्ड या नैतिक आदर्श क्या है, यह नहीं कि नैतिक भेदों को हम कैसे जानते हैं। अन्तःअनुभूतिवाद दूसरे प्रश्न को ही प्रमुख मानता है और उसका उत्तर देता है, पर यह नहीं बतलाता कि नैतिक भेद है क्या ?[1] इनका आधार क्या है ?

2. यह मत वैधानिक या आकारिक है, प्रयोजनवादी नहीं। इसलिए यह परम शुभ से नैतिक नियमों की प्रामाणिकता नहीं निकाल पाता। अतः यह रूढ़िवादी है।

3. अन्तःअनुभूतिवाद के नैतिक नियम अमूर्त्त होते हैं। अतः वे अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं हैं। सामान्य मनुष्यों के लिए सामान्य परिस्थितियों में ये उपयोगी हो सकते हैं, पर असाधारण परिस्थितियों में ये हमारा मार्ग-दर्शन नहीं कर सकते; क्योंकि परिस्थिति के अनुसार नैतिक नियमों में भी परिवर्तन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक नैतिक नियम के अनेक अपवाद होते हैं जिन्हें ये नहीं मानते।

4. यह मत नैतिक नियमों के विरोध तथा विविधता की व्याख्या नहीं कर पाता। हम जानते हैं कि नैतिक नियमों के बीच कभी-कभी द्वन्द्व भी हो जाता है। दार्शनिक मत इस द्वन्द्व की व्याख्या नहीं कर पाता; क्योंकि इसके अनुसार सभी नैतिक नियम समान हैं। पुनः नैतिक नियम देश और काल के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस परिवर्तन की भी व्याख्या इसके द्वारा नहीं हो पाती।

1. "The real question of Ethics is not, as intitutionists have stated and answered it. How do we come to know moral distinctions ? But what are those distinctions ? What is the Moral Ideal—the single criterion which shall yield all such distinctions ? —Seth

इस द्वन्द्व और विविधता की व्याख्या बुद्धि ही नैतिक आदर्श के माध्यम से कर सकती है।

5. यदि नैतिक नियम अन्तःकरण द्वारा दिए जाते हैं तो वे बाह्य नियम की तरह हम पर बाहर से लादे जाते हैं। अन्तःकरण आत्मा का एक अंश ही है, सम्पूर्ण आत्मा नहीं। अतः इसके द्वारा दिए गए नियम सम्पूर्ण आत्मा के लिए बाह्य ही हैं।

6. नैतिक नियम बिना नैतिक आदर्श के अर्थहीन है। नैतिक नियम आत्मा के लक्ष्य या शुभ की प्राप्ति का एक साधन मात्र है। अतः साध्य के बिना साधन अर्थहीन हो जाता है।

7. नैतिक नियमों का सहज बोध होता है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वे वास्तविक नैतिक नियम हैं या काल्पनिक।

8. दार्शनिक मत के अनुसार नैतिक निर्णयों में भावना का कोई स्थान नहीं होता। पर ऐसा कहना गलत है। नैतिक निर्णय में नैतिक भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस भावना को नैतिक निर्णय से अलग करना सम्भव नहीं है।

इस तरह हम पाते हैं कि दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद तर्क-संगत नहीं है।

तर्कवाद

तर्कवाद दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद का एक भेद है। यह नैतिक शक्ति को तार्किक शक्ति मानता है जो सहज रूप से शाश्वत नैतिक नियमों को जानती है, कार्य विशेषों पर उनका प्रयोग करती है और कर्मों को उचित या अनुचित बतलाती है। नैतिक निर्णय को यह मत अनुमानजन्य मानता है। वुडवर्थ, क्लार्क तथा वोलेस्टन इसके प्रमुख समर्थक हैं। नीचे इन लोगों के विचारों का उल्लेख किया जाता है।

(i) **वुडवर्थ का विचार** : इनके अनुसार नैतिक भेद मानवीय या ईश्वरीय इच्छा पर निर्भर नहीं हैं। नैतिक नियम शाश्वत या अपरिवर्तनशील हैं। ये सामान्य, अनिवार्य तथा स्वतः प्रमाण्य हैं। मनुष्य की बुद्धि सहज ही इन नियमों को जान लेती है। नैतिक निर्णय में इन नियमों का कर्मों पर प्रयोग किया जाता है। अतः नैतिक निर्णय अनुमानजन्य है। नैतिक शक्ति बौद्धिक है। सही नैतिक निर्णय के लिए नैतिक नियमों का यथेष्ट ज्ञान आवश्यक है। ऐसा बौद्धिक अभ्यास से होता है। यह अभ्यास नैतिक जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है।

(ii) **क्लार्क का मत** : क्लार्क का विचार है कि वस्तुओं तथा व्यक्तियों के बीच कुछ शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील सम्बन्ध होते हैं और ये ही सम्बन्ध सत्य तथा नैतिकता के आधार हैं। मानवीय सम्बन्ध गाणितिक सम्बन्धों की भाँति

निश्चित, शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील होते हैं। इन्हीं सम्बन्धों से कर्त्तव्य निःसृत होते हैं जिनका सहज ज्ञान बुद्धि से होता है। सम्बन्ध भिन्न होने से कर्त्तव्य भी भिन्न हो जाते हैं। जो कर्त्तव्य गुरु का शिष्य के प्रति है उससे भिन्न कर्त्तव्य शिष्य का गुरु के प्रति है; क्योंकि दोनों के सम्बन्ध दो प्रकार के हैं। किसी व्यक्ति का माँ के प्रति जो कर्त्तव्य है उससे भिन्न कर्त्तव्य पत्नी के प्रति है; क्योंकि दोनों के साथ उसके सम्बन्ध भिन्न हैं।

इस तरह कुछ कर्म शाश्वत तथा अनिवार्य रूप से स्वतः उचित या अनुचित हैं, जिस तरह देश, काल और परिस्थिति से स्वतन्त्र गणित के सिद्धान्त सत्य होते हैं। ईश्वर की इच्छा भी उचित को अनुचित तथा अनुचित को उचित नहीं बना सकती। धार्मिक बनने के लिए व्यक्तियों के सही सम्बन्धों को जानना आवश्यक है। ज्ञान ही सद्गुण है। अतः ज्ञान नैतिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह सही है कि वस्तुओं के सही सम्बन्धों को हमारी बुद्धि सहज रूप से ग्रहण करती है, पर बुद्धि को सुसंस्कृत बनाना चाहिए।

(iii) **वोलेस्टन का मत** : वोलेस्टन भी क्लार्क के मत को ही मानते हैं। इनके अनुसार भी ज्ञान ही सद्गुण है। महात्मा गाँधी की तरह ये भी सत्य को उचित और असत्य को अनुचित मानते हैं। इनके अनुसार ज्ञान ही परमशुभ है तथा नैतिक शक्ति तार्किक शक्ति है।

मूल्यांकन

क्लार्क के अनुसार नैतिकता सम्बन्धों के औचित्य-अनौचित्य पर निर्भर करती है। पर वास्तव में, इसका विपरीत सत्य है। सम्बन्धों का औचित्य-अनौचित्य ही नैतिकता पर निर्भर है। नैतिक आदर्श पर ही कर्मों का उचित-अनुचित होना निर्भर करता है। कोई सम्बन्ध तभी उचित माना जाता है जब उससे नैतिक आदर्श की प्राप्ति में सहायता होती है। 'है' के विश्लेषण से 'चाहिए' की प्राप्ति नहीं हो सकती। मार्टिन्यू का भी मत है कि औचित्य किसी कर्म को नैतिक नहीं बनाता बल्कि नैतिकता ही किसी कर्म को उचित बनाती है।[1]

ज्ञान और नैतिकता एक नहीं हैं। ज्ञान का सम्बन्ध तथ्य से होता है, पर नैतिकता का सम्बन्ध आदर्श से। सत्य में प्रभुत्व नहीं होता जैसा कर्त्तव्य में पाया जाता है। ज्ञान में बाध्यता नहीं होती, पर नैतिकता में बाध्यता होती है। ज्ञान और नैतिकता की शर्तें भी भिन्न हैं। ज्ञान के लिए विचार या प्रत्यय और वस्तु

1. "It is not fitness which makes an act moral, but it is its morality that makes it fit."
—Martineau.

में सामंजस्य आवश्यक है, पर नैतिकता के लिए संकल्प-स्वातंत्र्य आवश्यक है। ज्ञान के साथ नैतिक भावनाएँ नहीं पायी जातीं। ज्ञान का सम्बन्ध जानने से है पर नैतिकता का प्रश्न करने से है। जानने और करने में अन्तर है; दोनों एक नहीं हैं। मात्र ज्ञान पुण्य नहीं है। अक्सर हम जानते हैं कि क्या उचित है, पर करते हैं उसके विपरीत।

नैतिक नियम गाणितिक नियम के समान नहीं हैं। गाणितिक नियम ज्ञान-निरपेक्ष हैं, पर नैतिक नियम ज्ञान-सापेक्ष। पहला वस्तुनिष्ठ होता है जबकि दूसरा आत्मनिष्ठ। अतः व्यक्तियों और वस्तुओं के शाश्वत सम्बन्धों के आधार पर शाश्वत नैतिक नियम नहीं निकाले जा सकते। नैतिक-शक्ति साधारण बुद्धि की तरह नहीं हो सकती।

इस तरह हम पाते हैं कि तर्कवाद ग्राह्य सिद्धान्त नहीं है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

बुद्धिवाद

विषय-प्रवेश

बुद्धिवाद के अनुसार बुद्धि ही मानव जीवन का सबसे प्रमुख तत्त्व है तथा पुण्य ही सर्वोच्च शुभ है। भावनाओं को नष्ट कर बुद्धि के अनुकूल जीवन-व्यतीत करना ही पुण्य है। आत्म-विजय ही सर्वोच्च शुभ है। आत्म-विजय का अर्थ इच्छाओं को नष्ट करना है। भावनाएँ आत्मा को शरीर के बन्धन में जकड़ देती है। अतः नैतिक जीवन के लिए उनको नष्ट करना आवश्यक है। बुद्धिवाद का प्रारम्भ प्राचीन ग्रीस के निराशावाद तथा हठवाद के मतों में मिलता है। मध्यकालीन ईसाई धर्म के संन्यासवाद में भी यह पाया जाता है तथा वर्तमान काल में कांट के आचार-शास्त्र में इसका विकसित रूप मिलता है।

निराशावाद

इस मत के अनुसार पुण्य की प्राप्ति ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। परिस्थितियों पर विजय तथा सुखः-दुःख से विरक्ति ही सद्गुण है। सुखमय जीवन व्यतीत करना मूर्खता है। बुद्धिमान मनुष्य पागल होना पसन्द करेगा, पर सुख भोगना नहीं। सद्गुण चरित्र का उत्थान है, वासनाओं पर बुद्धि की विजय और परिस्थितियों पर पर आत्मा की श्रेष्ठता। हमें अपनी कृत्रिम आवश्यकताओं को निम्नतम करना चाहिए। प्रकृति के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। समाज तथा जनमत की चिन्त करना व्यर्थ है। आत्म-सन्तोष तथा आत्म-पूर्णता का जीवन ही सर्वोत्तम जीवन है। नैतिक जीवन बुद्धि का जीवन है।

निराशावादी संन्यासवादी तथा व्यक्तिवादी है।

हठवाद

हठवाद के अनुसार भी पुण्य या बुद्धि का जीवन ही सर्वोच्च शुभ है। प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ है बुद्धि के अनुसार जीवन। बुद्धि बाह्य प्रकृति तथा मानवीय प्रकृति में अभिव्यक्त है। प्रकृति तथा मनुष्य में सामान्य बुद्धि व्याप्त है। समाज के नियमों में भी यह अभिव्यक्त है। अतः सामाजिक नियमों का पालन करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इस तरह इस मत के अनुसार प्रकृति या बुद्धि का जीवन समाज के अनुकूल जीवन है।

निराशावाद के व्यक्तिवाद के स्थान पर यह मत विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा देता है। हठवादी भी व्यक्तिवादी हैं। इनके अनुसार भी आत्म-सन्तोष तथा आत्म-पूर्णता का जीवन ही आदर्श जीवन है। ऐसा जीवन बुद्धि के अनुकूल जीवन है। पर बुद्धि के अनुकूल जीवन आदर्श समाज या आध्यात्मिक समाज के अनुकूल है।

यह मत आशावादी है। हठवादी प्रत्ययवादी हैं। इनके अनुसार सम्पूर्ण विश्व बुद्धि की अभिव्यक्ति है। अतः बुद्धि के अनुकूल जीवन ही नैतिक जीवन है।

ईसाई धर्म का संन्यासवाद

इस मत के अनुसार भी नैतिक जीवन में वासनाओं पर बुद्धि का पूर्ण अधिकार आवश्यक है। हमारा सर्वोच्च लक्ष्य है ईश्वर की तरह पूर्ण होना। इसकी प्राप्ति के लिए आन्तरिक पवित्रता आवश्यक है। नैतिक जीवन या धार्मिक जीवन के लिए वासनाओं का हनन आवश्यक है। वासनाओं का हनन कर बुद्धि या आत्मा के अनुकूल जीवन ही आदर्श है।

कांट का बुद्धिवाद या कठोरतावाद

काण्ट का बुद्धिवाद दार्शनिक अतः अनुभूतिवाद का रूप है। अतः इसके अनुसार कर्म का नैतिक गुण या मूल्य कर्म में ही अन्तर्भूत रहता है, उसके परिणाम पर निर्भर नहीं करता। कांट के अनुसार अन्तःकरण व्यावहारिक बुद्धि है, साधारण बुद्धि नहीं। इस बुद्धि से नैतिक नियमों का सहज-बोध होता है। इन नियमों को कर्म विशेषों पर लागू करके कर्मों के नैतिक गुणों को जाना जाता है। अतः नैतिक गुणों का ज्ञान साक्षात् रीति से नहीं होता। जो कर्म नैतिक नियम के अनुकूल होता है उसे उचित कहा जाता है और जो अनुकूल नहीं होता, उसे अनुचित। कांट के अनुसार अन्तःकरण का नियम ही नैतिक मापदण्ड है। काण्ट का यह विचार वैधानिक आचारशास्त्र के अन्दर आता है, प्रयोजनवादी आचारशास्त्र के अन्दर नहीं क्योंकि इनके अनुसार नैतिक नियम का पालन किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं किया जाता।

काण्ट के अनुसार बुद्धि मानव-प्रकृति का सबसे आवश्यक तत्त्व है। भावना को कुचलकर शुद्ध बुद्धि का जीवन व्यतीत करना चाहिए। पुण्य ही परम शुभ है। पुण्य शुभ-संकल्प में निहित हैं। शुभ-संकल्प बौद्धिक संकल्प है।

काण्ट का निरक्षेप आदेश

काण्ट के अनुसार नैतिक नियम शुभ-संकल्प का निरपेक्ष आदेश है। नैतिक नियम एक आदेश है, किसी तथ्य की अभिव्यक्ति नहीं। पुनः यह आदेश निरपेक्ष है, सापेक्ष नहीं। मतलब यह कि इस आदेश का पालन किसी शर्त्त पर निर्भर

नहीं करता। इसका पालन हम किसी बाह्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं करते।[1] जिस आदेश का पालन किसी बाह्य-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है वह सापेक्ष आदेश होता है, अर्थात् वह तभी तक आदेश है जब तक उससे प्राप्त होने वाले लक्ष्य की कामना करते हैं, जैसे, स्वास्थ्य के नियम, अर्थशास्त्र के नियम आदि। स्वास्थ्य का नियम सापेक्ष आदेश है; क्योंकि इसका पालन इसलिए आवश्यक है कि हम स्वास्थ्य की कामना करते हैं। अर्थशास्त्र का नियम इसलिए आदेश है कि इसके पालन से हमें धन मिलता है। धन का अर्जन करना इसलिए एक आदेश है कि इससे हमें सुख मिलता है। पर यदि इन नियमों से प्राप्त होने वाले साध्यों की हम कामना नहीं करें तो वे नियम हमारे लिए आदेश नहीं रह जाते। अतः यह सभी सापेक्ष आदेश हैं। पर नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं। उसका पालन किसी शर्त्त पर निर्भर नहीं करता, किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं किया जाता। उसका पालन अपने आप में लक्ष्य है। यह नैतिक नियम का कोई लक्ष्य है तो वह आन्तरिक लक्ष्य है, अपने द्वारा दिया गया लक्ष्य है और वह है संकल्प की उचित दिशा। नैतिक नियम का पालन इच्छा पर निर्भर नहीं। इनका पालन सबसे दुःखद हो सकता है तथापि इसके पालन की बाध्यता हम महसूस करते हैं। हम जब तक यह नहीं जान लेते कि अमुक कर्म निरपेक्ष रूप से बाध्यतापूर्ण है तब तक हम यह नहीं जान सकते कि यह उचित है।

नैतिक नियम का ज्ञान व्यावहारिक बुद्धि द्वारा होता है। व्यावहारिक बुद्धि सामान्य है, अर्थात् सभी मनुष्यों में पायी जाती है। अतः नैतिक नियम भी सामान्य है। हमारी बुद्धि सहज रूप से नैतिक नियमों को जान लेती है। अतः नैतिक नियम स्वतः स्पष्ट, बौद्धिक तथा प्रागनुभविक होते हैं।

कांट का शुभ संकल्प

कांट कहते हैं कि नैतिक नियम के पीछे जो संकल्प होता है वह स्वतन्त्र होता है, परतन्त्र नहीं। परतन्त्र संकल्प से उनका तात्पर्य वैसे संकल्प से है जो किसी बाह्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। स्वतन्त्र-संकल्प वह है जिसको हम किसी बाह्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं करते। नैतिक नियम के पीछे जो संकल्प है वह नैतिक नियम के प्रति मात्र आदर दिखलाने के लिए होता है, किसी बाह्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं। अतः यह संकल्प स्वतन्त्र है। शुभ संकल्प

1. "It is Categorical, since it holds absolutely and without qualification. It is an Imperative, since it is a command that ought to be obeyed...To do one's duty is a categorical imperative...one ought to do one's duty under all circumstances whatsoever..."
—Wright. General Introduction to Ethics, p. 301.

ही एकमात्र शुभ है। कांट का कहना है कि इस संसार में या इसके बाहर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसे बिना किसी शर्त्त के शुभ कहा जा सके सिवाय शुभ संकल्प के।[1] शुभ संकल्प स्वतः शुभ है। यही एकमात्र रत्न है जो अपने ही प्रकाश से चमकता है। संकल्प को अपने ही नैतिक नियम द्वारा संचालित होना चाहिए, किसी बाह्य नियम या लक्ष्य या भावना द्वारा नहीं। यदि यह किसी बाह्य नियम द्वारा निर्देशित होता है तो यह स्वतन्त्र-संकल्प नहीं रह जाता।

कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिए

कांट भावना के पूर्ण विनाश की शिक्षा देते हैं। उनके अनुसार संकल्प तभी स्वतन्त्र होता है जब वह कर्त्तव्य के विचार से प्रेरित होता है, 'कर्त्तव्य कर्त्तव्य के लिए' सच्चा नैतिक नियम है। हमें कर्त्तव्य का पालन मात्र कर्त्तव्य के विचार से करना चाहिए, किसी भावना से प्रेरित होकर नहीं अथवा किसी लक्ष्य की प्राप्ति के विचार से नहीं। अपने कर्त्तव्य का पालन करना एक निरपेक्ष आदेश है अर्थात् कर्म का फल जो भी हो प्रत्येक परिस्थिति में हमें अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। कांट के अनुसार कोई कर्म तभी उचित होता है जब वह मात्र कर्त्तव्य के लिए किया जाता है। हमें फल की चिन्ता किए बिना कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। कुछ भी हो हमें सत्य बोलना चाहिए। कांट के अनुसार नैतिक नियम का कोई अपवाद नहीं होता है। किसी भी परिस्थिति में झूठ बोलना नैतिक नहीं कहा जायेगा। यदि सम्पूर्ण संसार के नष्ट होने की सम्भावना हो तो भी हमें कर्त्तव्य के पथ से विचलित नहीं होना चाहिए। कांट कहते हैं कि यदि आकाश धरातल पर भी चला आये तो भी 'मैं कर्त्तव्य का पालन अवश्य करूंगा'। उनके अनुसार नैतिक जीवन में भावना और संवेग का कोई स्थान नहीं है। प्रेम या करुणा की भावना भी अनैतिक है। यदि कोई व्यक्ति प्रेम या दया की भावना से किसी रोगी की सेवा करता है या किसी गरीब की सहायता करता है तो कांट के अनुसार यह कर्म नैतिक नहीं है। कांट केवल नैतिक नियम के प्रति आदर की भावना को ही नैतिक मानते हैं। यह अन्य भावना से भिन्न है। अतः उनके अनुसार कोई कर्म तभी शुभ होता है जब वह नैतिक नियम के अनुकूल होता है तथा नैतिक नियम के लिए किया जाता है।[2] कांट अपने आचारशास्त्र में भावनाओं के पूर्ण विनाश

1. "Nothing can possibly be conceived in the world or even out of it, which can be called good without qualification, except a goodwill".
—Kant: Metaphysics of Morals.
2. In order that an action should be morally good, it is not enough that it conforms to the moral law, but it must also be done for the sake of the law."—Kant.

तथा शुद्ध बौद्धिक जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देते हैं। इसी कारण उनके मत को कठोरतावाद या नैतिक शुद्धतावाद या संन्यासवाद कहते हैं। ब्राडले इसको 'कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिए' का सिद्धान्त कहते हैं तथा सुखवाद को वे 'सुख, सुख के लिए' का सिद्धान्त कहते हैं।

कठोरतावाद तथा निष्काम कर्म

कांट के 'कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिए' के सिद्धान्त की तुलता श्रीमद्भगवद्गीता के 'निष्काम कर्म' के सिद्धान्त से की जा सकती है। गीता के द्वितीय अध्याय में 'निष्काम कर्म' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जब कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में कौरव तथा पाण्डव की सेनाएँ युद्ध के लिए आ जुटीं तो भगवान् कृष्ण, जो अर्जुन के सारथी थे, अर्जुन को विपक्षी सेना का दिग्दर्शन कराने लगे। विपक्षी योद्धाओं को अपना सगा-सम्बन्धी पाकर अर्जुन को मोह उत्पन्न हो गया और उन्होंने युद्ध करने से इनकार कर दिया। तब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को 'निष्काम कर्म' का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि मनुष्य को वही कर्म करना चाहिए जो उसका कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का पालन फल की परवाह किए बिना ही करना चाहिए। फलाफल की चिन्ता किए बिना ही अपने कर्त्तव्य का पालन करना कर्म योग कहलाता है। यदि युद्ध करना कर्त्तव्य है तो इसका पालन 'तुम्हें करना ही चाहिए चाहे इसका परिणाम कुछ भी हो, भला या बुरा।' कर्म का परिणाम मनुष्य के हाथ में नहीं रहता—वह बहुत-सी ऐसी बातों पर निर्भर करता है, जिनपर मनुष्य का अधिकार नहीं होता। अपने कर्त्तव्य का पालन मनुष्य के अधिकार की बात है। अतः परिणाम का विचार किए बिना ही उसे अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए, यही नैतिकता है। भगवान् कृष्ण कहते हैं—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। इस तरह हम पाते हैं कि कांट का सिद्धान्त गीता के सिद्धान्त से मिलता है। सूक्ष्म तथा गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर दोनों सिद्धान्तों में कुछ भेद भी नजर आते हैं पर हमें उन तक नहीं जाना है, क्योंकि ऐसा करने में हमें, तत्त्वमीमांसा के झमेले में उलझना होगा जो यहाँ अपेक्षित नहीं है।

नैतिक नियम की आकारवादिता

नैतिक नियम एक शुद्ध आकार है—इसका कोई विशिष्ट विषय नहीं होता। यह हमें यह नहीं बतला सकता कि हमें क्या करना चाहिए, अथवा क्या नहीं करना चाहिए, क्योंकि सभी विशिष्ट वस्तुओं में एक आनुभविक तत्त्व रहता है और नैतिक नियम इस तत्त्व की ओर संकेत नहीं करता। नैतिक नियम हमें यह नहीं बतलाता कि हमारे कर्मों का विषय क्या है। यह सिर्फ बतलाता है कि उन्हें

एक आकार के अनुकूल होना चाहिए। यह केवल बतलाता है कि हमारे कर्मों में आत्म-संगति आवश्यक है। कांट नैतिक नियम अथवा निरपेक्ष आदेश को निम्नलिखित सूत्रों के द्वारा अधिक निश्चित बनाने का प्रयास करते हैं।

कांट के नैतिक सूत्र या सिद्धान्त

1. आप वैसे ही सिद्धान्त के अनुसार कर्म करें जिसे आप साथ-ही-साथ सामान्य नियम बनाने की इच्छा कर सकें।[1]

इस नियम के द्वारा कांट यह बतलाने का प्रयास करते हैं कि जब आप किसी सिद्धान्त के आधार पर कोई कर्म करें तो सोचें कि वह सिद्धान्त सामान्य नियम का रूप धारण कर सकता है या नहीं, अर्थात् वह सिद्धान्त सामान्य रूप से सभी मनुष्यों पर लागू हो सकता है या नहीं। कहने का मतलब यह कि वह सिद्धान्त सामान्य नियम बनाया जा सकता है या नहीं। यदि यह सामान्य नियम बन सकता है तो कर्म उचित है और नहीं तो कर्म अनुचित। कांट 'प्रतिज्ञा भंग करने' के उदाहरण द्वारा इस नियम का स्पष्टीकरण करते हैं। प्रतिज्ञा भंग करना अनुचित है क्योंकि इसको सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। यदि सभी मनुष्य प्रतिज्ञा भंग करना शुरू कर दें तो प्रतिज्ञा का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। तब कोई प्रतिज्ञा करेगा ही नहीं और जब कोई प्रतिज्ञा ही नहीं की जाएगी तो उसके भंग होने का प्रश्न ही नहीं, उठेगा। इसी तरह आत्म-हत्या करना अनुचित है क्योंकि यह जिस सिद्धान्त पर आधारित है वह सामान्य नियम नहीं बन सकता। यदि सभी मनुष्य आत्म-हत्या करना प्रारम्भ करें तो शीघ्र ही कोई आत्म-हत्या करने के लिए बचेगा ही नहीं। इसलिए कांट कहते हैं कि हमें उस तरह का कर्म करना चाहिए जैसा हम सभी व्यक्तियों को उन्हीं सामान्य परिस्थितियों में करने की इच्छा करें।[2] हम ऐसा कर्म करें जो सबों के लिए सामान्य नियम का रूप धारण कर ले।[3]

2. हमें ऐसा कर्म करना चाहिए जिसके द्वारा स्वयं कर्म करने वाले या अन्य

---

1. "Act only on that maxim (or principle) which thou canst at the same time will to become a universal law."
—Kant : Metaphysic of Morals section II

2. "Act only in such a way as you could will that every one else should act under the same general condition."—Kant.

3. "Act so that your line of action may become a law universal."
—Kant.

कोई मनुष्य कर्म के साध्य के रूप में सदा बने रहें, कभी भी कर्म का साधन न बनें।[1]

मनुष्य में बुद्धि या विवेक की प्रधानता है। इसी शक्ति के द्वारा नैतिक नियम प्राप्त होते हैं। अतः इस शक्ति का हमें आदर करना चाहिए। यह शक्ति सभी मनुष्यों में सामान्य रूप से रहती है। अतः सभी मनुष्य आदर के पात्र हैं। न हमें अपने को दूसरों की स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाना चाहिए और न दूसरों को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का। प्रत्येक मनुष्य अपना लक्ष्य स्वयं है। उसे दूसरे मनुष्य के साधन के रूप में व्यवहृत करना अनुचित है। इसलिए कांट के अनुसार दासत्व-प्रथा आदि अनुचित है क्योंकि इसमें मनुष्य का प्रयोग साधन के रूप में होता है। सारांश यह है कि हमें अपने तथा दूसरों के व्यक्तित्व का समान रूप से आदर करना चाहिए। इस सूत्र से एक उपसूत्र भी निकलता है और वह यह है—"सदैव अपने को पूर्ण बनाने का प्रयास करें और दूसरों के सुख और आनन्द के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उपस्थित करने की चेष्टा करें क्योंकि आप दूसरों को पूर्ण तो कथमपि नहीं बना सकते।"[2] कोई व्यक्ति केवल अपने ही संकल्पों का नियंत्रण कर सकता है तथा उन्हें नैतिक नियम के अनुकूल बना सकता है। दूसरों के संकल्प का नियंत्रण वह नहीं कर सकता। अतः वह केवल अपने को पूर्ण बना सकता है, दूसरों को नहीं। नैतिक संकल्प का शुभ-संकल्प केवल अपने प्रयास से प्राप्त हो सकता है दूसरों के द्वारा नहीं। कोई मनुष्य केवल दूसरों के सुख या पूर्णता के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है। अतः कांट के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण बनाने का प्रयास करना चाहिए तथा दूसरों के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करना चाहिए।

3. मनुष्य मात्र कर्मों के साध्य या लक्ष्य है, साधन कदापि नहीं। प्रत्येक मनुष्य को इस साध्य के साम्राज्य के एक सदस्य के रूप में कर्म करना चाहिए।[3]

यह सिद्धान्त कांट से दूसरे सूत्र के समान ही है। दूसरे सूत्र में हम लोगों ने देखा है कि प्रत्येक मनुष्य साध्य है, साधन नहीं। अतः यह विश्व साध्य का साम्राज्य

1. "So act as to treat humanity whether in thine own person or in that of any other, always as an end, and never as a means."
—Kant.
2. "Try always to perfect thyelf, and try to conduce to the happiness of others by bringing about favourable circumstances, as you cannot make others perfect."—Kant.
3. "Act as a member of a kingdom of ends."—Kant.

है और प्रत्येक व्यक्ति इस साम्राज्य का सदस्य है। हमें ऐसा समझकर ही कर्म करना चाहिए। हमें अपने को तथा प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः मूल्यवान समझना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का समान महत्व एवं मूल्य है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना शुभ तथा दूसरे व्यक्ति के शुभ को समान समझना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति साध्य एवं साधन दोनों है। वह एक ऐसे आदर्श समाज का सदस्य है जिसमें प्रत्येक सदस्य अपना शुभ प्राप्त करने के साथ-साथ दूसरों की शुभ-प्राप्ति में सहायक होता है। साध्यों का साम्राज्य विवेकशील प्राणियों का आदर्श समाज है। विवेक ही मानव का आवश्यक तत्त्व है। उसका अपना विवेक ही नैतिक नियम देता है और उस नियम के पालन का भी आदेश देता है। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति राजा तथा प्रजा दोनों है। वह राजा इसलिए है कि वह स्वयं नैतिक नियम का स्रष्टा है तथा अपने पर उस नियम को लागू करने की प्रभुता भी उसमें है। वह प्रजा भी है क्योंकि स्वरचित नैतिक नियमों के पालन करने की नैतिक बाध्यता भी उसमें वर्त्तमान है। प्रत्येक व्यक्ति अपना राजा तथा अपनी प्रजा स्वयं है। कांट अपने सिद्धान्तों के द्वारा एक आदर्श समाज की सृष्टि की कल्पना करते हैं। उस आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति नैतिक नियम का पालन करेगा। वह अपने को तथा दूसरों को आदरणीय समझेगा। सभी इस तरह मिल-जुलकर कर्म करेंगे कि धरती पर स्वर्ग उतर आएगा। कांट की कल्पना थी कि यदि सभी व्यक्ति इन नैतिक सूत्रों के अनुसार कर्म करें तो धरती स्वर्ग में परिवर्तित हो जाये।

कांट के अनुसार परमशुभ पुण्य है। पर पूर्ण शुभ पुण्य एवं आनन्द का योग है। पुण्य या कर्त्तव्य करना हमारे अधिकार की चीज है पर आनन्द हमारे अधिकार में नहीं है। आनन्द उन अनुकूल परिस्थितियों पर निर्भर है जिनपर हमारा पूर्ण नियंत्रण नहीं हो सकता। यही कारण है कि कर्त्तव्य करने वाले इस संसार में निश्चित रूप से सुखी नहीं पाए जाते। दूसरे शब्दों में, पुण्य और सुख का मेल इस संसार में हमेशा नहीं हो पाता। पर उनका मेल नैतिक दृष्टि से आवश्यक है। यदि कर्त्तव्य करने वाले को इस जीवन में सुख नहीं मिलता है तो उसे यह विश्वास चाहिए कि अगले जीवन में उसे अवश्य अपने कर्मों का फल मिलेगा। इसीलिए कांट ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं जो पुण्य तथा आनन्द के बीच सामंजस्य कराता है। ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता की एक आवश्यक मान्यता है। इसके अतिरिक्त कांट दो और नैतिक मान्यताओं को स्वीकार करते हैं—संकल्प-स्वातंत्र्य तथा आत्मा की अमरता। संकल्प-स्वातंत्र्य के अभाव में तो नैतिकता की जड़ ही कट जाती है। आत्मा की अमरता के बिना इच्छाओं का पूर्णतः विनाश सम्भव नहीं है। इस छोटे से जीवन में इच्छाओं या भावनाओं का पूर्ण निराकरण सम्भव नहीं है। इसके लिए अनन्त जीवन की आवश्यकता है। इस तरह कांट के अनुसार नैतिकता की

तीन आवश्यक मान्यताएँ हैं—ईश्वर का अस्तित्व, संकल्प-स्वातंत्र्य तथा आत्मा की अमरता।

मूल्यांकन

1. **मनोवैज्ञानिक द्वैतवाद** : कांट का नैतिक विचार बुद्धि और भावना के द्वैत पर आधारित है। वे विवेक और भावना में विरोध मानते हैं। भावना गलत रास्ते पर ले जाती है अतः उसका निराकरण आवश्यक है। कांट के इस विचार में मनोवैज्ञानिक द्वैत है। मन इन दोनों तत्त्वों की आवश्यक एकता है। दोनों तत्त्व आत्मा के लिए आवश्यक हैं—एक को दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं है। इच्छा कर्म का आधार है। बिना इच्छा के कोई कर्म सम्भव नहीं है। बिना बुद्धि के किसी इच्छा की पूर्ति सम्भव नहीं। अतः विवेक और भावना दोनों आत्मा के आवश्यक तत्त्व हैं। प्रो० मुरहेड का कहना है कि सर्वोच्च बौद्धिक आदर्श की खोज यथा, सत्य की खोज में भी हमारा विवेक हमारी इच्छा द्वारा निर्धारित होता है। बौद्धिक या विवेकपूर्ण जीवन वह नहीं जिसमें इच्छा का अभाव हो; बल्कि वह है जिसमें निम्न एवं इच्छा विशेषों पर उत्तरोत्तर उच्चतर तथा सामान्यतर इच्छाओं का अधिकार हो जाता है।[1] सारांश यह कि बुद्धि को भावना से पृथक् करने का प्रयास अमनोवैज्ञानिक है।

2. कांट का यह विचार दोषपूर्ण है कि भावनाएँ आवश्यक रूप से अबौद्धिक हैं, अतः उनको नष्ट कर देना नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। सभी इच्छाएँ बुरी नहीं होतीं। पुनः बिना इच्छा के कोई कर्म सम्भव नहीं है। अतः इच्छाओं का विनाश सम्भव नहीं है और न आवश्यक ही। आवश्यकता है इच्छाओं की बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित करने की। इच्छाएँ ही कर्म के विषय हैं। सिर्फ उन्हें बुद्धि के रूप की आवश्यकता है। यदि इच्छाओं का नाश हो जायेगा तो बुद्धि का कार्य ही क्या रह जाएगा?

3. कांट का मत संन्यासवाद भी कहा जा सकता है। कांट कहते हैं कि हमें भावनाओं का दमन करना चाहिए। हमें राग-द्वेष आदि से बिल्कुल मुक्त होना

1. Even in its highest and apparently purest manifestations, as for instance, in the search for truth, reason is determined by interest, i. e. by feeling and desire. The rational life in such a case, consists not in acting independently of desire—this is impossible—but in subordinating the lower or more particular desires to the higher and more universal." —Muirhead, Elements of Ethics.

चाहिए। पर ऐसा करने से हमारी प्रकृति के एक आवश्यक अंग का नाश हो जाएगा। पर ऐसा करना अनावश्यक ही नहीं, असम्भव भी है। संन्यासवाद का आदर्श वासनाओं का नाश है। पर वास्तव में, संन्यासवाद ग्राह्य सिद्धान्त नहीं है। हमारी किसी भी प्राकृतिक प्रवृत्ति का नाश वांछनीय नहीं है। हमारे जीवन में हमारी सभी प्रवृत्तियों का अपना निश्चित स्थान है। सभी अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें कोई भी बुरी एवं अनावश्यक नहीं। वे बुरी तब होती हैं जब अभ्यास के कारण अपनी उचित सीमा को पार कर जाती हैं। ऐसी स्थिति तभी पैदा होती है, जब उनपर बुद्धि का नियन्त्रण नहीं रहता। अतः मानव प्रकृति के किसी भी तत्त्व को अलग नहीं किया जा सकता और न ऐसा करना वांछनीय है। किसी भी अंश को अलग करने से मानव-प्रकृति ही विकृत हो जाएगी, जैसे शरीर के किसी अंग को अलग करने से शरीर विकृत हो जाता है। मानव प्रकृति का प्रत्येक अंग आत्मा का अपनी लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होता है। सिर्फ आवश्यकता है, उसे बुद्धि द्वारा नियन्त्रित करने की।

4. कांट का मत बहुत कठोर है। उनके अनुसार भावना से प्रेरित कर्म नैतिक नहीं होता है। यदि कोई प्रेम की भावना से प्रेरित होकर अपनी माँ की सेवा करता है या दया के कारण किसी रोगी की सेवा करता है तो यह, कांट के अनुसार, नैतिक कर्म नहीं है। उनके अनुसार सिर्फ वही कर्म नैतिक है जो कर्त्तव्य की भावना से किया जाता है। नैतिक नियम के प्रति आदर की भावना के अतिरिक्त किसी भी अन्य भावना पर आधारित कर्म नैतिक नहीं है, चाहे उसका लक्ष्य कितना भी महान् क्यों न हो। दुःख की बात है कि कांट ने हमारी सभी भावनाओं एवं संवेगों की निन्दा की है। साधारणतः हम प्रेम और सहानुभूति से उत्पन्न कर्मों को मात्र कर्त्तव्य के विचार से उत्पन्न कर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं। मातृ-प्रेम से अभिभूत होकर माँ की सेवा करना मात्र कर्त्तव्य के विचार से सेवा करने की अपेक्षा निःसन्देह श्रेष्ठ है। नैतिक जीवन से भावनाओं को बिलकुल हटाकर कांट ने नैतिकता को बिल्कुल कृत्रिम एवं बाह्य-शक्ति द्वारा आरोपित बना दिया है। जिन नैतिक पुरुषों की हम अत्यधिक प्रशंसा करते हैं, यथा स्नेहमयी माँ, सच्चा दोस्त, सच्चा देश-सेवी, विश्व-प्रेमी आदि वे हृदय की पूर्णता से उत्पन्न होते हैं, नैतिक नियम के प्रति शुष्क आदर से नहीं। नैतिकता जितनी ही स्वतः स्फुटित होती है हम उसे उतना ही श्रेष्ठ मानते हैं। किसी बाह्य-शक्ति द्वारा आरोपित नैतिकता निकृष्ट समझी जाती है।

कांट के मत की कठोरता का एक दूसरा भी कारण है। वे नैतिक नियमों के अपवाद नहीं मानते। कर्त्तव्य का पालन प्रत्येक परिस्थिति में आवश्यक है। यदि सत्य बोलना कर्त्तव्य है तो हमें इसका पालन करना ही है चाहे इससे सम्पूर्ण संसार का ही

नाश क्यों न हो जाय। पर यह विचार अत्यधिक कठोर है। बहुत बड़े-बड़े नैतिक चिन्तकों, यथा गाँधी जी आदि ने कहा है कि कुछ परिस्थितियों में सत्य नहीं बोलना भी नैतिक हो सकता है। प्रत्येक नैतिक नियम का अपवाद होता है। नैतिक नियम के पालन में परिस्थिति पर विचार कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। पुनः कुछ कर्म केवल इतिहास नैतिक हैं कि वे अपवाद है, यथा, समाज-सेवा के लिए ब्रह्मचर्य ग्रहण करना, किसी महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शहीद हो जाना आदि।

5. **विरोधाभास** : कांट कहते हैं कि नैतिकता के लिए वासनाओं या इच्छाओं का दमन और बुद्धि के आदेशों के अनुसार कर्त्तव्य करना आवश्यक है। नैतिक नियम के प्रति आदर की भावना से कर्त्तव्य करना ही सच्ची नैतिकता है। बुद्धि और भावना या वासना का संघर्ष नैतिक जीवन के निम्न स्तर पर होता है। नैतिक अभ्युदय के साथ-साथ यह संघर्ष दुर्बल होता जाता है और काफी उच्च-स्तर पर तो यह इतना क्षीण हो जाता है कि इसका अस्तित्व नाममात्र का रह जाता है। अब यदि कांट के अनुसार नैतिक बनना चाहते हैं तो हमें नैतिकता के निम्न-स्तर पर रहना होगा; क्योंकि इसी स्तर पर बुद्धि और भावना में संघर्ष होता है। इस तरह कांट के सिद्धान्त में विरोधाभास है। नैतिकता के लिए बुद्धि और वासना का द्वन्द्व आवश्यक है। अतः द्वन्द्व के लोप हो जाने पर नैतिकता समाप्त हो जायेगी। पर वास्तव में, द्वन्द्व के लुप्त हो जाने पर ही नैतिक-स्तर उच्च हो पाता है। यही विरोधाभास है।[1]

6. कांट के अनुसार बुद्धि के आदेश नैतिक नियम हैं। इनका पालन बिना किसी शर्त्त के करना चाहिए। पर हम नैतिक नियम का पालन क्यों करें? इसका उत्तर कांट देते हैं कि इनका पालन अकारण या बिना किसी उद्देश्य के करना चाहिए। पर यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं है। कांट भूल जाते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर तभी हो सकता है जब हम शुभ को नैतिक नियम का लक्ष्य मानें। प्रत्येक नियम का कोई लक्ष्य होता है। मनुष्य इसलिए नैतिक नियम का पालन करता है कि ऐसा करने से वह अपने सच्चे रूप को प्राप्त कर सके। कांट के दूसरे नैतिक-सूत्र में नैतिक नियम के लक्ष्य की ओर संकेत मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य-मात्र के अभ्युदय को वे नैतिक नियम का लक्ष्य मानते हैं। मनुष्य के अभ्युदय से उनका तात्पर्य मनुष्य के मूर्त्त व्यक्तित्व के अभ्युदय से है। यह कहना भी असंगत नहीं

1. "Virtue, in fact, lives in the life of its antagonist. Final and complete victory over it would involve its own destruction along with the destruction of desire. This may be called the paradox of asceticism. Muirhead : The Elements of Ethics, p. 137

होगा कि कांट आत्म-पूर्णता तथा दूसरों के सुख को नैतिक लक्ष्य मानने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि कांट के नैतिक विचार में विरोधी विचार तथा भावनाएँ वर्तमान हैं। इनके नैतिक नियम भी लक्ष्यहीन नहीं हैं।

7. भावनाओं की प्रधानता हमारे जीवन में इतनी है कि भावनाओं के द्वारा ही मनुष्य का एक-दूसरे से सम्बन्ध हो पाता है। प्रेम और सहानुभूति ही वे कड़ियाँ हैं जो मनुष्य को सामाजिक बन्धन में जकड़े रहती हैं। कांट अपने आचारशास्त्र से भावनाओं को बिलकुल अलग कर देते हैं। अतः उनका सिद्धान्त व्यक्तिवादी हो जाता है। प्रेम के कारण ही हम अन्य प्राणियों के साथ एकता का अनुभव करते हैं। शुद्ध विवेक इस एकता को स्थापित करने में समर्थ नहीं है।[1]

8. इच्छाएँ और भावनाएँ ही कर्म के विषय हैं और बुद्धि कर्म का रूप निर्धारित करती है अर्थात् वह यह बतलाती है कि कौन-सा कर्म उचित है। इच्छाओं और भावनाओं को नैतिकता से हटाकर कांट ने नैतिकता के वस्तु-विषय को ही समाप्त कर डाला है। केवल बुद्धि को स्वीकार करने के कारण कांट का आचारशास्त्र आकारवादी हो जाता है। जैकॉबी ने ठीक ही कहा है कि कांट का शुद्ध संकल्प एक ऐसा संकल्प है जो किसी विषय का संकल्प नहीं करता।[2] पर ऐसा संकल्प अनर्गल है। कांट बतलाते हैं कि कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिए करना चाहिए पर यह नहीं बतलाते कि हमारा कर्त्तव्य क्या है तथा हमें क्या करना चाहिए। अतः उनका सिद्धान्त आकारवादी है। कांट के नैतिक सूत्रों से नैतिकता के सिर्फ आकार का संकेत मिलता है, उसके विषय का नहीं।

9. कांट के प्रथम सूत्र से निःसन्देह नैतिक नियम के सामान्य लक्षण का बोध होता है। यह सही कि कोई कर्म उचित नहीं हो सकता यदि उसे सामान्य नहीं बनाया जा सके। पर यह आकारिक नियम है। इसका निषेधात्मक मूल्य है, विधानात्मक नहीं। इससे केवल यही संकेत मिलता है कि हमें क्या नहीं करना चाहिए, यह संकेत नहीं मिलता कि हमें क्या करना चाहिए। कांट कर्मों की आत्म-संगति की चर्चा करते हैं। पर इस आत्म-संगति के सिद्धान्त के आधार पर कर्त्तव्यों या अकर्त्तव्यों को नहीं जाना जा सकता है। मैकेन्जी भी इस विचार से

1. ' Cool reason is not a sufficient bond; we must feel our unity with our fellows. Though reason is universal, the ethics of pure reason is inevitably individualistic. The bonds that unite us with our fellows are bonds of love. Kill out sensibility and you separate yourself from your fellows."
2. "Kant's will is a will that wills nothing." —Jacobi

सहमत हैं।[1] पुनः कांट के नैतिक नियम का प्रयोग विशेष कर्मों पर करने के लिए समाज में प्रचलित अधिकार तथा कर्त्तव्यों का ज्ञान आवश्यक है। हम तभी कह सकते हैं कि चोरी करना आत्म-संगत नहीं है जब हम व्यक्तिगत सम्पत्ति के औचित्य को स्वीकार करते हैं। यदि कोई इसे अस्वीकार करता है तो उसके लिए चोरी करना असंगत नहीं होगा।

अतः मात्र आत्म-संगति कर्मों के औचित्य का सही मापदण्ड नहीं हो सकता। प्रथम नैतिक सूत्र के अनुसार अविवाहित रहना अनुचित होगा, क्योंकि यदि सभी ऐसा करेंगे तो मानव जाति का विनाश हो जाएगा। पर यदि कोई ऐसा करता है तो हम इसे अनुचित नहीं मानते। इस तरह हम पाते हैं कि प्रथम सूत्र के प्रयोग में भी हमें प्रत्येक विशेष परिस्थिति में कर्म के परिणाम पर विचार करना चाहिए, केवल सामान्य नियम के आधार पर किसी कर्म को उचित या अनुचित नहीं कहा जा सकता है। कर्म के परिणाम का विचार कांट के मत के विरुद्ध पड़ता है।

10. सामान्य रूप से कांट का दूसरा सूत्र भी सत्य है। हमें अपने तथा दूसरों के व्यक्तित्व का आदर करना चाहिए। हमें अपने को तथा दूसरों को सदा साध्य या लक्ष्य के रूप में समझना चाहिए, कभी भी साधन के रूप में नहीं। पर इस नियम के भी अपवाद हैं। देश-रक्षा, जन-कल्याण, ज्ञान के विकास आदि उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए किसी भी व्यक्ति को साधन के रूप में व्यवहार किया जाना चाहिए। यदि ऐसा न किया जाए तो इससे व्यक्ति तथा समाज दोनों की हानि होती है।

11. कांट का तीसरा सूत्र भी आकारिक ही है। हमें सहयोग के साथ एक-दूसरे से मिल-जुलकर काम करना चाहिए और एक ऐसे आदर्श समाज की स्थापना करनी चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना लक्ष्य है और स्वयं साधन भी। दूसरों की लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक होते हुए उसे अपने आदर्श की प्राप्ति करनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं नैतिक नियम का स्रष्टा है और स्वयं उसका पालनकर्त्ता भी। पर इस नियम से भी हमें यह नहीं बोध होता है कि हमें क्या करना चाहिए। इससे यह नहीं पता चलता कि विशेष परिस्थितियों में हमारा कर्त्तव्य क्या है? अतः यह नियम भी खोखला ही है।

1. "The principle laid down by Kant affords in many cases a safe negative guide in conduct......when, however, we endeavour to extract positive guidance from the formula......it begins to appear that it is merely, a formal principle from which no definite matter can be derived."
—Mackenzie,

12. कांट ठीक ही कहते हैं कि पूर्ण शुभ पुण्य तथा आनन्द का योग है। पर वे पूर्ण शुभ को अत्यन्त संकीर्ण बना देते हैं। मनुष्य के पूर्ण शुभ के अन्दर बौद्धिक, सौन्दर्यविषयक तथा धार्मिक मूल्य सम्मिलित हैं। आचारशास्त्र को इन सारे मूल्यों पर विचार करना चाहिए और पूर्ण शुभ को इस रूप में रखना चाहिए जिससे उसके अन्तर्गत इन सारे मूल्यों का समावेश हो।[1] मनुष्य का पूर्ण शुभ 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' होना चाहिए जो मानव-प्रकृति के सभी तत्त्वों पर आधारित है।

13. कांट कहते हैं कि नैतिक अभ्युत्थान के लिए इच्छाओं को नष्ट करना आवश्यक है। यदि इच्छाएँ नष्ट हो जाएँगी तो सुख तथा आनन्द भी समाप्त हो जाएँगे, क्योंकि बुद्धि के आदेशानुसार इच्छाओं की तृप्ति से ही सुख एवं आनन्द मिलते हैं। इच्छाओं के नष्ट होने पर ईश्वर भी पुण्यात्माओं को दूसरे जन्म में सुखी नहीं बना सकते।

बुद्धिवाद की विशेषताएँ

बुद्धिवाद का यह कहना बिलकुल सही है कि बुद्धि मानव-जीवन का नियामक तत्त्व है। पर उसकी यह धारणा भ्रमात्मक है कि नैतिक जीवन वासना-शून्य शुद्ध बुद्धि का जीवन होना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि वासना ही नैतिक जीवन का विषय है। बुद्धि तो सिर्फ आकार या नैतिक नियम देती है।

बुद्धिवाद का यह मत भी सही है कि नैतिक नियम में बाध्यता की भावना होती है। जब किसी कर्म को हम उचित समझते हैं तो उसे करने की बाध्यता भी महसूस करते हैं। उचित कर्म में 'करना चाहिए' की भावना निहित रहती है। पर बुद्धिवाद यह नहीं बतलाता कि हमें क्या करना चाहिए।

बुद्धिवाद मनुष्य के महत्त्व एवं स्वतन्त्रता पर बल देता है। बुद्धि-प्रधान प्राणी होने के नाते उसे अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए,

1. "Kant makes the complete good too narrow, in restricting it to virtue and happiness. The complete good of man includes intellectual, aesthetic and religious values. Ethics ought to take account of all the values that constitute portions of the well founded life that everyone should seek to realize."
—Wright : General Introduction to Ethics, pp. 311-12.

उनका दास नहीं बनना चाहिए। पाशविक प्रवृत्तियों पर बुद्धि की विजय होनी चाहिए। तभी सच्चे अर्थ में हम मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकते हैं। इसकी भूल यही है कि यह पाशविक प्रवृत्तियों के हनन की शिक्षा देता है, बुद्धि द्वारा उनके नियन्त्रण की नहीं।

यह निश्चित रूप से सही है कि नैतिक जीवन के आरम्भ में आत्म-त्याग तथा आत्म-नियन्त्रण की प्रधानता होनी चाहिए और इस तत्त्व का पूर्णतः लोप कभी नहीं होना चाहिए। यह आत्म-सिद्धि का एक साधनमात्र है, स्वयं साध्य नहीं। आत्म सिद्धि का अर्थ है वासनामय जीवन को बुद्धि से नियन्त्रित कर आदर्श जीवन या नैतिक जीवन को प्राप्त करना वासनामय जीवन का हनन नहीं।

सोलहवाँ अध्याय

आत्मपूर्णतावाद

विषय-प्रवेश

हम लोग देख चुके हैं कि सुखवाद का यह कहना सही नहीं है कि सुख ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। बाह्यनियमवाद तथा अन्तःअनुभूतिवाद के मत भी सही नहीं हैं। बाह्य या अन्तःनियम के अनुकूल आचरण करना भी मानव का सर्वोच्च लक्ष्य नहीं हो सकता; क्योंकि नियम अपने आप में लक्ष्य नहीं होता, वह किसी लक्ष्य की प्राप्ति का साधनमात्र होता है। अतः वह लक्ष्य ही मानव का अन्तिम लक्ष्य है जिसकी ओर नियम संकेत करता है। नियम शुभ की प्राप्ति का साधन होता है। अतः शुभ ही सर्वोच्च लक्ष्य है, नियम का पालन नहीं। हमलोग यह भी देख चुके हैं कि सर्वोच्च शुभ आत्मबलिदान या भावना का समूल नाश भी नहीं हो सकता। कांट का कठोरतावाद इच्छाओं और भावनाओं के पूर्ण निराकरण को ही सर्वोच्च लक्ष्य मानता है। पर यह अवस्था मात्र निषेधात्मक अवस्था है। लेकिन सर्वोच्च शुभ की अवस्था भावात्मक होनी चाहिए और उसमें व्यक्तित्व का नाश नहीं, बल्कि उनकी पूर्णता होनी चाहिए। अतः मानव का सर्वोच्च लक्ष्य न भावना के अनुकूल जीवन व्यतीत करने में है (जैसा सुखवादी मानते हैं) और न भावना के नाश करने में (जैसा कांट मानते हैं)। उसका सर्वोच्च शुभ आत्म-सिद्धि या आत्म-पूर्णता में है। आत्म-पूर्णता का अर्थ है भावना को विवेक द्वारा नियन्त्रित करना। ऐसा करने से आन्तरिक सन्तुष्टि होती है। इसे आनन्द या परमानन्द की अवस्था कहते हैं। यह सही है कि मनुष्य में बुद्धि की प्रधानता है पर मनुष्य केवल विवेकी नहीं, पशु भी है।[1] अतः सुखवाद तथा बुद्धिवाद दोनों ही एकांकी सिद्धान्त हैं; क्योंकि वे मानव के केवल एक तत्त्व पर बल देते हैं और दूसरे की उपेक्षा करते हैं। अतः सही नैतिक सिद्धान्त वही हो सकता है जो दोनों तत्त्वों के महत्त्व को स्वीकार कर उनमें समन्वय स्थापित करे तथा जिसके अनुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानव-प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों की साम्यावस्था पर आधारित हो। यही आत्मपूर्णतावाद का मत है। आत्मपूर्णतावाद को आत्म-प्रसादवाद भी कहते हैं। आत्म-प्रसादवाद का अर्थ होता है, आत्मा का कल्याण। इच्छाओं और भावनाओं को बुद्धि के नियन्त्रण में लाने से ही आत्मा का कल्याण होता है। अतः इस सिद्धान्त को आत्म-कल्याणवाद भी कहते हैं।

1. "Man is a rational animal."—Aristotle.

आत्म-पूर्णतावाद के सामान्य सिद्धान्त

आत्मपूर्णतावाद के अनुसार पूर्णता या आत्मसिद्धि ही सर्वोच्च शुभ है। बुद्धि द्वारा इच्छाओं और भावनाओं के नियन्त्रण से ही आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है। आत्म-सिद्धि का अर्थ है व्यक्तित्व का पूर्ण विकास। इसी कारण इस सिद्धान्त को व्यक्तित्व का आचारशास्त्र भी कहा जाता है। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, विवेकी एवं सामाजिक आत्मा की सिद्धि द्वारा ही होता है। आदर्श आत्म विवेकी आत्मा है। विवेकी आत्मा की सिद्धि इच्छाओं और भावनाओं को बुद्धि द्वारा संचालित करने से होती है। आदर्श आत्मा सामाजिक आत्मा भी है, यह निम्न वैयक्तिक आत्मा नहीं है। सामाजिक आत्मा की सिद्धि तब होती है जब व्यक्ति अपनी वैयक्तिक आत्मा से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता के साथ अपने को मिला देता है। समाज में प्रेम, सहयोग, सेवा और सहानुभूति के भाव से ही सामाजिक आत्मा की प्राप्ति होती है। समाज द्वारा ही आत्म-सिद्धि सम्भव है, समाज से अलग रहकर नहीं। आत्म-त्याग से ही आत्म-सिद्धि होती है। अपनी सामाजिक आत्मा को प्राप्त करने के लिए वैयक्तिक आत्मा का परित्याग करना पड़ता है। पूर्णता आत्मा के अपने ही स्वतन्त्र प्रयास से प्राप्त होती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि आत्म-सिद्धि का अर्थ है व्यक्तित्व का पूर्ण विकास। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का अर्थ है मनुष्य की सभी प्रकार की शक्तियों यथा शारीरिक या भौतिक, बौद्धिक, सौन्दर्य-विषयक तथा नैतिक का सामंजस्यपूर्ण विकास। पर इसका यह अर्थ कभी नहीं है कि सभी शक्तियों का पृथक-पृथक रूप से पूर्ण विकास किया जाये। मनुष्य की शक्तियाँ सीमित हैं। अतः एक शक्ति का पूर्ण विकास दूसरी शक्ति के विकास में बाधक होता है। एक ही व्यक्ति बड़ा कवि, महान् राजनीतिज्ञ, वीर योद्धा, महान् समाज-सुधारक तथा महान् कलाकार आदि नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और प्रवृत्ति को समझकर अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा की दिशा में अपना विकास करना चाहिए। कारलाइल ने कहा है कि हमें जानना चाहिए कि हम क्या कर सकते हैं और तब हमें हरक्यूलस की ताकत के साथ उसे करना चाहिए।[1] मैकेन्जी ने कहा है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने विशेष क्षेत्र के अन्दर ही अपनी सारी शक्ति के साथ प्रयत्न करना चाहिए।[2] ब्रेडले ने भी कहा है कि प्रत्येक मनुष्य को समाज में प्राप्त स्थान के अनुकूल ही कर्त्तव्य

1. "Know what thou canst work at; and work at it like a Hercules."—Carlyle.
2. "Thou shalt labour, within thy particular province, with all thy heart and with all thy soul and with all thy strength and with all thy mind."
—Mackenzie.

करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य विशिष्ट योग्यताओं के साथ एक विशिष्ट वातावरण में जन्म लेता है। उसके कर्त्तव्य इन्हीं स्थितियों पर निर्भर करते हैं। वह अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों के विकास द्वारा ही अपने व्यक्तित्व का चरम विकास करता है और मानवता के विकास में अन्यतम सहयोग प्रदान कर सकता है। पर उसे सदा याद रखना चाहिए कि आत्म-सिद्धि का अर्थ है विवेकी या सामाजिक आत्मा की सिद्धि।

आत्म-सिद्धि आत्मा के अपने ही स्वतन्त्र प्रयास द्वारा प्राप्त हो सकती है। आत्मा का स्वतन्त्र प्रयास विवेक द्वारा नियन्त्रित रहना चाहिए। जो कर्म आत्मा की पूर्णता में सहायक होते हैं, वे उचित या शुभ हैं और जो कर्म पूर्णता की प्राप्ति में बाधक होते हैं, वे अनुचित या अशुभ।

आत्मपूर्णतावाद के अनुसार समाज की प्रगति सावयवात्मक है। समाज और व्यक्ति के बीच ठीक वही सम्बन्ध है जो शरीर और उसके अंगों के बीच रहता है। समाज शरीर की तरह है और व्यक्ति इसके आत्म-चेतन अंग हैं। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही उसके अंग स्वस्थ रहते हैं और अंगों के स्वस्थ रहने पर ही शरीर। ठीक इसी तरह व्यक्तियों के अच्छे रहने से समाज अच्छा हो सकता है और समाज के अच्छे रहने से व्यक्ति। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज ही में वह अपने नैतिक आदर्शों को प्राप्त कर सकता है। आदर्श समाज में ही मनुष्य अपने चरम लक्ष्य, आत्मपूर्णता को प्राप्त कर सकता है। इस चरम शुभ की प्राप्ति स्वार्थी बनने से नहीं हो सकती। दूसरों की शुभ-प्राप्ति में सहायक बनकर ही वह अपना शुभ प्राप्त कर सकता है। दूसरों के शुभ के लिए प्रयास करने में ही उसका अपना शुभ निहित है। सामान्य शुभ ही सच्चा वैयक्तिक शुभ है। उच्चतम शुभ सामान्य शुभ है और उसमें सभी वैयक्तिक शुभ निहित हैं। समाज के कल्याण में ही व्यक्ति का कल्याण निहित है।[1] स्वार्थ एवं वैयक्तिक सुख की खोज में जीवन बिताना जीवन को खोना है। सामान्य शुभ के लिए अपने जीवन को भुला देना ही जीवन प्राप्त करना है।[2] ग्रीन ने ठीक कहा है कि मनुष्य कभी भी अपने को उत्तमतम स्थिति में या उत्तमतम स्थिति के पथ पर नहीं सोच सकता जब तक वह दूसरों को भी उस स्थिति-प्राप्ति के न केवल साधन के रूप में बल्कि हिस्सेदार के रूप में सोचता है।[3]

1. "The individual can attain his good only in and through, along with and by means of, "the good of others, so that in promoting the good of others he is promoting his own good."
—Quoted by Prof. P. B. Chatterjee in his book : Principles of Ethics, p. 211.
2. "To seek life in isolation and selfishness is to lose life : to forget one's own life in promotion of the common good is to find life."
—Ibid. p. 211.
3. "Man cannot contemplate himself in a better state or on the way

आत्मपूर्णतावाद आत्मा के स्वरूप के वास्तविक विचार पर आधारित है। सुखवाद के अनुसार आत्मा पूर्णतः इन्द्रिय है। यह संवेदनाओं, अनुभूतियों तथा भावनाओं की एक शृंखलामात्र है। बुद्धिवाद का कहना है कि आत्मा की प्रकृति पूर्णतः विवेकी है, भावनाओं का इसमें कोई स्थान नहीं है। आत्मपूर्णतावाद के अनुसार आत्मा भावना तथा विवेक का एकत्व है। आत्मा एक स्थायी आध्यात्मिक सत्ता है जिसमें भावना को विवेक द्वारा व्यवस्थित एवं नियन्त्रित किया जाता है, दोनों का यथोचित स्थान आत्मा में है। आत्मपूर्णतावाद के अनुसार इसी वास्तविक पूर्ण आत्मा की सिद्धि हमारा चरम लक्ष्य है।

स्वार्थवाद तथा परार्थवाद का समन्वय : आत्मपूर्णतावाद स्वार्थवाद तथा परार्थवाद का समन्वय करता है। स्वार्थवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सिर्फ अपने शुभ की कामना करनी चाहिए, दूसरों के शुभ की नहीं। उसका नियम है 'प्रत्येक अपने लिए'। परार्थवाद का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य को सिर्फ दूसरों के सुख की खोज करनी चाहिए और अपने सुख का बलिदान करना चाहिए। इसका नियम है 'प्रत्येक दूसरों के लिए'। स्वार्थवाद के अनुसार व्यक्तिगत सुख आदर्श और परार्थवाद के अनुसार सामाजिक सुख। ये सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित हैं कि व्यक्तिगत शुभ तथा सामाजिक शुभ विरोधी हैं। पर पूर्णतावाद का कहना है कि दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है बल्कि दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। इसके अनुसार व्यक्ति का अपना शुभ सामाजिक शुभ में ही निहित है। अतः दूसरों की शुभ प्राप्ति में सहायक होकर ही मनुष्य अपना शुभ प्राप्त कर सकता है। इस तरह इस सिद्धान्त के अनुसार स्वार्थवाद तथा परार्थवाद में विरोध नहीं है। यह इन दोनों सिद्धान्तों का समन्वय उपस्थित करता है।

सुखवाद एवं बुद्धिवाद का समन्वय : आत्मपूर्णतावाद सुखवाद तथा बुद्धिवाद का भी समन्वय करता है। सुखवाद के अनुसार इच्छा तथा भावना की तृप्ति ही मानव का चरम लक्ष्य है। इसके अनुसार मानव-जीवन में भावना की ही प्रधानता एवं महत्ता बतलायी गई है और बुद्धि, जो मानव का प्रधान तत्त्व है, की उपेक्षा की गई है। अतः यह एकांगी सिद्धान्त है। बुद्धिवाद के अनुसार बुद्धि ही मानव जीवन का प्रधान एवं आवश्यक तत्त्व है। उसका यह कथन बिलकुल सही है पर इसके अनुसार भावना अबौद्धिक है, अतः उसका हनन करना नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। उसका यह विचार एकांगी है। भावना के हनन से नैतिक जीवन

to the best, without contemplating others, not only as means to that better state, but also as sharing it with him."

—Green : Prolegomena to Ethics, p. 210.

की विषय-वस्तु ही समाप्त हो जाती है। तब बुद्धि का कार्य ही क्या बचेगा ? अतः बुद्धिवाद का यह कथन कि भावना को नष्ट कर शुद्ध बुद्धि का जीवन व्यतीत करना ही नैतिक आदर्श है, सही नहीं है। इस तरह सुखवाद और बुद्धिवाद दोनों एकांगी सिद्धान्त है। बुद्धि भावना के बिना खोखली है और भावना बुद्धि के बिना अन्धी। आत्मपूर्णतावाद मानव जीवन में दोनों तत्त्वों के महत्त्व को स्वीकार करता है। मानव में विवेक की प्रधानता है पर भावना का भी अपना विशेष स्थान है। नैतिक जीवन के लिए भावना के हनन की आवश्यकता नहीं; अपितु बुद्धि द्वारा उसे व्यवस्थित एवं नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। अतः आत्मपूर्णतावाद आत्मसिद्धि या सम्पूर्ण आत्मा की प्राप्ति को ही चरम लक्ष्य मानता है। यह सुखवाद तथा बुद्धिवाद दोनों का समन्वय करता है। सुखवाद के अनुसार इन्द्रिय-आत्मा की तुष्टि चरम लक्ष्य है और बुद्धिवाद के अनुसार ऐन्द्रिय-आत्मा का त्याग या बलिदान। पर आत्मपूर्णतावाद के अनुसार सम्पूर्ण आत्मा, विवेकी तथा ऐन्द्रिय की सिद्धि या आत्मपूर्णता चरम लक्ष्य है।[1] जॉन केयर्ड ने ठीक ही कहा है कि नैतिकता या नैतिक जीवन मनुष्य की निम्न प्रकृति तथा उच्च प्रकृति के बीच के विरोध का हल कहा जा सकता है। इस विरोध को हल करने के लिए निम्न प्रकृति को उच्च प्रकृति की अभिव्यक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है।[2] ठीक ही कहा गया है कि आत्मपूर्णतावाद आचारशास्त्र के सभी विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय करता है। इस मत को आदर्शवादी मत कहते हैं।

आनन्द

आत्म-सिद्धि से आत्म-सन्तोष होता है, जिसे आनन्द कहा जाता है। आनन्द सुख से भिन्न है। क्षणिक इच्छाओं एवं भावनाओं की तृप्ति से सुख की प्राप्ति होती है। पर आनन्द की उत्पत्ति इच्छाओं और भावनाओं को बुद्धि द्वारा व्यवस्थित एवं संचालित करने से होती है। अतः सुख क्षणिक तथा ऐन्द्रिय होता है पर आनन्द स्थायी तथा बौद्धिक। आनन्द की उत्पत्ति प्रत्येक इच्छा की अलग-अलग तृप्ति से नहीं हो सकती और न अनेक सम्मिलित इच्छाओं की तृप्ति से ही; बल्कि विभिन्न इच्छाओं के बीच बौद्धिक व्यवस्था की स्थापना से होती है।

1. "As the watchword of Hedonism is said to be self-pleasing or self gratification and as that of Rationalism is apt to be self sacrifice or self-denial, so the watchword of Eudaemonism may be said to be self realization or self-fulfilment. —Seth.
2. "Morality or moral life may be described as that solution of the contradiction between man's higher and lower nature which is accomplished by the transformation of the lower into the organ or expression of the higher."—John Caird.

आत्म-सिद्धि से आनन्द तो अवश्य उत्पन्न होता है पर यही आनन्द सर्वोच्च शुभ नहीं है। सर्वोच्च शुभ है आत्मपूर्णता। आनन्द तो आत्मपूर्णता का संकेत-मात्र है। आत्मपूर्णतावाद नैतिक जीवन में आनन्द के महत्त्व को स्वीकार करता है। सच्चा नैतिक जीवन आनन्दमय जीवन है। जब मानव प्रकृति के विरोधात्मक तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित हो जाता है, तब निम्न और उच्च प्रकृति में समन्वय होता है तब आनन्द उत्पन्न होता है। इस मत के अनुसार नैतिक मनुष्य वह है जो नैतिक कर्मों के करने में आनन्द का अनुभव करता है। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि कोई भी व्यक्ति न्यायी नहीं कहा जाएगा जब तक न्याय करने में उसे सुख की अनुभूति नहीं होती, फिर किसी को हम उदार नहीं कहेंगे जब तक उदार कर्म करने में उसे आनन्द नहीं मिलता।[1]

नैतिक जीवन में बुद्धि तथा भावना दोनों का स्थान है। आदर्शवादी आचार-शास्त्र का मत है कि मानव-प्रकृति में विवेक का स्थान सर्वोपरि है। विवेक का काम इच्छाओं तथा भावनाओं का निराकरण करना नहीं है अपितु उन्हें व्यवस्थित एवं नियन्त्रित करके सच्ची आत्मा की सिद्धि का साधन बना देना है, जिस प्रकार विवेकी आत्मा संवेदना के आधार पर अपना विश्व-सम्बन्धी विचार निर्मित करती है, उसी तरह इच्छाओं और भावनाओं के आधार पर वह अपने नैतिक जीवन का निर्माण भी करती है। प्रो० सेथ ठीक ही कहते हैं कि आत्मसिद्धि का काम है नैतिक समन्वय। इस प्रकार के समन्वय से आनन्द की उत्पत्ति होती है।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि नैतिक कर्म सुख या आनन्द के विचार और इच्छा से किया जाता है। आत्मपूर्णतावाद का मत है कि नैतिक कर्म को इसलिए करना चाहिए कि नैतिक है, इसलिए नहीं कि इससे आत्म-सन्तोष या आनन्द मिलता है। सुख-प्राप्ति के विचार से नैतिक कर्म करना सच्ची नैतिकता नहीं है। लेकी का भी मत है कि कर्त्तव्य की भावना से कर्त्तव्य करने पर आत्मसन्तोष का अनुभव होता है पर, यदि मात्र मानसिक सुख की आशा से ही कर्त्तव्य किया जाये तो अन्तःकरण उसे नैतिक नहीं बतलाता।[2]

डा० पालसेन का सिद्धान्त : डॉ० पालसेन का सिद्धान्त भी आत्मपूर्णता के

1. "No one would call a man just who did not take pleasure in doing justice, nor generous who took no pleasure in acts of generosity, and so on."—Aristotle.
2. "A feeling of satisfaction follows the accomplishment of duty for itself; but if the duty be performed solely through the expectation of mental pleasure, conscience refuses to ratify the bargain."
—Lecky : History of European Morals, Vol. I, p. 37

सिद्धान्त से बिलकुल एकमत है। वे कहते हैं कि वही मानव जीवन सबसे मूल्यवान होता है जो मनुष्य की सर्वोच्च शक्तियों के विकास में तथा निम्न प्रवृत्तियों को उच्च के अधीन करने में सबसे अधिक सफल होता है।[1]

अन्तःकरण

आत्मपूर्णतावाद के अनुसार अन्तःकरण सम्पूर्ण आत्मा है। सम्पूर्ण आत्मा ही नैतिक नियमों का निर्माण करती है और उन्हें अपने ऊपर लागू करती है। नैतिक नियम बाह्य नियम नहीं, अन्तःनियम हैं। पर यह आत्मा के किसी एक अंश का नियम नहीं है; क्योंकि तब यह सम्पूर्ण आत्मा के लिए बाह्य नियम हो जायेगा। अन्तःअनुभूतिवादियों के अनुसार अन्तःकरण मनुष्य की एक विशेष नैतिक शक्ति है, उसकी सम्पूर्ण आत्मा नहीं। यही कारण है कि उनके अनुसार नैतिक नियम बाह्य हो जाता है। पर आत्मपूर्णतावाद का नैतिक नियम सच्चा अन्तःनियम है क्योंकि यह सम्पूर्ण आत्मा द्वारा निर्णित है।

नैतिक बाध्यता

नैतिक बाध्यता के सम्बन्ध में आत्मपूर्णतावाद का मत है कि बुद्धिमय आत्मा पाशविक आत्मा को कर्त्तव्य के लिए बाध्य करती है। नैतिक बाध्यता किसी बाह्य सत्ता के द्वारा आरोपित नहीं की जाती, यथा समाज, राज्य या ईश्वर के द्वारा। यह नैतिक चेतना का ही अभिन्न तत्त्व है। नैतिक प्रगति के क्रम में नैतिक बाध्यता का लोप नहीं होता। इसका कारण है कि शाश्वत तथा अनन्त आत्मा की पूर्ण-सिद्धि, जो हमारा सर्वोच्च शुभ है, कभी भी सम्भव नहीं है। आदर्श एवं यथार्थ के बीच सदा से द्वन्द्व रहा है तथा रहेगा। अतः आन्तरिक नैतिक बाध्यता सर्वदा ही मानव जीवन में वर्तमान रहती है। जैसे-जैसे हम नैतिकता के रथ पर अग्रसर होते हैं, हमारा नैतिक आदर्श भी उतना ही गहरा एवं महान होता जाता है। अतः इस परिवर्तनशील आदर्श की पूर्णतया सिद्धि कभी भी मानव जीवन में सम्भव नहीं है और इसलिए नैतिक बाध्यता का भी कभी लोप नहीं हो पाता।

आत्मपूर्णतावाद के प्रमुख समर्थक

प्लेटो, अरस्तू, बटलर, हीगेल, ग्रीन, ब्राडले, बोसान्क्वेट आदि आत्मपूर्णतावाद के समर्थक हैं। अब हम संक्षेप में इनके मतों का विवेचन करेंगे।

1. "That human life will be the most valuable which succeeds best in developing the highest powers of man and in subordinating the lower functions to the higher."
—Dr. Paulsen : A System of Ethics, pp. 278-79.

(i) **प्लेटो** : प्लेटो आत्म-प्रसादवाद के समर्थक हैं। उनके अनुसार बुद्धि मानवीय आत्मा का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। आत्मा का सर्वोच्च जीवन बौद्धिक या दार्शनिक चिन्तन का जीवन है। बौद्धिक जीवन वासनारहित नहीं होता, क्योंकि सर्वोच्च सत्य और शुभ, सर्वोच्च सौन्दर्य भी है। प्लेटो का आचारशास्त्र उनके मनोविज्ञान पर आधारित है। उनके अनुसार आत्मा में तीन तत्त्व है—विवेक, इच्छा तथा आध्यात्मिकता। इनमें विवेक सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। आध्यात्मिकता विवेक के नियमों का प्रयोग इच्छाओं के क्षेत्र में करती है और इच्छाओं को नियन्त्रित करती है। आत्मा के सभी तत्त्वों के पूर्ण सामंजस्य का जीवन ही शुभ जीवन है। नैतिक जीवन वह जीवन है जिसमें आत्मा के निम्न तत्त्वों को विवेक के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है।

(ii) **अरस्तू** : अरस्तू भी आत्म-प्रसादवाद के समर्थक हैं। उनके अनुसार सच्ची आत्मा विवेकी आत्मा है। बुद्धि के द्वारा इच्छाओं को नियन्त्रित करना ही नैतिकता है।

(iii) **बटलर** : बटलर के अनुसार अन्तःकरण चरम नैतिक मापदण्ड है। यही मानव का सर्वोच्च तत्त्व है। अन्तःकरण नैतिक बुद्धि है, नैतिक इन्द्रिय नहीं। यह बुद्धिमय तथा प्रभावपूर्ण होता है। बटलर कहते हैं कि जैसा अधिकार और प्रभुत्व नैतिक बुद्धि में है वैसी यदि इसमें शक्ति होती तो यह विश्व पर शासन करती।[1]

बटलर के अनुसार मानव प्रकृति में दो तरह की प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—स्वार्थवादी तथा परार्थवादी। स्वार्थवादी प्रवृत्तियों से मुख्यतः व्यक्ति का अपना कल्याण होता है तथा परार्थवादी प्रवृत्तियों से दूसरे लोगों का। इनके अनुरूप ही मन में दो प्रकार की सामान्य भावनाएँ रहती हैं—आत्म-प्रेम तथा दयालुता। आत्म-प्रेम स्वार्थवादी प्रवृत्तियों को इस तरह संचालित करता है कि उससे व्यक्ति को अधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। दयालुता परार्थवादी प्रवृत्तियों का संचालन करती है तथा दूसरे लोगों के आनन्द को बढ़ाती है। आत्म-प्रेम तथा दयालुता दोनों बौद्धिक भी हैं। अन्तः अतःकरण दोनों के अधीन हैं। दोनों का संचालन अन्तःकरण द्वारा होना चाहिए। कोई भी प्रवृत्ति अपने आप में बुरी नहीं है। वह बुरी तब होती है जब वह अपनी सीमा को पार कर जाती है। अतः आदर्श मानव-प्रकृति वह है जिसमें स्वार्थवादी तथा परार्थवादी प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि अपनी सीमा के भीतर यथोचित रूप से होती है। आत्म-प्रेम तथा दयालुता के द्वारा ही

1. "Had it strength, as it has right, had it power, as it has manifest authority, it would absolutely govern the world." —Butler

यह निर्धारित होता है कि किस प्रवृत्ति को कहाँ और किस सीमा तक सन्तुष्टि चाहिए। अतः आदर्श मानव-प्रकृति वह है जिसमें विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियाँ 'आत्म-प्रेम तथा दयालुता' के अधीन रहती हैं तथा ये दोनों आत्म-प्रेम एवं दयालुता के सिद्धान्त अन्तःकरण के अधीन रहते हैं। इस आदर्श प्रकृति के अनुकूल कर्म करना ही नैतिकता है। ऐसा कर्म करने से व्यक्ति तथा समाज दोनों को आनन्द की प्राप्ति होती है। मनुष्य की वास्तविक प्रकृति आदर्श-प्रकृति नहीं है, उसे इसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए।

यही बटलर का आत्मपूर्णतावाद या आत्म-प्रसादवाद का सिद्धान्त है।

(iv) **हीगेल** : कांट ने केवल विवेक की ही महत्ता को स्वीकार किया और भावना के अधिकारों की अवहेलना की। हीगेल भावना के अधिकारों को भी स्वीकार करते हैं और बुद्धि के अधिकारों को भी और दोनों के अधिकारों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं। अतः वे आत्मपूर्णतावाद के समर्थक हैं। निम्नलिखित आदर्शवादी उक्तियों की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं—

1. **जीने के लिए मरो**[1] : मध्ययुगी ईसाई धर्म में इसका अर्थ था कि आत्मा की रक्षा के लिए शरीर का बलिदान कर देना चाहिए। आत्मा की मुक्ति के लिए शरीर का नाश आवश्यक है। पर हीगेल इस युक्ति का ऐसा अर्थ नहीं करते। उनका कहना है कि मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए उसकी क्षुद्र एवं वैयक्तिक आत्मा का हनन आवश्यक है। यहाँ क्षुद्र आत्मा के हनन का अर्थ है कि हमें बुद्धि द्वारा अपनी निम्न प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना चाहिए। भावनाओं को बुद्धि द्वारा संचालित करके हमें उनको उच्चतर जीवन की अभिव्यक्ति बना देना चाहिए। इसलिए हीगेल के अनुसार इस उक्ति का स्पष्ट अर्थ होता है कि हमें अपनी कुप्रवृत्तियों का हनन करना चाहिए एवं सुप्रवृत्तियों पर नैतिक जीवन को आधारित करना चाहिए।

2. **व्यक्ति बनो**[2] : हीगेल के अनुसार इसका अर्थ है कि हमें अपनी क्षुद्र, व्यक्तिगत आत्मा को नियंत्रित करके उच्चतर आत्मा की सिद्धि करनी चाहिए। मनुष्य में पशुता और विवेक दोनों हैं। हमें पाशविक आत्मा को नियंत्रित एवं परिवर्तित करके बुद्धिमय आत्मा को प्राप्त करना चाहिए। प्रो० सेथ कहते हैं कि हमें स्वाभाविक वैयक्तिकता के आधार पर आदर्श व्यक्तित्व की सृष्टि करनी चाहिए।[3]

1. "Die to live."
2. "Be a person."
3. "Constitute, out of your natural individuality, the true or ideal-self of personality."—Prof. Seth.

बुद्धि के कारण ही मनुष्य व्यक्ति है। अतः हीगेल के अनुसार हमें अपने बुद्धिमय जीवन का विकास करना चाहिए अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है। व्यक्तित्व का विकास स्वयं लक्ष्य है, किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति का साधन नहीं। इसलिए हीगेल कहते हैं कि व्यक्ति बनो तथा दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करो।[1] तात्पर्य यह कि हमें अपने व्यक्तित्व की सिद्धि का भरपूर प्रयास करना चाहिए तथा दूसरे के व्यक्तित्व का आदर करना चाहिए।

(v) **ब्रैडले की उक्ति : "मेरा स्थान और उससे सम्बन्धित कर्त्तव्य"**[2] : अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एथिकल स्टडीज' में ब्रैडले कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का समाज में एक विशेष स्थान है और तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य भी है। प्रत्येक मनुष्य विशिष्ट योग्यता के साथ जन्म लेता है। हर व्यक्ति की शक्ति समान नहीं होती। अतः हर व्यक्ति हर काम को नहीं कर सकता। उसे अपनी योग्यता के अनुकूल ही कर्म करना चाहिए। उससे ही उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति का समाज में अपना विशेष स्थान है जैसे शिक्षक; शासक आदि के रूप में। उस स्थान के कुछ निश्चित कर्त्तव्य भी हैं। व्यक्ति को चाहिए कि अपने स्थान या पद से सम्बन्धित कर्त्तव्यों का पालन अपनी सारी शक्ति और योग्यता के साथ करे। इसी में उसका भी कल्याण है और समाज का भी। यदि समाज का प्रत्येक सदस्य अपने स्थान से सम्बन्धित कर्त्तव्यों का पालन करता है तो सम्पूर्ण समाज का अभ्युदय होता है और प्रत्येक व्यक्ति का भी। इसी से प्रत्येक व्यक्ति आत्मसिद्धि पा सकता है। ऐसा करने से ही उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव है। तभी उसे आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्थान तथा योग्यता के अनुसार अपना कर्त्तव्य करना चाहिए।

(vi) **ग्रीन** : ग्रीन कहते हैं कि प्रकृति के अन्तर्गत एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है। मानव रूपी सीमित आत्माएँ उस शाश्वत चेतना की सीमित अभिव्यक्तियाँ हैं। अतः मानव का सर्वोच्च शुभ है उस अनन्त चेतना की सिद्धि प्राप्त करना। नैतिक जीवन का अर्थ है इच्छाओं तथा वासनाओं के जीवन में सुधार लाकर आध्यात्मिक तथा बौद्धिक जीवन को प्राप्त करना। मनुष्य की सच्ची आत्मा बौद्धिक तथा आध्यात्मिक हैं। अतः इसी की सिद्धि मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इसकी ही सिद्धि से हम अनन्त आत्मा की सिद्धि की ओर अग्रसर हो सकते हैं। ग्रीन का यह मत आत्मपूर्णतावाद का समर्थन करता है।

---

1. "Be a person and respect others as persons. '—Hegel.
2. "My station and its duties."—Bradley.

(vii) **बोसान्क्वेट** : बोसान्क्वेट के अनुसार आत्म-सिद्धि का अर्थ है जीवन के सर्वोच्च मूल्यों, यथा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की सिद्धि। हमें अपनी संकीर्ण तथा व्यक्तिगत आत्मा को त्यागकर सामान्य तथा व्यापक आत्मा को प्राप्त करना चाहिए। इसमें ही सर्वोच्च मूल्य निहित है।

समालोचना

1. बहुत से विचारकों का मत है कि आत्मपूर्णतावाद भी स्वार्थवादी सिद्धान्त है क्योंकि आत्मा की पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करना भी स्वार्थपरता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करता है तो वह भी स्वार्थी ही है।

पर वास्तव में इस आलोचना में कोई तथ्य नहीं है। आत्मपूर्णतावाद में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि व्यक्ति और समाज में विरोध नहीं है। सामान्य एवं सामाजिक शुभ ही व्यक्ति का उच्चतम शुभ है। निम्न आत्मा को नियन्त्रित कर उच्च आत्मा की प्राप्ति से ही विभिन्न आत्माओं के बीच समन्वय एवं सामंजस्य सम्भव है।

2. आत्मपूर्णतावाद के विरुद्ध दूसरा आक्षेप किया जाता है कि यह सिद्धान्त आदर्शवादी दर्शन पर आधारित होने के कारण उस दर्शन के दोषों से दूषित है। आदर्शवादी दर्शन में बहुत से दोष हैं। अतः जब आत्मपूर्णतावाद का आधार ही दूषित है तब वह कैसे निर्दोष सिद्धान्त हो सकता है?

3. आत्मपूर्णतावाद समाज को सावयवात्मक मानता है। इसके अनुसार समाज और व्यक्ति में ठीक वही सम्बन्ध है जो शरीर और उसके अंगों में है। पर हम पहले देख चुके हैं कि समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। यह स्पष्ट है कि शरीर तथा इसके अंगों में जिस प्रकार का सम्बन्ध है, उसी प्रकार का सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज के बीच नहीं हो सकता।

4. आत्मपूर्णतावाद का मत है कि हमें अपनी उच्चतर शक्तियों का विकास करना चाहिए। पर लीली कहते हैं कि निम्नतर शक्तियों की अवहेलना कर उच्चतर शक्तियों का विकास करना नैतिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि निम्नतर शक्तियों को भी कुछ दूर तक विकसित करना आवश्यक है। यदि हम अपनी पाचन-शक्ति को ठीक से विकसित नहीं करते तो यह हमारे व्यक्तित्व के विकास में बाधक होगा, हमारे आदर्शों की सिद्धि में रुकावट डालेगा।

लीली का कथन बिल्कुल सही है। पर यह वास्तव में आत्मपूर्णतावाद की आलोचना नहीं है। आत्मपूर्णतावाद यह नहीं कहता कि निम्नतर शक्तियों की

अवहेलना कर उच्चतर शक्तियों का विकास करना चाहिए, अपितु वह कहता है कि निम्नतर शक्तियों को इस तरह नियन्त्रित एवं परिवर्तित करना चाहिए कि वे उच्चतर शक्तियों के विकास का साधन बन सकें।

5. कभी-कभी अपनी सर्वोत्तम शक्ति के विकास को रोक देना भी नैतिक कहा जाता है। किसी मेधावी छात्र का युद्ध के समय देश-सेवा के लिए अध्ययन छोड़ देना नैतिक है, अनैतिक नहीं। हमारे देश के बहुत से सपूतों ने अपनी सर्वोत्तम शक्तियों, यथा अध्ययन, कला-प्रेम आदि के विकास को रोक कर स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लिया। वे लोग नैतिक पुरुष हैं, अनैतिक नहीं।

6. अन्त में, यह सिद्धान्त यह नहीं बतलाता कि किन कर्मों के करने से आत्मपूर्णता प्राप्त होगी। यह बतलाता है कि हमें अपनी आध्यात्मिक शक्ति का विकास करना चाहिए, उसकी ही सिद्धि हमारा लक्ष्य होना चाहिए। पर यह उत्तर बड़ा अस्पष्ट एवं सैद्धान्तिक है। इससे यह नहीं पता चलता कि किन कर्मों को करने से हमारे आध्यात्मिक तत्त्व का विकास होगा। अतः यह सिद्धान्त सैद्धान्तिक है, व्यावहारिक नहीं।

सत्रहवाँ अध्याय

मूल्यवाद या मूल्यवादी मापदंड

मूल्य की परिभाषा

साधारणतः 'मूल्य' एक अर्थशास्त्रीय प्रत्यय माना जाता है। वह वस्तु मूल्यवान समझी जाती है जो मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती है। अर्बन ने कहा है कि मूल्य वह है जो मानवीय इच्छा की सन्तुष्टि करता है। सभी वस्तुएँ जो मानवीय इच्छा की पूर्ति करती है मूल्यवान या शुभ है।[1] इस परिभाषा के अनुसार भोजन, आवास आदि वस्तुएँ मूल्यवान हैं क्योंकि उनसे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। भोजन मूल्यवान है क्योंकि इससे हमारी भूख मिटती है; घर मूल्यवान या शुभ है क्योंकि यह धूप और सर्दी से हमारी रक्षा करता है। इच्छा की सन्तुष्टि तथा जीवन की रक्षा और वृद्धि में एक आवश्यक सम्बन्ध है। अतः मूल्य की एक दूसरी परिभाषा भी दी जा सकती है। वे वस्तुएँ मूल्यवान हैं जो जीवन-रक्षा या जीवन-वृद्धि में सहायक होती हैं। भोजन, घर आदि मूल्यवान हैं क्योंकि इनसे हमारे जीवन की रक्षा तथा वृद्धि होती है। मूल्य की सरल परिभाषा मानव के प्रारम्भिक जीवन की व्याख्या करती है पर आज के सभ्य एवं जटिल जीवन की व्याख्या नहीं कर सकती। आज मनुष्य की आवश्यकताएँ अनेक तथा जटिल हैं। अतः यह निर्णय करना कठिन है कि किन आवश्यकताओं की पूर्ति से जीवन की रक्षा एवं वृद्धि होगी। दूसरी बात यह है कि मात्र जीवन तथा शुभ जीवन में भेद है। मनुष्य पशुओं की तरह केवल जीना नहीं चाहता; बल्कि अच्छी तरह जीना चाहता है। जीवन स्वयं शुभ नहीं है; जीवित रहने से जिस उद्देश्य की प्राप्ति होती है उससे जीवन शुभ तथा मूल्यवान होता है। जिसके कारण जीवन शुभ या अच्छा होता है, वह मूल्यवान है। दूसरे शब्दों में, मूल्य वह है जो जीवन को शुभ या अच्छा बनाता है।

आत्म-सिद्धि एवं मूल्य

मनुष्य इच्छाओं का मात्र योग नहीं है। अतः जो कुछ इच्छाओं की सन्तुष्टि मात्र करता है, वह मनुष्य के लिए स्वतः मूल्यवान नहीं है। मनुष्य केवल पशु भी नहीं है। अतः जो केवल उसके जीवन की रक्षा तथा वृद्धि करता है, वह भी उसके

1. "Value is that which satisfies human desire. All things that satisfy human desire have value, or are good." —Urban

लिए स्वतः मूल्यवान नहीं है। मनुष्य एक आत्मा या चेतन व्यक्ति है। अतः जो वस्तु आत्मसिद्धि या आत्म-विकास में सहायक होती है अथवा जिससे उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सन्तुष्टि होती है, वही परम तथा स्वतः मूल्यवान है। प्रारम्भ में ऐसा मालूम पड़ता है कि जिस वस्तु से हमारी इच्छाओं की सन्तुष्टि होती है वही मूल्यवान है। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि इच्छाओं की सन्तुष्टि अपने आप में मूल्यवान नहीं है। इसका मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह जीवन की रक्षा तथा वृद्धि में कहाँ तक सहायक होता है। अतः हमारी इच्छाओं तथा आवश्यकताओं का मूल्य जीवन की रक्षा तथा वृद्धि के साथ इनके सम्बन्ध पर निर्भर करता है। पुनः जीवन भी स्वयं स्वतः मूल्यवान नहीं है। जीवन का मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि यह किस प्रकार का जीवन है। जीवन जिस उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति का साधन बनाया जाता है उस उद्देश्य या लक्ष्य पर जीवन का मूल्य निर्भर करता है। जीवन द्वारा जिस लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है वह लक्ष्य ही जीवन को मूल्यवान बनाता है। अर्बन ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य के लिए मूल्य का अर्थ इच्छा की सन्तुष्टि तथा जीवन के कल्याण से परे है। मनुष्य और कुछ भी हो, पर वह व्यक्ति या आत्मा अवश्य है। अतः आत्म-सिद्धि के प्रत्यय को सम्मिलित किए बिना मानवीय मूल्य के सही प्रत्यय का निर्माण नहीं किया जा सकता है।[1]

मूल्यों के प्रकार

1. **भावात्मक तथा अभावात्मक मूल्य :** मूल्य दो प्रकार के हैं—भावात्मक तथा अभावात्मक। जिस वस्तु में भावात्मक मूल्य है, उसे शुभ तथा जिसमें अभावात्मक मूल्य है उसे अशुभ कहते हैं। जो वस्तु इच्छा को सन्तुष्टि, जीवन तक्षा तथा वृद्धि या आत्म-सिद्धि में सहायक है, वह शुभ है तथा जो इसमें बाधक है, वह अशुभ।

'शुभ' का शाब्दिक अर्थ है 'लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक'। जो वस्तु किसी लक्ष्य की प्राप्ति में साधन के रूप में उपयोगी है, उसे शुभ कहते हैं तथा जो लक्ष्य-पूर्ति में बाधक, उसे अशुभ। मनुष्त का परम लक्ष्य है, आत्म-सिद्धि या आत्म-विकास। अतः जो आत्म-सिद्धि में सहायक है, वह परम शुभ है।

1. "Value for man must go beyond the concepts of satisfaction of desire and organic welfare. Whatever else men are, they are persons or selves, and no adequate conception of human value can be formed withont including the concept of self-realization."
—Urban : Fundamentals of Ethics, p. 18

2. **साधक मूल्य तथा तात्त्विक मूल्य :** कुछ वस्तुएँ अपने आप में मूल्यवान नहीं होती। वे मूल्यवान इसलिए होती हैं कि उनसे किसी मूल्यवान लक्ष्य की प्राप्ति होती है। भोजन, वस्त्र, घर, सम्पत्ति आदि स्वतः मूल्यवान नहीं हैं। इनका मूल्य इसलिए है कि इनसे किसी मूल्यवान लक्ष्य की प्राप्ति होती है। भोजन अपने आप में मूल्यवान नहीं है। यह इसलिए मूल्यवान है कि इससे जीवन की रक्षा होती है। वस्त्र और घर भी मूल्यवान इसलिए है कि इनसे सर्दी और गर्मी में शरीर की रक्षा होती है। सम्पत्ति भी स्वतः मूल्यवान नहीं हैं। यह सुख-प्राप्ति का साधन-मात्र है। अतः भोजन, वत्र, घर, सम्पत्ति आदि वस्तुएँ साधन रूप में इष्ट हैं। उनकी कामना हम स्वयं उनके लिए नहीं करते, बल्कि किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए करते हैं। हम उन्हें इसलिए प्राप्त करना चाहते हैं कि उनसे अन्य लक्ष्यों की सिद्धि होती है। उनमें स्वतः मूल्य का समावेश नहीं है। अतः उन्हें साधक या बाह्य मूल्य कहते हैं।

तात्त्विक या अन्तः मूल्य वह है जो स्वतः मूल्यवान है, जिसकी कामना हम स्वयं उसी के लिए करते हैं, किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं। अतः स्वतः मूल्यवान वह वस्तु है जो साध्य रूप में इष्ट है, साधन रूप में नहीं। उसकी ही प्राप्ति मूल्यवान समझी जाती है। वह मूल्यवान इसलिए नहीं है कि उससे किसी मूल्यवान लक्ष्य की प्राप्ति होती है। वह सदा साध्य है, कभी भी साधन नहीं होता। ऐसी वस्तुओं में तात्त्विक या अन्तःमूल्य रहता है। ये स्वतः मूल्यवान होती हैं। सत्य, सौन्दर्य, शील, संस्कृति, पुण्य आदि स्वतः मूल्यवान हैं। इनकी प्राप्ति ही मूल्यवान समझी जाती है। हम इनकी कामता स्वयं इनके लिए करते हैं, किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं। वे स्वयं साध्य हैं, किसी लक्ष्य-प्राप्ति के साधन नहीं। वे स्वतः शुभ हैं। इन वस्तुओं में तात्त्विक मूल्य है। सुखवादियों के अनुसार सुख ही तात्त्विक मूल्य है; क्योंकि सुख की प्राप्ति सुख के लिए ही की जाती है, किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं। कांट ने शुभ संकल्प को तात्त्विक मूल्य माना है। इसी तरह सत्य, सौन्दर्य, प्रेम, शील आदि भी तात्त्विक मूल्य हैं। राइट ने ठीक कहा है कि तात्त्विक मूल्य अपने ही कारण मूल्यवान होता है और साधक मूल्य अपने परिणाम के कारण।[1]

3. **अस्थायी और स्थायी मूल्य :** कुछ वस्तुओं से प्राप्त सुख क्षणिक होता है, यथा इन्द्रियों से प्राप्त सुख। अतः उनका मूल्य अस्थायी है। विवेक द्वारा प्राप्त आनन्द अपेक्षाकृत स्थायी होता है। अतः इसका मूल्य स्थायी है।

1. "An intrinsic value is of worth on its own account; an instrumental value because of its consequence."
—Wright : General Introduction to Ethics, p. 338.

4. **उत्पादक तथा अनुत्पादक मूल्य :** खर्च करने से जो वस्तुएँ घट जाती हैं उनमें अनुत्पादक मूल्य होता है। धन, सम्पत्ति आदि भौतिक वस्तुएँ ऐसी हैं कि इनका जितना प्रयोग या खर्च होगा उतनी वे घटती जाएँगी। अतः ये सभी अनुत्पादक मूल्य हैं। पर ज्ञान आदि अभौतिक वस्तुएँ ऐसी हैं कि उनका जितना प्रयोग या खर्च किया जाता है; उतनी ही ये बढ़ती हैं। खर्च करने से ये बढ़ती हैं, घटती नहीं। अतः ये उत्पादक मूल्य हैं।

अर्बन के अनुसार मूल्यों का वर्गीकरण :

अर्बन ने सर्वप्रथम मूल्यों को दो वर्गों में रखा है : 1. जैविक-मूल्य तथा 2. अति जैवि-मूल्य।

अति जैविक-मूल्यों को वे पुनः दो वर्गों में विभाजित करते हैं : 1. सामाजिक मूल्य तथा 2. आध्यात्मिक मूल्य।

इस तरह मूल्य तीन प्रकार के हैं : 1. जैविक-मूल्य, 2. सामाजिक मूल्य तथा 3. आध्यात्मिक मूल्य।

1. **जैविक मूल्य तीन हैं :** (i) शारीरिक मूल्य (ii) आर्थिक-मूल्य तथा (iii) मनोरंजक मूल्य।

2. **सामाजिक मूल्य दो हैं :** (i) साहचर्य मूल्य तथा (ii) चारित्रिक मूल्य।

3. **आध्यात्मिक मूल्य तीन हैं :** (i) सौन्दर्य-बोधक मूल्य, (ii) बौद्धिक मूल्य तथा (iii) धार्मिक मूल्य। इस तरह कुल मिलाकर मानवीय मूल्य आठ प्रकार के माने गए हैं।

1. **शारीरिक मूल्य :** जिससे शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। जैसे अन्न, फल, दूध आदि।

2. **आर्थिक मूल्य :** धन, सम्पत्ति आदि।

3. **मनोरंजक मूल्य :** खेल-कूद आदि सभी वस्तुएँ जिनसे मनुष्य का मन बहलता है।

4. **साहचर्य मूल्य :** मित्रता आदि।

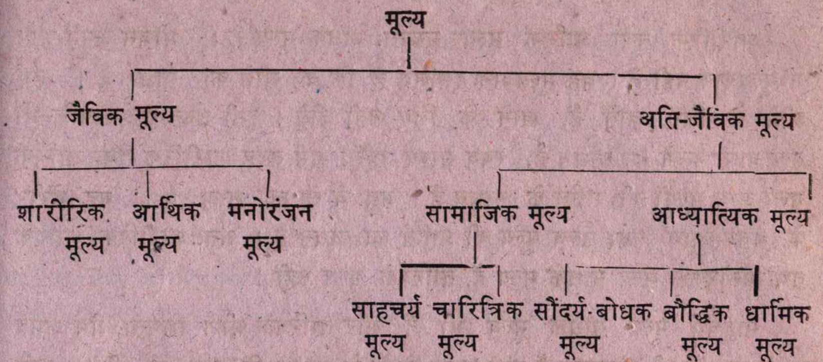
5. **चारित्रिक मूल्य :** सच्चाई, ईमानदारी आदि।

6. **सौन्दर्य-बोधक मूल्य :** कला, सौन्दर्य चित्रकारी आदि।

7. **बौद्धिक मूल्य :** ज्ञान।

8. **धार्मिक मूल्यः** ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग आदि।

मूल्य के उपर्युक्त वर्गीकरण को निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।



ऊपर के वर्गीकरण में सभी सम्भव मूल्य शामिल हैं। जैविक मूल्य वह है जो जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक है। शारीरिक, आर्थिक तथा मनोरंजक मूल्य जैविक मूल्य हैं; क्योंकि ये जीवन की रक्षा के साधन हैं एवं जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। इनसे शारीरिक आत्मा को सन्तुष्टि होती है। अतः इन्हें शारीरिक मूल्य भी कहा जाता है। अति जैविक मूल्य वह है जिससे मनुष्य के शरीर से उच्च प्रकृति की सिद्धि होती है। सामाजिक मूल्य तथा आध्यात्मिक मूल्य अति जैविक मूल्य हैं; क्योंकि इनसे क्रमशः हमारी सामाजिक-आत्मा तथा आध्यात्मिक आत्मा की सन्तुष्टि होती है। साहचर्य तथा चारित्रिक मूल्य से हमारी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अतः इन्हें सामाजिक मूल्य कहा जाता है। सौन्दर्यबोधक, बौद्धिक तथा धार्मिक मूल्य हमारी आध्यात्मिक माँगों की पूर्ति करते हैं। अतः ये आध्यात्मिक मूल्य के अन्तर्गत आते हैं।

शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य जीवन के लिए सबसे अधिक आवश्यक है। यदि भोजन न मिले या पैसे न हों तो जीवन सम्भव नहीं हो सकता। अन्य मूल्य जीवन के लिए इतने आवश्यक नहीं हैं। खराब चरित्र का मनुष्य या अधार्मिक मनुष्य भी जीता है। पर मूल्यों के महत्त्व की दृष्टि से यह क्रम उलटा पड़ता है। शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य निम्न मूल्य कहे जाते हैं; क्योंकि इनसे निम्न आत्मा की सन्तुष्टि होती है। सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य क्रमशः उच्च मूल्य हैं; क्योंकि इनसे क्रमशः उच्च आत्मा की सिद्धि होती है। अतः महत्त्व की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक मूल्य हैं, तब सामाजिक और अन्त में शारीरिक तथा आर्थिक। इस तरह ऊपर जिस क्रम में आठों मूल्य रखे गए हैं—वे जीवन की रक्षा के दृष्टिकोण से हैं। पर जीवन के महत्त्व के दृष्टिकोण से क्रम उल्टा हो जायेगा। जीवन की रक्षा के लिए पहला सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, दूसरा उससे कम और अन्तिम सबसे कम। पर जीवन के महत्त्व के दृष्टिकोण से अन्तिम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और पहला सबसे कम।

शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य मुख्यतः साधक मूल्य है। भोजन अपने आप में मूल्यवान नहीं है। वह मूल्यवान इसलिए है कि वह जीने का साधन है। हम जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए नहीं जीते। इसी तरह धन-सम्पत्ति भी सुख प्राप्त करने का साधन है, स्वयं साध्य नहीं। इस तरह शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य अन्य मूल्यों की प्राप्ति के साधन हैं। अतः वे साधक मूल्य हैं। यह शरीर के मनबहलाव तथा उच्च मूल्य की प्राप्ति का साधन है। अतः शारीरिक, आर्थिक तथा मनोरंजक मूल्य साधक मूल्य हैं, तात्त्विक मूल्य नहीं।

साहचर्य मूल्य साधक मूल्य भी हैं और तात्त्विक भी। मित्रता, प्रेम आदि अपने आप में भी मूल्यवान हैं तथा आत्म-सिद्धि के साधन के रूप में भी। इसी तरह साहस, न्याय, सच्चाई आदि चारित्रिक मूल्य भी अपने आप में मूल्यवान हैं तथा आत्मपूर्णता के साधन के रूप में भी। अतः चारित्रिक मूल्य साधक तथा तात्त्विक दोनों हैं।

सौन्दर्यबोधक, बौधिक तथा धार्मिक मूल्य मुख्यतः तात्त्विक मूल्य माने जाते हैं। संगीत, कला, चित्रकारी आदि सौन्दर्यबोधक मूल्य अपने आप में मूल्यवान हैं। ज्ञान भी अपने आप में मूल्यवान है। अतः बौद्धिक मूल्य भी तात्त्विक हैं। प्रार्थना, ईश्वर-प्रेम आदि धार्मिक मूल्य अपने आप में मूल्यवान हैं। पर ये आध्यात्मिक मूल्य कभी-कभी अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन भी हो जाते हैं। अतः ये साधक मूल्य भी हो जाते हैं। कला, चित्रकारी, संगीत, कविता आदि सौन्दर्यबोधक मूल्य जीवन या प्रकृति को चित्रित करते हैं। ये हमें अपने को तथा दूसरों को समझने में सहायक होते हैं। ज्ञान हमारे आर्थिक, सामाजिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक विकास में बहुत अधिक उपयोगी होता है। ज्ञान से हमें सुख-सुविधा की वस्तुएँ तथा पैसे प्राप्त होते हैं तथा आत्म-संतोष भी होता है। धार्मिक मूल्य भी साधक मूल्य हो सकते हैं। धर्म जीवन को पवित्र एवं महान् बनाता है। ईश्वर-प्रेम सारी मानवता से प्रेम करना सिखलाता है। धार्मिक व्यक्ति संसार में प्रेम और विश्व-बन्धुत्व फैलाता है और संसार को स्वर्ग में बदलने का प्रयास करता है। इस तरह सौन्दर्यबोधक, बौद्धिक तथा धार्मिक मूल्य तात्त्विक मूल्य भी हैं और साधक मूल्य भी। पर मुख्यतः वे मूल्य ही माने जाते हैं, साधक मूल्य नहीं। नैतिक मूल्य सर्वोच्च मूल्य है। इसके अन्तर्गत सभी मूल्य आते हैं। इसके अन्तर्गत सत्य, सौन्दर्य तथा धर्म—ये तीनों तात्त्विक मूल्य समाविष्ट हैं।

मूल्य के नियम या आदर्श :

मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है आत्म-सिद्धि या आत्म-पूर्णता। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नैतिक पथ पर चलना आवश्यक है। सतत नैतिक कर्म करने से

ही आत्म-पूर्णता की प्राप्ति हो सकती है। नैतिक पथ पर कभी-कभी उच्च तथा निम्न मूल्य में द्वन्द्व होता है। इसमें कम महत्तावाले मूल्य को त्याग कर उच्च महत्तावाले मूल्य को अपनाना चाहिए। तभी हमारी उच्च प्रकृति सन्तुष्टि होगी। इसलिए प्रश्न है कि कर्मों को चुनने में किस नियम या आदर्श से काम लेना चाहिए जिससे कि आत्म-पूर्णता की प्राप्ति हो अर्थात् वह कौन-सा नियम है जिसके द्वारा हम कर्मों में द्वन्द्व होने पर यह जान सकें कि अमुक कर्म उत्कृष्ट है; अतः करने योग्य। इस द्वन्द्व का निराकरण हम मूल्य के संगठन के सिद्धान्त द्वारा कर सकते हैं। अर्बन ने ऐसे तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। ये सिद्धान्त हैं :

1. तात्त्विक मूल्य, साधक मूल्य से उत्कृष्ट हैं।
2. स्थायी मूल्य, अस्थायी मूल्य से उच्च हैं।
3. उत्पादक मूल्य, अनुत्पादक मूल्य से श्रेष्ठ हैं।[1]

हम ऊपर देख चुके हैं कि शारीरिक, आर्थिक तथा मनोरंजन-सम्बन्धी मूल्य मुख्यतः साधक मूल्य हैं। सामाजिक मूल्य, साधक मूल्य तथा तात्त्विक मूल्य दोनों हैं। आध्यात्मिक मूल्य मुख्यतः तात्त्विक मूल्य हैं। अतः पहले सिद्धांत के अनुसार आध्यात्मिक मूल्य सबसे उत्कृष्ट हैं। सामाजिक मूल्य इससे गौण और जैविक मूल्य सबों से गौण है। जैविक मूल्य, सामाजिक मूल्य की सिद्धि के साधन हैं और सामाजिक मूल्य, आध्यात्मिक मूल्य के।

दूसरे सिद्धांत के अनुसार भी जैविक मूल्य सबसे गौण तथा आध्यात्मिक मूल्य सबसे उत्कृष्ट प्रमाणित होते हैं। शारीरिक, आर्थिक तथा मनोरंजन के मूल्य से क्षणिक सुख मिलता है। इससे इन्द्रियों की तृप्ति होती है। पर ऐन्द्रिय सुख शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। पर सामाजिक मूल्य से अपेक्षाकृत स्थायी सुख की प्राप्ति होती है तथा आध्यात्मिक मूल्य से स्थायी आनन्द की प्राप्ति। अतः जैविक मूल्य अस्थायी हैं, सामाजिक मूल्य अपेक्षाकृत स्थायी तथा आध्यात्मिक मूल्य स्थायी मूल्य हैं। अतः दूसरे सिद्धान्त के अनुसार भी जैविक मूल्य सबसे गौण हैं, सामाजिक मूल्य उनसे उत्कृष्ट तथा आध्यात्मिक मूल्य सर्वोत्कृष्ट हैं।

तीसरे सिद्धान्त में बतलाया गया है कि उत्पादक मूल्य, अनुत्पादक मूल्य से श्रेष्ठ होते हैं। शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य अनुत्पादक मूल्य हैं; क्योंकि खर्च

1. "There are three principles which are generally recognised present in determining our choice or preference among good or values. In general, intrinsic values are rated higher than instrumental or extrinsic; permanent values higher than transient; productive higher than unproductive."
—Urban : Fundamentals of Ethics, pp. 170-71

या प्रयोग करने से इनमें ह्रास होता है। पर सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य, उत्पादक मूल्य हैं, क्योंकि प्रयोग करने से इनमें वृद्धि ही होती है, कमी नहीं। आध्यात्मिक मूल्य, सामाजिक मूल्य से भी अधिक उत्पादक हैं। ज्ञान को जितना बाँटेंगे, उतना ही अधिक वह बढ़ेगा। अतः तीसरे सिद्धान्त के अनुसार भी यही स्पष्ट होता है कि शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य सबसे गौण मूल्य हैं। सामाजिक मूल्य इ से श्रेष्ठ हैं तथा आध्यात्मिक मूल्य सामाजिक मूल्य से भी उत्कृष्ट।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के साधन हैं। मित्रता, प्रेम, सहकारिता, भ्रातृत्व आदि मूल्य अपने आप में मूल्यवान हैं। पर वास्तव में ये भी सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के आध्यात्मिक मूल्य की सिद्धि के साधन हैं। अतः शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य से मनुष्य की निम्न प्रकृति तृप्त होती है जबकि सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों से उच्च प्रकृति की सन्तुष्टि होती है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य निरर्थक या महत्त्वहीन हैं। वे जीवन के लिए अत्यंत अनिवार्य हैं। इनके बिना जीवन ही सम्भव नहीं हो सकता। क्या भूखा मनुष्य दार्शनिक चिंतन कर सकता है ? अतः ये मूल्य शुभ जीवन के लिए आवश्यक हैं। सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की सिद्धि मनुष्य तभी कर सकता है जब उसकी शारीरिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो। अतः अपेक्षाकृत गौण होते हुए भी ये मूल्य उच्चतर मूल्यों की आधारशिला हैं। ये गौण केवल इसलिए कहलाते हैं कि उनसे निम्न आत्मा की तुष्टि होती है, तथा वे साधन हैं, स्वयं साध्य नहीं। अतः गौण और उत्कृष्ट मूल्यों द्वन्द्व होने पर उत्कृष्ट मूल्यों को ही अपनाना चाहिए।

नैतिक मापदंड

ऊपर बतलाए गए तीनों सिद्धान्त नैतिक मापदंड प्रस्तुत करते हैं। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर हमें देखना चाहिए कि किस कर्म में गौण मूल्य हैं और किसमें उत्कृष्ट मूल्य। हमें निम्न मूल्यवाले कर्मों का परित्याग करना चाहिए और उच्च मूल्यवाले कर्मों को करना चाहिए। ऐसा करना ही नैतिकता है। ऐसा करने से ही नैतिक आदर्श की प्राप्ति हो सकती है। पर निम्न और उच्च मूल्यों के चुनाव में परिस्थितियों का विचार आवश्यक है। किसी-किसी परिस्थिति में गौण मूल्य ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है और उच्च मूल्य गौण। वैसी परिस्थिति में गौण मूल्य को ही अपनाना चाहिए और उत्कृष्ट मूल्य का त्याग करना चाहिए। किसी निर्दोष व्यक्ति को चोरों तथा गुण्डों से बचाने के लिए झूठ बोलना नैतिक है, अनैतिक नहीं। ऐसी स्थिति में उत्कृष्ट मूल्य, सत्य को निकृष्ट मूल्य, जीवन: रक्षा के लिए छोड़ देना ही नैतिक कहा जाएगा।

तात्त्विक मूल्य

साधारणतः सत्य, सौन्दर्य और शुभ तात्त्विक मूल्य माने जाते हैं। ये स्वतः शुभ हैं, अपने आप में मूल्यवान हैं। ये साध्य रहते हैं, किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति के साधन कभी भी नहीं होते। आत्मा के तीन पक्ष हैं : ज्ञानात्मक, रागात्मक तथा क्रियात्मक। ये तीन तात्त्विक मूल्य इन तीन पक्षों को सन्तुष्ट करते हैं। सत्य, आत्मा की ज्ञानात्मक प्रकृति को सन्तुष्ट करता है, सौन्दर्य, रागात्मक प्रकृति को तथा शुभ, क्रियात्मक प्रकृति को। ये तीनों ही मानव व्यक्तित्व के लिए स्वतः मूल्यवान हैं। ऐसा विश्वास करना उचित है कि इन तीनों के बीच मौलिक एकत्व है, यद्यपि हम इस एकत्व को जानने में समर्थ नहीं हैं। ज्ञान की दृष्टि से हम उन्हें अलग-अलग जानते हैं, यद्यपि कभी-कभी वे एक-दूसरे के बहुत निकट पाए जाते हैं।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ज्ञान, संवेग तथा क्रिया आपस में सम्बन्धित हैं उसी प्रकार ये तीनों तात्त्विक मूल्य सत्य, सौन्दर्य एवं शुभ भी मौलिक रूप से आपस में सम्बन्धित हैं। पर इनके बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है, इसे जानने में प्रायः हम असमर्थ रहते हैं।

तात्त्विक मूल्यों की व्याख्या

1. **सत्य :** सत्य से हमारी वृद्धि सन्तुष्ट होती है। सत्य का मात्र अस्तित्व नहीं, बल्कि सत्य-ज्ञान अपने आप में मूल्यवान है। पहले लोग ज्ञान को केवल साधक मूल्य समझते थे। पर आज इसे तात्त्विक मूल्य माना जाता है। आज ज्ञान स्वतः मूल्यवान है। यह हमारी ज्ञानात्मक प्रकृति को पूर्ण करता है। ज्ञान, ज्ञान के लिए मूल्यवान है, न कि किसी दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए।

2. **सौन्दर्य :** सौन्दर्य तात्त्विक मूल्य है। इससे हमारी संवेगात्मक प्रकृति की सन्तुष्टि होती है। पहले इसे साधक मूल्य समझा जाता था, पर आज इसे तात्त्विक मूल्य माना जाता है। यह स्वतः मूल्यवान है, इसे हम साध्य के रूप में चाहते हैं, न कि साधन के रूप में।

3. **शुभ :** शुभ या नैतिक मूल्य भी तात्त्विक मूल्य है। यह हमारी क्रियात्मक प्रकृति को सन्तुष्ट करता है। यह सत्य तथा सौन्दर्य से सम्बन्धित है, पर उनसे भिन्न है। नैतिक मूल्य में उसके ज्ञान के साथ कर्त्तव्य-भावना या नैतिक बाध्यता भी

1. "As each has value for human personality, it may be believed that they are fundamentally one. But to that fundamental agreement we cannot pierce. As known to us they are distinct, though at times they approach very near each other."

—Welton : Ground work of Ethics, pp, 102-103.

शामिल रहती है। सत्य एवं सौन्दर्य की अनुभूति में इस नैतिक बाध्यता का अभाव रहता है। नैतिक मूल्य की चेतना के साथ नैतिक भावना की चेतना भी रहती है। पर सत्य एवं सौन्दर्य की चेतना के साथ नैतिक भावना की चेतना नहीं पायी जाती है। यही कारण है कि नैतिक मूल्य अनुपम कहे जाते हैं।

4. **ईश्वर-प्रेम :** कभी-कभी ईश्वर-प्रेम भी एक भिन्न तात्त्विक मूल्य माना जाता है। प्रार्थना, ईश्वर का साक्षात्कार आदि स्वतः मूल्यवान माने जाते हैं। धार्मिक मूल्य ईश्वर से प्रेम करना है तथा नैतिक मूल्य मानवता से प्रेम करना एवं उसकी सेवा करना। अतः दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। ईश्वर, नैतिक पूर्णता की प्रतिमूर्ति समझे जाते हैं। अतः इस अर्थ में धार्मिक मूल्य नैतिक मूल्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। परम शुभ के प्रेम का अर्थ है ईश्वर तथा मानवता से प्रेम।

तात्त्विक मूल्यों में सम्बन्ध

हम पहले ही जान चुके हैं कि सत्य, सौन्दर्य तथा शुभ तात्त्विक मूल्य हैं जिनसे क्रमशः बुद्धि, संवेग तथा संकल्प की सन्तुष्टि होती है। संकल्प के द्वारा व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। अतः शुभ सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सन्तुष्ट करता है, जबकि सत्य या सौन्दर्य व्यक्तित्व के एक खास पक्ष को ही।[1] पुनः सत्य का ज्ञान तथा सौन्दर्य की अनुभूति साधारण लोगों के लिए बहुत ही कम दूर तक सम्भव है। इसके लिए प्रकृति की विशेष देन आवश्यक है। सब लोग न सत्य का बहुत दूर तक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और न सौन्दर्य की अनुभूति ही बहुत दूर तक कर सकते हैं। कुछ लोग ही इसमें दक्ष होते हैं। सभी अच्छे गायक या संगीतज्ञ नहीं हो सकते और न सभी सत्यों का आविष्कार ही कर सकते हैं पर नैतिक बनना सबों के लिए सम्भव है। इसके लिए किसी विशेष योग्यता की जरूरत नहीं। सभी शुभ की प्राप्ति कर सकते हैं। अतः शुभ सर्वोच्च तात्त्विक मूल्य है।

सर्वोच्च शुभ

सर्वोच्च शुभ या परम शुभ वह शुभ है जिससे हमारी आत्मा की पूर्ण सन्तुष्टि होती है। इसमें सभी तात्त्विक मूल्य शामिल हैं। इसके अन्तर्गत साधक मूल्य भी आते हैं। पर वे तात्त्विक मूल्य के अधीन रहते हैं। तात्त्विक मूल्यों में भी ज्ञान और सौन्दर्य शुभ के अधीनस्थ हैं। मैकेन्जी के अनुसार सर्वोच्च शुभ एक पूर्णरूप से व्यवस्थित विश्व है और वह हम लोगों के द्वारा उसी रूप में

1. "Truth and beauty satisfy specific modes of spiritual activity. Goodness satisfies the whole personality, for it is the intrinsic value directly related to the will, which is but another name for the personality in definite action." —Ibid, p 106

चुना जाता है।[1] हमारा कर्त्तव्य है कि स्वतन्त्र रूप से इस आदर्श को जहाँ तक सम्भव हो प्राप्त करने का प्रयास करें। पूर्ण शुभ हमारे ही द्वारा चुना जाता है अन्यथा यह सर्वोच्च नैतिक शुभ नहीं माना जायेगा। मैकेन्जी के अनुसार पूर्ण शुभ एक पूर्ण रूप से व्यवस्थित विश्व है। ऐसे विश्व का अस्तित्व यदि बिना मनुष्य के चुनाव या स्वतन्त्र प्रयास के मान लिया जाये तो वह सर्वोच्च नैतिक शुभ नहीं माना जा सकता।

सर्वोच्च नैतिक शुभ वैयक्तिक शुभ भी है। इससे व्यक्ति को आत्म-सिद्धि या आत्म-पूर्णता प्राप्त होती है। पर यह सामान्य या सामाजिक शुभ भी है; क्योंकि यह सम्पूर्ण मानवता का शुभ है।

सर्वोच्च शुभ का विचार अनेक तरह से किया गया है। सुखवादियों, जैसे सिजविक इत्यादि के अनुसार सुख ही सर्वोच्च शुभ है। सुख ही एकमात्र तात्त्विक मूल्य है। सौन्दर्य, ज्ञान, धर्म, सम्पत्ति आदि सभी सुख-प्राप्ति के साधन हैं। पर यह विचार सही नहीं है। सुख अपने आप में मूल्यवान नहीं है। मूल्य किसी वस्तु या विचार में रहता है जैसे, भौतिक वस्तुएँ प्रेम, साहस आदि में तथा नैतिक विचार सौन्दर्य, ज्ञान, शुभ आदि में। अतः सुख सर्वोच्च शुभ नहीं हो सकता, क्योंकि यह स्वतः मूल्यवान नहीं है।

बुद्धिवादियों, जैसे कांट आदि के अनुसार शुभ संकल्प ही एकमात्र तात्त्विक मूल्य है। यही सर्वोच्च-शुभ है। स्वास्थ्य, धन, ज्ञान, सौन्दर्य आदि सभी साधक मूल्य हैं। पर यह विचार भी सही नहीं है। शुभ-संकल्प एक आकार मात्र है। पुनः संकल्प सदा साधक मूल्य होता है, क्योंकि यह शुभ की प्राप्ति का एक साधन है।

आत्मपूर्णतावादियों, जैसे ग्रीन आदि के अनुसार आत्म सिद्धि या आत्म-पूर्णता सर्वोच्च शुभ है। क्षुद्र, संकीर्ण तथा वैयक्तिक आत्मा में सुधार लाकर, उसे उच्च, विवेकी तथा सामाजिक आत्मा की सिद्धि का साधन बनकर, विवेकी आत्मा की सिद्धि प्राप्त करना ही सर्वोच्च शुभ है। वासनाओं को बुद्धि द्वारा संचालित कर आत्म सिद्धि प्राप्त करना ही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य है।

मूल्यवाद के अनुसार सत्य, सौन्दर्य एवं शुभ इन तात्त्विक या आध्यात्मिक मूल्यों की सिद्धि ही सर्वोच्च शुभ है। सर्वोच्च शुभ के अन्तर्गत जैविक तथा सामाजिक मूल्यों का सिद्धि भी आती है, पर वे आध्यात्मिक मूल्यों की सिद्धि के

1 Mackenzie : "The highest good is a perfectly ordered universe and chosen as such."

साधन के रूप में ही ग्रहण किये जाते हैं। ऐसा करने से ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सिद्धि सम्भव है।

मूल्यवाद का निष्कर्ष

मूल्यवाद आत्मपूर्णता का पूरक सिद्धान्त है। यदि यह कहा जाये कि आत्मपूर्णतावाद 'सिद्धान्त' है और मूल्यवाद उसका 'व्यवहार' तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आत्मपूर्णतावाद बतलाता है कि आत्म-सिद्धि मानव का सर्वोच्च लक्ष्य है, पर यह नहीं बतलाता कि किन कर्मों के करने से इस लक्ष्य की प्राप्ति होगी। मूल्यवाद स्पष्ट कर देता है कि किन कर्मों से पूर्णता की प्राप्ति सम्भव है। यह मत नैतिकता की व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करता है। यह बतला देता है कि किस प्रकार के आचरण से हम अपने सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। अतः व्यक्ति तथा समाज का वर्तमान तथा शाश्वत कल्याण इन्हीं मतों के आधार पर कर्म करने में है। शायद इन मतों के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्ष को कार्यान्वित करने पर मानव की सभी—वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय, समस्याओं का हल निकल सकता है; मानव के सुख तथा शान्ति का स्वप्न साकार हो सकता है। अब हमें यह देखना है कि कब मानव इन मतों के अनुसार कर्म करने की नैतिक बाध्यता को महसूस करता है, कब वह अपनी नैतिक शक्ति के द्वारा अपनी निम्न आत्मा को उच्च आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप में परिवर्तित करने में सफल होता है। ऐसा लगता है कि जब तक मानव इसमें सफल नहीं हो पाता है, तब तक संसार में सुख तथा शान्ति का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकेगा। मनुष्य के सामने आज यह सबसे बड़ी चुनौती है। अब देखना है कि मनुष्य अपनी उच्चतम आत्मा की सिद्धि का प्रयास करता है या अपनी निम्न आत्मा से संचालित होकर अपने और संसार को संघर्ष एवं बर्बरता में डुबो देता है। यह मानव के संकल्प पर निर्भर है तथा उसके सर्वोच्च नैतिक मूल्य पर।

अठारहवाँ अध्याय

दण्ड के सिद्धान्त

विषय-प्रवेश

अपराध के लिए दण्ड मिलना आवश्यक है, क्योंकि अगर अपराधी को दण्ड न दिया जाय तो व्यवस्थित समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। राज्य के नियम के विरुद्ध कर्म करना ही अपराध है। राज्य अपराधी को सजा देता है और इस माध्यम से वह अपने सदस्यों के नैतिक जीवन को प्रभावित करता है। राज्य यदि समाज-विरोधी कर्मों के लिए दण्ड देता है तो अच्छे कर्म के लिए पुरस्कार भी देता है। राज्य के नियम कभी-कभी नैतिकता से साक्षात् रूप से सम्बन्धित रहते हैं और कभी-कभी परोक्ष रूप से। कभी-कभी नैतिक दृष्टिकोण से अनुचित कर्मों के लिए सजा मिलती है, जैसे चोरी के लिए सजा। कभी-कभी नीति-शून्य या नैतिक दृष्टिकोण से उचित कर्मों के लिए भी सजा मिलती है। कभी-कभी नैतिक दृष्टि से उचित कर्म राज्य की दृष्टि से अनुचित समझा जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी राज्य द्वारा आरोपित कर को इसलिए नहीं चुकाता है कि उसे नैतिक दृष्टि से अनुचित समझता है, तो उसे इसके लिए राज्य दण्डित करता है। वह कर्म उस व्यक्ति के लिए नैतिक दृष्टि से अनुचित है, पर राज्य की दृष्टि से उचित। यदि सचमुच बिना पानी लिए ही किसी को उसकी कीमत चुकाने का राजकीय आदेश मिलता है तो उसका विरोध नैतिक दृष्टिकोण से उचित है यद्यपि राज्य भले ही उसे अनुचित समझे। राज्य बुरे कर्मों को प्रोत्साहित तथा अच्छे कर्मों को रोकने के लिए भी दण्ड दे सकता है। सुकरात को अच्छे कर्म करने के कारण ही विष का प्याला दिया गया। गैलीलियो और कॉपरनिकस को भी अच्छे कर्म करने के फलस्वरूप ही दण्डित किया गया। आचारशास्त्र में हमारा सम्बन्ध मुख्यतः इस बात से है कि किन परिस्थितियों में दण्ड देना नैतिक दृष्टि से उचित है।

दण्ड-विधान के सम्बन्ध में मुख्य तीन सिद्धान्त हैं :

1. निवर्त्तनवाद।
2. सुधारवाद तथा
3. प्रतिकारवाद।

अब हम उन सिद्धान्तों का अलग-अलग विवेचन करेंगे।

1. **निवर्त्तनवाद** : निवर्त्तनवाद के अनुसार किसी अपराधी को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि इसको देखकर फिर कोई दूसरा उस अपराध को न करे।

अपराधी को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि वह दूसरों को उस अपराध से रोकने में उदाहरण का काम करे। दण्ड का यह लक्ष्य न्यायाधीश की इस युक्ति में अभिव्यक्त होता है—"भेंड़ की चोरी के अभियोग में तुम्हें दण्ड नहीं दिया जा रहा है, बल्कि दण्ड इसलिए दिया जा रहा है कि भेंड़ की चोरी पुनः न हो।"[1] इस सिद्धान्त के अनुसार फाँसी की सजा उचित समझी जाती है; क्योंकि यह अपराध को रोकने में मदद देती है।

मूल्यांकन :

आचारशास्त्रियों का इस मत के विरुद्ध यह आक्षेप है कि इस मत के अनुसार अपराधी दूसरों के शुभ का साधन हो जाता है। अपराधी को सजा इसलिए दी जाती है कि भविष्य में दूसरों को ऐसी सजा न मिले। पर यह नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है कि दूसरों के हित के लिए किसी व्यक्ति को दण्ड दिया जाये। मनुष्य एक व्यक्ति है तथा वह अपना लक्ष्य स्वयं है। उसे अन्य व्यक्तियों के लक्ष्य का साधन बनाना अनुचित है। इस सम्बन्ध में प्रो० मैकेन्जी का कहना है कि यदि दण्ड का मात्र उद्देश्य यही है तो नैतिक चेतना के विकास के साथ इसकी समाप्ति हो जायेगी; क्योंकि दूसरों के लाभ के लिए किसी व्यक्ति को कष्ट देना उचित नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ होगा मनुष्य को उस वस्तु या साधन के रूप में व्यवहृत करना, व्यक्ति या साध्य के रूप में नहीं।[2]

इस सम्बन्ध में विलियम लिली का कथन है कि मैकेन्जी का यह आक्षेप बिलकुल सही नहीं है, क्योंकि मृत्यु की सजा के अलावे जब राज्य किसी अपराधी को और कोई संजा देता है तो राज्य उस अपराधी को पुनः उस अपराध या उस तरह के अन्य अपराधों को करने से रोकता है। दण्ड का प्रभाव अपराधी पर अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक पड़ता है। अतः इस मत के अनुसार अपराधी को दूसरों के लाभ का साधन-मात्र नहीं माना जाता। लिली के अनुसार निवर्त्तनवाद

1. "You are not punished for stealing sheep, but in order that sheep may not be stolen."
2. If this were the sole object of punishment, it seems probable that, with the development of the moral consiousness it would speedly be abolished : for it could scarcely be regarded as just to inflict pain on one man merely for the benefit of others, It would involve treating a man as a thing, as a mere means, not an end in himself."
—Mackenzie : A Manual of Ethics, pp. 374-75

का सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि दण्ड का मात्र लक्ष्य यह है कि दूसरे व्यक्ति अपराध न करें तो इस बात का कोई महत्त्व नहीं रहता कि दण्डित व्यक्ति निर्दोष है या अपराधी। ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं जहाँ दूसरों को डराने के लिए कभी-कभी निर्दोष को सजा मिली है या दी जाती है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के सिलसिले में अंग्रेज शासक निर्दोष भारतीयों को बहुधा अन्य भारतीयों को भयभीत करने के लिए सजा देते थे। कभी-कभी शिक्षक निर्दोष बच्चों को सजा देकर दूसरों को भयभीत करते हैं। इस मत की दूसरी त्रुटि यह है कि दूसरों को अपराध करने से रोकने के बहाने कभी-कभी अपराधी को आवश्यकता से अधिक कड़ी सजा दी जाती है। पर यह नैतिक दृष्टिकोण से अनुचित है। किसी व्यक्ति को जितनी सजा मिलनी चाहिए उससे अधिक देना किसी तरह उचित नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि यदि अपराध की पुनरावृत्ति की सम्भावना नहीं है तो अपराधी को कम-से-कम सजा दी जानी चाहिए। यदि अपराध बहुत तेजी से बढ़ रहा हो तो अपराधी को यथोचित कड़ी सजा मिलनी चाहिए।

2. **सुधारवाद** : इस सिद्धान्त के अनुसार स्वयं अपराधी को सुधारना या शिक्षित करना ही दण्ड का लक्ष्य है। मनुष्य व्यक्ति है तथा वह अपना लक्ष्य स्वयं है। अतः उसे अपने ही शुभ के लिए दण्ड मिलना चाहिए, अन्य मनुष्यों के हित के लिए नहीं। यह सिद्धान्त आजकल प्रायः स्वीकार किया जाता है, क्योंकि यह इस युग के मानवतावादी विचारों के अनुकूल है। आज प्रत्येक मनुष्य को सिद्धान्त के रूप में साध्य माना जाता है। इस मत के अनुसार मनुष्य में सुधार तभी सम्भव है जब उसके अपराध करने के कारण नष्ट कर दिए जाएँ। अपराध करने के कारणों के विषय में दो मत हैं :

(1) अपराध मानव-विज्ञान तथा (2) अपराध समाज-विज्ञान।

1. **अपराध मानव विज्ञान** : अपराध मनोविज्ञान सुधारवादी सिद्धान्त की पुष्टि करता है। इस विज्ञान का कहना है कि अपराध एक मानसिक बीमारी है जो किसी व्यक्ति में वंशगत होने के कारण होता है या विभिन्न कारणों से अर्जित होता है, यह एक तरह का पागलपन है। अतः अपराधी को दण्ड न देकर उसकी मानसिक चिकित्सा होनी चाहिए। दण्ड से अपराधी का सुधार नहीं हो सकता, मानसिक चिकित्सा से ही उसका सुधार सम्भव है।[1] अपराधी जान-

1. "The new science of Criminology is founded upon the theory that crime is a pathological phenomenon, a form of insanity an inherited or acquired degeneracy, It follows that the proper treatment of the criminal is that which seeks his cure rather than

बूझकर नियम का उल्लंघन नहीं करता। अतः उसे दण्ड देना नैतिक नहीं है। मानसिक या शारीरिक विकार के कारण स्वतः उससे अपराध हो जाता है। अतः उसके कर्म नीति-शून्य हैं।

मूल्यांकन :

यह मत दोषपूर्ण है। प्रत्येक अपराध मानसिक या शारीरिक विकार के कारण नहीं होता। प्रत्येक अपराधी को पागल या असामान्य कहना उचित नहीं। बहुत-से अपराध जान-बूझकर नियमों के उल्लंघन करने से होते हैं। बहुत-से व्यक्ति जान-बूझकर नियमों का उल्लंघन करते हैं। किसी अपराध को केवल पागलपन या मानसिक बीमारी समझ लेना नैतिक निर्णय के आधार को ही नष्ट कर देना है। ऐसा करने से नैतिक गुण-दोष, पुरस्कार-दण्ड आदि की नींव ही कमजोर हो जाती है।[1]

2. **अपराध समाज विज्ञान** : अपराध समाज-विज्ञान भी सुधारवाद की पुष्टि करता है। इस विज्ञान का मत है कि सामाजिक असमानताओं के कारण ही अपराध होता है। समाज की विषम परिस्थितियाँ ही अपराध को जन्म देती हैं। समाज की आर्थिक विषमता एवं असमानता ही अपराध का मुख्य कारण है। गरीबी और भुखमरी के कारण चोरी होती है। अतः अपराध तभी बन्द होगा जब समाज की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा, जब न्याय और समानता के आधार पर समाज का पुनर्निर्माण होगा। अपराधी की सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों में सुधार लाने से ही अपराध का दमन सम्भव है।

मूल्यांकन :

यह सही है कि कुछ अपराध सामाजिक असमानताओं के कारण होते हैं, जैसे—गरीबी और भुखमरी के कारण कुछ चोरियाँ होती हैं। पर सभी अपराध सामाजिक असमानताओं के कारण नहीं होते। बहुत-से लोग अच्छी स्थिति में रहते हुए भी जान-बूझकर अपराध करते हैं। बहुत-से धनी एवं सुखी व्यक्ति भी जघन्य अपराध करते हैं।

यदि दण्ड से अपराधी का सुधार हो जाये तो दण्ड का लक्ष्य पूरा हो जाता है।

his punishment, Prisons must be superseded by hospitals, asylums, and reformatories," —Seth : Ethical Principles, p 320,

1. "To reduce crime to a pathological phenomenon, is to sap the very foundation of our moral judgments; merit as well as demerit, reward as well as punishment, are thereby under mind," —Seth, p, 320

पर दण्ड से सदा अपराधी का सुधार नहीं होता है। कभी-कभी दण्ड अपराधी को और भी बड़ा अपराधी बना देता है। कभी-कभी सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का प्रभाव अपराधी पर बहुत अधिक पड़ता है। कभी-कभी क्षमा प्रदान करने से भी अपराधी का सुधार हो जाता है। वह अपनी गलती को महसूस कर पश्चात्ताप करता है और फिर कभी अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता है। आचार्य विनोबा भावे के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार एवं प्रेम के कारण बहुत-से लुटेरों एवं डाकुओं ने अपने अस्त्र-शस्त्र फेंक दिए और पुनः अपराध न करने की प्रतिज्ञा की।

सुधारवाद के अनुसार मृत्यु की सजा उचित नहीं है; क्योंकि इससे तो मनुष्य का जीवन ही समाप्त हो जाता है। अतः उसके सुधार की बात ही नहीं उठती।

फ्रायड का सिद्धान्त

फ्रायड तथा उनके अनुयायियों का मत है कि मनुष्य के मन के अचेतन भाग में दबी इच्छाओं के कारण ही अपराध होते हैं। इन लोगों का कहना है कि हमारी बहुत-सी इच्छाएँ ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति सामाजिक तथा अन्य बन्धनों के कारण नहीं हो पाती, जैसे-यौन सम्बन्धी इच्छाएँ आदि। इन इच्छाओं को हम दबा देते हैं। दब जाने से ये इच्छाएँ अचेतन के गर्त्त में चली जाती हैं, पर ये वहाँ मरती नहीं हैं। अवसर पाकर अपनी संतुष्टि के लिए विभिन्न रूपों में उभर आती हैं। इन्हीं दबी इच्छाओं के कारण अपराध होते हैं। अतः उपराधी को दण्ड देना उचित नहीं। शिक्षा या चिकित्सा से ही उसका सुधार हो सकता है। इसका इलाज है दबी अचेतन इच्छाओं को चेतन स्तर पर लाना, उन्हें उनके कारण की ओर इंगित करना तथा समाज द्वारा स्वीकृत माँगों की ओर निर्देशित करना।

मूल्यांकन

यह मत भी दोषपूर्ण है क्योंकि सभी अपराध दबी इच्छाओं के कारण नहीं होते। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सुधारवाद दोषरहित मत नहीं है यद्यपि उसमें कुछ गुण अवश्य हैं।

3. **प्रतिकारवाद** : इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का आधा न्याय होना चाहिए। दण्ड का लक्ष्य है नियम की रक्षा करना तथा अपराधी के साथ न्याय करना। नियम को भंग करना ही अपराध है। यदि अपराधी को दण्ड नहीं दिया जाए तो नियम का महत्त्व प्रभुत्व समाप्त हो जायगा। ऐसी अवस्था में समाज की नैतिक व्यवस्था का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। अतः नियम के प्रभुत्व एवं महत्त्व की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि नियम तोड़ने वाले को सजा दी जाए।[1] यह

1. "Punishment is, in its essence, a rectification of the moral order of which crime is the notorious breach," —Seth.

सिद्धान्त मृत्यु की सजा को कुछ विशेष परिस्थितियों में उचित बतलाता है। जीने का अधिकार हर मनुष्य का मौलिक अधिकार है। पर यदि कोई मनुष्य दूसरे की जान ले लेता है तो न्याय कहता है कि उसे भी जीने का कोई अधिकार नहीं है। मृत्यु की सजा असभ्यकालीन समाज की देन है।

कुछ लोगों का कहना है कि यह सिद्धान्त प्रतिकार की भावना पर आधारित है। प्रतिकार की भावना ईसाई धर्म के प्रतिकूल है। अतः यह सिद्धान्त भी ईसाई धर्म के प्रतिकूल है। पर यह आक्षेप सही नहीं है। व्यक्तिगत निर्दयता तथा घृणा से युक्त प्रतिकार को ही ईसाई धर्म निंदित एवं अनैतिक मानता है। पर कोई न्यायालय किसी अपराधी को दण्ड देने में व्यक्तिगत निर्दयता या घृणा से प्रभावित नहीं होता। न्यायालय तो उसे किए हुए कर्म का फल देता है।[1]

अरस्तू दण्ड को अभावात्मक पुरस्कार मानते हैं। मनुष्य जान-बूझकर नैतिक नियम को भंग करता है। उसे यह पुरस्कार मिलना चाहिए। दण्ड-विधि के सम्बन्ध में कांट के विचार को लक्ष्यहीन विचार कहते हैं। उनका कहना है कि अपराधी को दण्ड मिलना चाहिए क्योंकि उसने अपराध किया है, इसलिए नहीं कि इससे उसको या अन्य किसी को कोई लाभ होगा। अरस्तू की तरह हीगेल भी दण्ड को अभावात्मक पुरस्कार मानते हैं। वे कहते हैं कि दण्ड प्राप्त करना अपराधी का अधिकार है। अतः यह उसे मिलना ही चाहिए।[2] इस सम्बन्ध में बाइबिल की उक्ति—"पाप की मजदूरी मृत्यु है,"[3] का भी यही अर्थ है। यही कारण है कि कुछ अपराधी राज्य के दण्ड से बच जाने पर स्वयं अपने को दण्डित करते हैं। ब्रैडले भी इसी विचार के समर्थक हैं। उनका कहना है कि किसी व्यक्ति को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि उसने अपराध किया है, किसी अन्य कारण से नहीं। यदि किसी अन्य कारण से दण्ड दिया जाता है तो यह अनैतिक है, घोर अन्याय है।[4]

1. "Such a court (a court of justice) simply accords to a man what he has earned. He has done evil, and it is reasonable that the evil should return upon himself as the wages of his sin...the negative value which he has produced."
—Mackenzie A manual of Ethics, P. 375
2. "it is his right and he ought to get it." —Ibid, pp. 380-81
3. "The wages of sin is death. —Bible.
4. "We pay the penalty because we owe it, and for no other reason, and if punishment is inflicted for any other reason whatever, than because it is merited by wrong, it is a gross immorality a crying injustice; punishment is inflicted for the sake of punishment."
—Bradley.

प्रतिकारवाद के अन्तर्गत सुधारवाद तथा निवर्त्तनवाद दोनों ही आते हैं। यदि दण्ड का लक्ष्य नियम के प्रभुत्व की रक्षा है तो उसकी रक्षा तभी हो पाएगी जब अपराधी में सुधार होगा तथा उस तरह के अपराध फिर नहीं होंगे। वास्तव में, जब तक यह नहीं समझा जाता है कि दण्ड देने से नियम की रक्षा होती है तब तक न अपराधी का सुधार ही सम्भव है और न अपराध के रुकने की ही सम्भावना है। जब अपराधी यह समझने लगता है कि नियम की रक्षा के लिए उसे दण्ड मिला है तथा यह दण्ड उसके कर्म का ही न्यायोचित फल है, तब वह पश्चात्ताप करता है, तभी उसका सुधार भी होता है। दूसरे लोग भी जब इस तथ्य को समझते हैं, तो अपराध नहीं करते।

प्रतिकारवाद के दो भेद हैं—1. कठोरवाद तथा 2. शान्तवाद।

1. **कठोरवाद** : कठोरवादी मत का कहना है कि अपराध के अनुकूल ही दण्ड मिलना चाहिए। जिन परिस्थितियों में अपराध हुआ है; उन परिस्थितियों पर बिना विचार किए ही अपराध की प्रकृति के अनुकूल दण्ड मिलना चाहिए। यह मत 'आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत' के विचार का समर्थक है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति ने किसी की जान ली है तो उसे मृत्यु की सजा मिलनी चाहिए चाहे उसने अपराध किसी भी परिस्थिति में क्यों न किया हो।

2. **शान्तवाद** : शान्तमत का कहना है कि अपराध के अनुकूल दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। पर अपराध जिन परिस्थितियों में किया गया है उन पर विचार करने के बाद ही अपराध की सच्ची प्रकृति निर्धारित की जा सकती है। अतः जिन परिस्थितियों में अपराध हुआ है उन पर विचार करके अपराध के अनुकूल दण्ड मिलना चाहिए। कोई व्यक्ति भूख से व्याकुल होकर जान-रक्षा के लिए चोरी करता है और दूसरा धन-संग्रह के लिए—दोनों ने चोरी की है पर परिस्थिति पर विचार करने पर पहले को कम सजा मिलेगी और दूसरे को अधिक। अतः न्याय कहता है कि दण्ड देने में अपराधी की उम्र, उसके अभिप्राय, उत्तेजक परिस्थितियाँ, आदि पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रतिकारवाद का शान्तमत दण्ड-विधि का सबसे अधिक संतोषजनक सिद्धान्त मालूम पड़ता है।

डॉ० इविंग का विचार

डॉ० ए० सी० इविंग ने इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में एक सुधारवादी सिद्धान्त का संकेत किया है। वे कहते हैं कि लोग अनुचित कर्मों को प्रायः दो वर्गों में विभाजित करते हैं—(i) ऐसे कर्म जिन्हें क्षमा किया जा सकता है तथा (ii) ऐसे कर्म जो वास्तव में बहुत अनुचित हैं। कोई व्यक्ति जो समझता है कि जुआ खेलना

नैतिक दृष्टिकोण से अनुचित है, सोच सकता है कि क्षम्य है, पर चोरी को बहुत अनुचित समझ सकता है। अब यदि जुआ खेलने के लिए उसे दण्ड मिलता है तो वह समझता है जिस कर्म को वह क्षम्य समझता था वह वास्तव में बहुत अनुचित है। इससे वह फिर उस कर्म को नहीं करता है। ऐसा केवल दण्ड के भय से ही नहीं करता बल्कि दण्ड तथा नियम के माध्यम से वह समझ जाता है कि बहुत अनुचित कर्म है और उसे इस कर्म को नहीं करना चाहिए। डॉ० इविंग का कहना है कि अपराधी पर ऐसा प्रभाव तभी पड़ेगा जब वह समझेगा कि दण्ड न्याय पर आधारित है तथा दण्ड अपराध के अनुकूल है। दण्ड को "एक तरह की भाषा समझा जा सकता है जो नैतिक अनुमोदन को अभिव्यक्त करता है।"[1] यदि समाज नियमबद्ध होता तो दण्ड की शाब्दिक अभिव्यक्ति से ही काम चल जाता, वास्तविक रूप से दण्ड देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। पर आज की दुःखद स्थिति में नियम की रक्षा के लिए एक अधिक प्रभावशाली भाषा की आवश्यकता है तथा दण्ड-विधान की अभिव्यक्ति ऐसी ही प्रबल भाषा में होनी चाहिए।

डॉ० इविंग का उपर्युक्त सिद्धान्त प्रतिकारवाद के शान्तमत का पूरक है, विरोधी नहीं। अतः प्रतिकारवाद का शान्तवाद ही नैतिक दृष्टिकोण से दण्ड-विधि का सबसे उपर्युक्त सिद्धान्त प्रतीत होता है।

1. "Punishment is a kind of language intended to express moral disapproval."
—Dr. A. C. Ewing.

उन्नीसवाँ अध्याय

व्यक्ति और समाज

विषय-प्रवेश

प्रथम अध्याय में विलियम लिली द्वारा दी गई आचारशास्त्र की परिभाषा में बतलाया गया है कि आचारशास्त्र समाज में रहने वाले मनुष्यों के आचरण का आदर्शवादी विज्ञान है। इससे स्पष्ट है कि नैतिकता के लिए सामाजिक पृष्ठ-भूमि आवश्यक है। सम्पूर्ण पुस्तक में यत्र-तत्र इस बात का संकेत किया गया है कि किस तरह एक व्यक्ति के कर्म अन्य व्यक्तियों के कर्म को प्रभावित करते हैं। यदि हम इस मत को भी मानें कि जो कर्म अन्य व्यक्तियों को प्रभावित नहीं करते वे भी आचारशास्त्र के विषय हैं, तो भी इस बात को स्वीकार करना पड़ेगा कि सामाजिक जीवन ही नैतिकता का सामान्य वातावरण तथा प्रशिक्षण-भूमि है। हमारे नैतिक विचार समाज में ही विकसित होते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर ही वह सच्चे अर्थ में मनुष्य बन पाता है। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि समाज से अलग रहनेवाला मनुष्य या तो पशु है या देवता। अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक का ज्ञान हमें समाज में ही होता है। वास्तव में नैतिकता एक सामाजिक व्यापार है। अपने नैतिक विचारों को वस्तुनिष्ठ मापने का मनोवैज्ञानिक आधार यही है कि ये विचार दूसरे मनुष्यों के विचारों से मिलते हैं। नैतिक-निर्णय प्रायः समाज की ओर साक्षात् रूप से संकेत करते हैं, पर कभी-कभी परोक्ष रूप से भी। अतः निर्विवाद है कि समाज में ही नैतिकता के प्रश्नों का महत्त्व होता है। नैतिक जीवन सामाजिक जीवन पर आधारित होता है। हमारे दुर्गुण तथा सद्गुण समाज में ही प्रदर्शित होते हैं। डॉ० सिजविक ने ठीक ही कहा है कि हम किसी व्यक्ति को किसी समाज के सदस्य के रूप में ही जानते हैं। उसके सद्गुण अन्य व्यक्तियों के साथ उसके व्यवहार में ही प्रकट होते हैं। वह जीवन के प्रमुख सुखों को अन्य व्यक्तियों के साथ अपने सम्बन्ध द्वारा ही प्राप्त करता है। अतः ऐसा मानना विरोधात्मक है कि मानव का सर्वोच्च शुभ उसके सामाजिक सम्बन्धों अथवा उसके समाज की बनावट एवं स्थिति से स्वतन्त्र है।[1]

1. We only know the individual as a member of some society, what we call his virtues are chiefly exhibited in his dealings with his fellows, and his most prominent pleasures are derived from

अतः आचारशास्त्र में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में तीन प्रकार के मत पाए जाते हैं : (1) व्यक्तिवाद, (2) समाजवाद तथा (3) आदर्शवाद। अब हम इन विभिन्न मतों की अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

1. व्यक्तिवाद

हॉब्स, रूसो आदि विचारक व्यक्तिवाद के समर्थक हैं। इनका मत है कि समाज स्वतन्त्र तथा पृथक् व्यक्तियों का यान्त्रिक योग है। सभी व्यक्ति स्वतन्त्र तथा पृथक् जीवन व्यतीत करते हैं। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य एक दूसरे से स्वतन्त्र तथा अलग रहते हैं। अलग-अलग रहने में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य अपने लाभ के लिए ही आपस में समझौता करता है और मिलकर रहने का निर्णय करता है। हॉब्स, रूसो आदि के अनुसार, समाज की सृष्टि इसी प्रकार होती है। समाज के निर्णय के इस सिद्धान्त को 'सामाजिक समझौते का सिद्धान्त' कहते हैं।

समालोचना

यह सिद्धान्त ऐतिहासिक नहीं है। हम ऐसी अवस्था की कल्पना नहीं कर सकते जब मनुष्य बिलकुल अकेला रहता है। परिवार समाज की इकाई है। मनुष्य सदा एक परिवार का सदस्य रहा है। ऐसा कहने का कोई प्रमाण नहीं है कि व्यक्तियों ने कभी समाज-निर्माण के लिए समझौता किया हो।

इस सिद्धान्त में दूसरा दोष है कि यह अतार्किक है। 'सामाजिक समझौते का सिद्धान्त' व्यक्तियों में उच्च राजनैतिक चेतना के अस्तित्व की पूर्व कल्पना करता है। पर आदि-मानव में ऐसी चेतना के अस्तित्व की आशा करना उचित नहीं है। 'समझौते' के जटिल प्रत्यय का अभाव आदि-मानव में अवश्य रहा होगा।

2. समाजवाद

विकासवादी विचारक जैसे लेजली स्टीफेन आदि जैविक सिद्धान्त के समर्थक हैं। इनका कहना है कि व्यक्ति और समाज में ठीक उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा शरीर और उसके अवयवों में पाया जाता है। शरीर और उसके अंग एक

intercourse with them. Thus it is a paradox to maintain that man's highest good is independent of his social relations or of the constitution and condition of the community of which he forms a part."
—Dr. Sidgwick.

दूसरे पर निर्भर करते हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। अनेक व्यक्तियों के संगठित रूप को ही समाज कहते हैं। अतः व्यक्तियों के अभाव में समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ठीक इसी तरह समाज से अलग व्यक्ति की कल्पना भी असम्भव है। मनुष्य समाज में रहकर ही मनुष्य बन पाता है। समाज से अलग रहकर मनुष्य के रूप में उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। शरीर के किसी अवयव को यदि शरीर से अलग कर दिया जाए तो उस अवयव का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसका आकार तो रह जाता है, पर उसकी क्रिया समाप्त हो जाती है। ठीक इसी तरह समाज से अलग मनुष्य अपने रूप में तो कायम रहता है, पर मनुष्य के रूप में उसकी क्रिया समाप्त हो जाती है, अर्थात् वह सच्चे अर्थ में मनुष्य नहीं रह जाता। अतः समाजवाद के समर्थकों का कहना है कि समाज एक शरीर की तरह है और व्यक्ति उस शरीर के अवयव की तरह हैं। जिस तरह शरीर के सभी अंगों में एक ही जीवन-धारा प्रवाहित होती है उसी तरह समाज के सभी व्यक्ति भी एक ही सामाजिक शक्ति से अनुप्राणित होते हैं। इस मत के समर्थन में निम्नलिखित विचार उपस्थित किए जाते हैं :

1. शिशु में जो भी बातें पायी जाती हैं, उन्हें समाज की पूर्व स्थिति से ही वह प्राप्त करता है। प्रो० मुरहेड का कहना है कि किसी नवजात शिशु की अपनी सारी शारीरिक एवं मानसिक सम्पत्ति, विभिन्न शक्तियों और परिस्थितियों के मेल से प्राप्त होती है। उसके परिवार, समाज, राष्ट्र आदि वे बाह्य शक्तियाँ तथा परिस्थितियाँ उपस्थित करते हैं। उन पर उस शिशु का कोई अधिकार या नियन्त्रण नहीं होता।[1] लॉक आदि अनुभववादी मानते हैं कि जन्म के समय मानवीय मस्तिष्क कोरे कागज के समान रहता है, अर्थात् मनुष्य जन्म के समय अनुभवरहित रहता है। पर ऐसा मानना गलत है। बच्चा अनेक जन्मजात प्रवृत्तियों के साथ जन्म लेता है और वे प्रवृत्तियाँ उसके पूर्वजों के सामाजिक जीवन के परिणाम रहती हैं। अतः जन्म से ही व्यक्ति सामाजिक है।

2. सामाजिक वातावरण छोटे बच्चे के मानसिक विकास को बहुत अधिक प्रभावित करता है। माता-पिता, शिक्षक, साथी आदि के प्रभाव उसके मानसिक विकास को निर्धारित करते हैं। अपने स्वतन्त्र मानसिक विकास के पूर्व वह दूसरों के विचारों, भावनाओं और कार्यों की नकल करता है। जब तक उसमें यह समझने

1. "He (the new-born child) owes every thing he possesses to a combination of forces and circumstances (national, local and family influences) over which he has had no control."
—Muirhead : Elements of Ethics.

की शक्ति नहीं होती कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए— वह दूसरों की केवल नकल करता है। बुद्धि के विकास में सामान्य भाषा का बहुत बड़ा हाथ है। सामान्य भाषा निश्चित रूप से एक सामाजिक संस्थान है और बच्चे इसी सामाजिक तथा सामान्य भाषा को सीखते हैं। भोजन, वस्त्र आदि शारीरिक आवश्यकताओं के लिए भी व्यक्ति को दूसरों पर निर्भर करना पड़ता है। नन्हा शिशु ऐसी असहाय अवस्था में जन्म लेता है कि यदि दूसरों का प्रेम और कृपा प्राप्त न हो तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाए। बड़े होने पर भी उसे दूसरों के सहयोग की सतत आवश्यकता होती है और बुढ़ापे में तो और भी अधिक।

अतः हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि व्यक्ति समाज पर आश्रित है। अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों को वह अपने पूर्वजों की अर्जित सामाजिक प्रवृत्तियों से प्राप्त करता है और अपनी अर्जित प्रवृत्तियों को वर्तमान सामाजिक वातावरण से। प्रो० एच० स्टीफेन का कहना है कि व्यक्ति उन सारी चीजों को समाज से ही प्राप्त करता है जो उसे एक वास्तविक तथा विवेकशील नैतिक प्राणी बनाता है। अन्य मनुष्यों के सम्पर्क के अभाव में वह शक्तिरूप में ही विवेकशील नैतिक प्राणी रह सकेगा, वास्तविक रूप में भी कभी नहीं।

समालोचना

समाज का जैविक मत यान्त्रिक मत से निश्चय ही श्रेष्ठ है। समाज और शरीर में बहुत अधिक समानता है। पर इस सादृश्य को बहुत दूर तक ले जाना खतरे से खाली नहीं है। शरीर और समाज दोनों में आवश्यक भेद भी हैं। शरीर के अंग स्वतन्त्र जीवन नहीं व्यतीत करते, पर व्यक्तियों का अपना स्वतन्त्र जीवन होता है। शरीर के अंगों में एक ही जीवन प्रवाहित होता है, पर व्यक्ति एक स्वतन्त्र चेतना-केन्द्र होता है जिसका वैयक्तिक जीवन समाज के जीवन में लुप्त नहीं हो जाता। व्यक्ति ही अनुभव करता है, समाज नहीं। समाज का कोई चेतना-केन्द्र नहीं होता, व्यक्ति ही चेतना-केन्द्र है। शरीर की मृत्यु होती है, पर मानवीय समाज की मृत्यु नहीं होती। अतः शरीर और समाज में सादृश्य होते हुए भी आवश्यक भेद हैं। अतः समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध वास्तव में शरीर और उसके अंगों के सम्बन्ध के समान नहीं है। यह केवल एक उपमा है और इसी अर्थ में इसका प्रयोग होना चाहिए।

3. आदर्शवाद

समाज स्वतंत्र आत्म-चेतन प्राणियों का एक संगठन है जो आपस में सहयोग के साथ जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका विवेकी

या आदर्श आत्मा सामाजिक आत्मा है। अतः वह अपने आदर्श आत्मा की प्राप्ति समाज के द्वारा ही कर सकता है। मैकेंजी का कहना है कि मानवीय व्यक्ति को, अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध से भिन्न सोचा भी नहीं जा सकता। मनुष्य के नैतिक जीवन की विषय-वस्तु इन्हीं सम्बन्धों पर निर्भर करती है। अतः समाज ही मनुष्य की सच्ची आत्मा की सिद्धि का माध्यम है। जॉन केयर्ड का कहना है कि "समाज से अलग व्यक्ति सच्चे अर्थ में मनुष्य नहीं है; क्योंकि उसमें नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का अभाव हो जाता है। वे ही मानव जीवन के सार-तत्व हैं। सामाजिक सम्बन्ध व्यक्ति के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। समाज के माध्यम से ही व्यक्ति अपनी आत्मा की सिद्धि कर सकता है। अपनी वैयक्तिक आत्मा को सामान्य आत्मा के लिए उत्सर्ग करके ही वह अपनी आध्यात्मिक प्रकृति की प्राप्ति कर सकता है। पर हमें यह भी याद रखना चाहिए कि व्यक्तियों से अलग समाज का अस्तित्व नहीं होता, जिस तरह अंगों से अलग शरीर का अस्तित्व नहीं होता। व्यक्ति और समाज एक जैविक एकता में आबद्ध हैं कि उसके अन्तर्गत ये दोनों हैं, पर वह एकता इन दोनों से परे है।"[1]

साधारण दृष्टि से व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के सिद्धान्तों में विरोध दीख पड़ता है। व्यक्तिवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसके शुभ पर जोर देता है और समाजवाद सम्पूर्ण समाज के शुभ पर। पर वास्तव में दोनों सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं है। यदि व्यक्ति की स्वतंत्रता का पूर्ण रूप से अपहरण कर लिया जाए तो सभी व्यक्ति अपने अधिकतम शुभ की प्राप्ति नहीं कर सकते। पर यदि व्यक्ति को बिल्कुल स्वतन्त्र कर दिया जाए तो भी सभी अपने अधिकतम शुभ की प्राप्ति नहीं कर सकते। अतः व्यक्ति को स्वतन्त्र भी होना चाहिए और नियंत्रित भी। उसे अपने वैयक्तिक शुभ की खोज करनी चाहिए और अन्य लोगों की शुभ-प्राप्ति में सहायक भी होना चाहिए। यदि वह दूसरे के शुभ की परवाह नहीं करता तो वह अपने शुभ की भी प्राप्ति नहीं कर सकता। अतः व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच समन्वय करना आवश्यक है। आदर्शवाद यह समन्वय प्रस्तुत करता है।

●

1. John Caird : Introduction to Philosophy Religion, pp. 229-30.

बीसवाँ अध्याय

आचारशास्त्र का इतिहास

1. विषय-प्रवेश

यूरोपीय आचारशास्त्र के इतिहास को चार हिस्सों में बाँटा जा सकता है :

(1) ग्रीक आचारशास्त्र, (2) मध्यकालीन आचारशास्त्र, (3) आधुनिक आचारशास्त्र तथा (4) समकालीन आचारशास्त्र। इस अध्याय में हम केवल प्रथम तीन की व्याख्या करेंगे और चौथे की व्याख्या अगले अध्याय में की जाएगी।

ग्रीक आचारशास्त्र ग्रीक काल का आचारशास्त्र है जिसका समय ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी (500 बी० सी०) से ईसा की पाँचवीं शताब्दी (ए० डी०) तक है। मध्यकालीन आचारशास्त्र मध्यकाल का आचारशास्त्र है जिसका समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक है। आधुनिक आचारशास्त्र आधुनिक काल का आचारशास्त्र है जिसका समय ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक है। समकालीन आचारशास्त्र बीसवीं शताब्दी के नैतिक चिंतन को कहते हैं। ग्रीक काल में ग्रीक नगर राज्य नैतिक जीवन की पृष्ठभूमि था। उस समय जो मनुष्य नागरिक के रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करता था उसे अच्छा मनुष्य कहा जाता था। मध्यकाल में नैतिकता धर्म के अधीन थी। उस समय धार्मिक व्यक्ति अच्छा व्यक्ति माना जाता था और धार्मिक जीवन नैतिक जीवन या अच्छा जीवन समझा जाता था। आधुनिक काल में नैतिकता में न धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा और न राज्य का ही। आधुनिक नैतिकता स्वतंत्र व्यक्तियों के पारस्परिक अधिकार तथा कर्त्तव्य से सम्बन्धित थी। आजतक यूरोपीय नैतिक चिंतन मुख्यतः दो प्रभावों से निर्धारित रहा है—स्वतंत्र चिंतन जिसकी उत्पत्ति ग्रीक काल में हुई तथा यहूदियों और ईसाइयों की नैतिक परम्परा जो मध्यकाल में चर्च द्वारा परिचालित थी।

अब हम ग्रीक, मध्यकालीन तथा आधुनिक आचारशास्त्र की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

2. ग्रीक आचारशास्त्र

जब किसी व्यक्ति का अन्तःकरण किसी ऐसे कर्म को उचित बतलाता है जिसे दूसरे लोग अनुचित कहते हैं तो उसका चिंतन उसे आचारशास्त्र की मौलिक समस्या की ओर ले जाता है—किन कारणों से कोई कर्म उचित या अनुचित होता है, अथवा

किस मापदंड के आधार पर कर्मों को उचित या अनुचित बताया जाता है। इस तरह का नैतिक चिंतन अस्पष्ट रूप में बहुत से देशों में प्रारम्भ हुआ, पर प्राचीन ग्रीस में ही ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में यूरोपीय आचारशास्त्र का प्रारम्भ वास्तविक रूप में हुआ। सोफिस्ट्स लोग शिक्षक समुदाय थे जिनका मुख्य उद्देश्य ग्रीस के स्वतंत्र नागरिकों को राजनैतिक शिक्षा देना था। वे एक ऐसे समय में रहते थे जब स्थापित संस्थानों के मूल्य के सम्बन्ध में बहुत विवाद था। इसके दो कारण बताए जा सकते हैं—प्रथम यह कि कुछ संस्थानों की उपयोगिता वास्तव में समाप्त हो चुकी थी और दूसरा यह कि मानवीय विचार में स्वतंत्रता का प्रादुर्भाव हुआ था। सोफिस्ट्स लोगों ने यह नैतिक प्रश्न उठाया कि अच्छे जीवन में प्रकृति के अनुकूल कौन-सी बातें हैं और कौन-सी बातें परम्परा मात्र हैं। उनमें जो अधिक क्रान्तिकारी थे उन्होंने सोचा कि नैतिकता मानवीय सुविधा की बात है और हम उन वस्तुओं को शुभ कहते हैं जिन्हें हम या अधिकांश मनुष्य पसंद करते हैं। जो वस्तुएँ हमें अच्छी नहीं लगती उन्हें हम अशुभ कहते हैं। एक महान् सोफिस्ट प्रोटागोरस की प्रसिद्ध उक्ति है—"मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदंड है";[1] वह स्वयं अपने लिए निर्णय करता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मापदंड नहीं होता।

सोफिस्ट्स लोगों के बाद सुकरात आते हैं जिन्हें पाश्चात्य दर्शन का जन्मदाता माना जाता है। सुकरात ने सोफिस्टों की इस प्रवृत्ति का समर्थन किया कि हमें नैतिक प्रश्नों को उठाना चाहिए और उनपर विचार-विमर्श करना चाहिए। सुकरात का विचार था कि शुभ की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान अच्छे जीवन-यापन की एक आवश्यक शर्त्त है, अर्थात् अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अच्छा जीवन किसे कहते हैं। उन्होंने अपने विचार को इस उक्ति में अभिव्यक्त किया—'पुण्य ज्ञान है।'[2] उन्होंने बतलाया कि ज्ञान ही धर्म है। लोग अधर्म इसलिए करते हैं कि वे जानते नहीं कि धर्म क्या है। यदि वे जान जायें कि क्या उचित है और क्या अनुचित, तो वे सदा उचित कर्म को ही करें, कभी भी अनुचित कर्म न करें। पर सुकरात का यह विचार सही नहीं है। अधिकांश मनुष्य जानते हैं कि उचित क्या है, पर उसे करते नहीं और यह भी जानते हैं कि अनुचित क्या है, पर उसे ही करते हैं। सुकरात का चरित्र इतना महान था कि वे जिस कर्म को उचित समझते थे उसे अवश्य करते थे और जिसे अनुचित समझते थे उसें कभी नहीं करते थे। सुकरात सबों को अपने ही जैसा महान् चरित्र का समझते थे, पर यह उनकी भूल थी। अधिकांश मनुष्यों के लिए शुभ के ज्ञान के साथ शुभ-संकल्प

1. "Man is the measure of all things."—Protagoras.
2. Virtue is knowledge.

की आवश्यकता होती है तभी वे अच्छा जीवन व्यतीत कर सकते हैं। अथवा हो सकता है कि सुकरात इस बात को समझते थे पर नैतिक जीवन में ज्ञान के महत्त्व पर बल देने के लिए उन्होंने ऐसी उक्ति दी। यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं सुकरात ने कभी स्पष्ट रूप से कहा हो कि नैतिकता प्रकृति की चीज है, परम्परा की नहीं। पर ऐसा लगता है कि यही उनका विचार था। सुकरात ने कहा—"अपने को जानो।"[1] इसका अर्थ है कि सुकरात के अनुसार अच्छे जीवन के लिए मानवीय प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है, अथवा शुभ प्राकृतिक है क्योंकि यह मानवीय प्रकृति पर आधारित है।

सुकरात के दो महान् अनुयायियों—प्लेटो तथा अरस्तू ने इन नैतिक तथ्यों पर व्यवस्थित ढंग से विचार किया जिन्हें सुकरात नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते थे। प्लेटो ने बताया कि नैतिक ज्ञान एक तात्त्विक ज्ञान है। हमें यह जानना चाहिए कि देश काल में व्याप्त यह जगत्, जिसका ज्ञान इन्द्रियों से होता है यथार्थ जगत् नहीं है। यथार्थ विश्व प्रत्ययों का विश्व है जिसकी अपूर्ण अभिव्यक्ति इस वास्तविक वस्तु-जगत् में होती है। यह टेबुल, जिसे हम इन्द्रियों से जानते हैं, यथार्थ नहीं है, टेबुल का प्रत्यय ही यथार्थ है। अतः इस विश्व की वस्तुएँ यथार्थ नहीं हैं, यथार्थ हैं उनके प्रत्यय। इस तरह प्लेटो के अनुसार प्रत्यय ही यथार्थ हैं। ये ही परमार्थ तत्त्व हैं। प्रत्यय एक श्रेणी में आबद्ध हैं जिसके शिखर पर शुभ प्रत्यय है। वही प्रत्यय सबसे मौलिक प्रत्यय तथा परम तत्त्व है। इसका अर्थ है कि शुभ प्राकृतिक है क्योंकि यह विश्व का सबसे मौलिक तत्त्व है। अरस्तू ने सामान्य रूप से सुकरात तथा प्लेटो के आचारशास्त्र-सम्बन्धी विचारों को स्वीकार किया यद्यपि उनका दार्शनिक दृष्टिकोण इन विचारकों से बहुत भिन्न था। अरस्तू की अभिरुचि नैतिकता के आधारभूत अमूर्त्त सिद्धान्तों की अपेक्षा नैतिक जीवन की मूर्त्त विशेषताओं में अधिक थी। यही कारण है कि हम पुस्तक "एथिक्स" में प्लेटो की पुस्तक "रिपब्लिक" की तरह आदर्श राज्य का वर्णन नहीं पाते; बल्कि उस नैतिक जीवन का विश्लेषण पाते हैं जो उनके समय में ग्रीक के नगर राज्यों में पाया जाता था। अरस्तू ने भी नैतिक ज्ञान को बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया।

प्लेटो तथा अरस्तू के समकालीन दार्शनिकों सीरीनेक्स तथा सीनिक्स ने आचारशास्त्र-सम्बन्धी दो विरोधी मत उपस्थित किए हैं। सीरीनेक्सों का विचार है कि शुभ कर्म वह है जो सुख देता है। इस मत को सुखवाद भी कहते हैं। सीनिक्सों का मत है कि शुभ जीवन के लिए मानवीय इच्छाओं तथा उनकी संतुष्टि से परे होना आवश्यक है। सुख का शुभ से कोई सम्बन्ध नहीं है। सीरीनेक्स के अनुयायी एपीक्यूरियन्स हुए जिन्होंने बतलाया कि सुख ही मानव का एकमात्र शुभ है। सीनिक्स

1. Know thyself." —Socrates.

के अनुयायी एस्टोइक्स थे जिनके अनुसार शुभ जीवन भावना के त्याग तथा कर्त्तव्य की बौद्धिक खोज में है। एस्टोइक्स ने स्पष्ट रूप से बतलाया कि शुभ प्राकृतिक है क्योंकि नैतिक नियम प्राकृतिक नियम है। नैतिक नियम पूर्णतः बौद्धिक है अतः मनुष्य इन्हें अपनी बुद्धि से जान सकता है। सुख की कामना हमें बौद्धिक जीवन के रास्ते से अलग ले जाती है, इसलिए इसका परित्याग आवश्यक है। बौद्धिक ज्ञान पर बल देने के कारण एस्टोइक्स को सुकरात का सच्चा शिष्य कहा जा सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि एपीक्यूरियन्स तथा एस्टोइक्स नैतिक जीवन को दो भिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। पहले के अनुसार वे ही कर्म शुभ हैं जिनसे सुख मिलता है तथा दूसरे के अनुसार शुभ कर्म वह है जो बौद्धिक नियम के अनुकूल है।

3. मध्यकालीन आचारशास्त्र

मध्यकाल में यूरोप में ईसाई धर्म का प्रभुत्व था। इस काल में नैतिकता के सम्बन्ध में नए तथा महत्त्वपूर्ण विचार उपस्थित किए गए। नैतिकता के आन्तरिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया। ऐसा माना गया कि मनुष्य के आन्तरिक प्रयोजन ही उसके कर्मों के औचित्य-अनौचित्य के निर्धारक हैं। मनुष्य का लक्ष्य स्वर्ग की प्राप्ति माना गया। मन की शुद्धता एवं पवित्रता से ही स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव है। नैतिक मनुष्य वह है जिसके कर्मों के प्रयोजन शुभ हैं। इस विचार ने ग्रीक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया। ग्रीक काल में अच्छे नागरिक को नैतिक मनुष्य माना जाता था। पर मध्यकाल में बतलाया गया कि नागरिकता कर्म के बाह्य-पक्ष से सम्बन्धित है जबकि नैतिकता में कर्म के आन्तरिक पक्ष का ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः जो अच्छा नागरिक है वह आवश्यक रूप से नैतिक नहीं कहा जा सकता। ग्रीक काल में आचारशास्त्र को राजनीतिशास्त्र की एक शाखा माना जाता था पर मध्यकाल में इस विचार का खंडन किया गया और बताया गया कि दोनों स्वतन्त्र शास्त्र हैं।

सामान्य रूप से ऐसा कहा जा सकता है कि मध्यकाल में नैतिक चिंतन को प्रोत्साहन नहीं मिला। बाइबिल में दिया गया मापदण्ड ही नैतिकता का अन्तिम मापदण्ड माना जाता था। धर्म-संस्थान द्वारा की गई बाइबिल की व्याख्या सर्वमान्य मानी जाती थी। इससे भिन्न व्याख्या करने वाला व्यक्ति धर्म विरोधी माना जाता था और चर्च द्वारा उसे सजा मिलती थी। चर्च द्वारा प्रस्तुत की गई व्याख्या के खंडन करने वाले को प्राणदण्ड तक दिए जाते थे। चर्च की सत्ता सबसे अधिक शक्तिशाली थी, राज्य सत्ता से भी। उसका निर्णय नैतिकता के क्षेत्र में भी अन्तिम एवं सर्वमान्य था। इसका परिणाम यह हुआ कि नैतिकता और धर्म आपस में इस तरह मिल गए कि उन्हें अलग करना सम्भव नहीं रहा। आचारशास्त्र का एकमात्र

काम था बाइबिल तथा चर्च द्वारा दिये गए सिद्धान्तों एवं नियमों का उदाहरण विशेषों पर प्रयोग करना। इसी कारण मध्ययुग में धर्मशास्त्र[1] का विस्तार बहुत अधिक हुआ। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मध्ययुग में नैतिक चिंतन तथा आचारशास्त्रीय सिद्धान्त का विकास नहीं हो सका। नैतिक विचार धर्म के बन्धनों में बँधा रहा।

4. आधुनिक आचारशास्त्र

पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में चर्च का प्रभुत्व धीरे-धीरे कम होता गया। इसके दो कारण हैं—एक, व्यक्तिवाद का विकास जिसने मानव-स्वातन्त्र्य पर अधिक बल दिया और दूसरा, चर्च का विभागीकरण जिससे चर्च की प्रभुता कम हो गयी। इसके कारण कुछ भी हो इतना निश्चित है कि कोई भी व्यक्ति पादरियों के निर्णय को नैतिक मामलों में अन्तिम निर्णय मानने को तैयार नहीं था। अनेक धार्मिक व्यक्ति बाइबिल के शब्दों में हीं उस नैतिक प्रभुत्व की खोज करने लगे जो पहले पादरियों के अधिकार में था। ईसाई धर्म में जो प्रोटेस्टेन्ट थे वे सभी नैतिक विचारों की जड़ बाइबिल की उक्तियों में खोजने लगे, न कि पादरियों की उक्तियों में। अधिक चिन्तनशील व्यक्तियों ने बाइबिल के आधार पर ऐसे नैतिक मापदण्ड की स्थापना करनी चाही जिसे बुद्धि स्वीकार कर सके। उन लोगों ने अनुभव किया कि नैतिक मापदण्ड को बौद्धिक होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार उपस्थित किए गए जिनका वर्गीकरण निम्नलिखित है :

1. कुछ चिन्तकों ने बतलाया कि उचित तथा अनुचित का भेद-मात्र आत्मनिष्ठ है : यह नैतिक निर्णय करने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, जिस कर्म को कोई व्यक्ति पसन्द करता है उसे वह उचित मानता है और जिसे पसन्द नहीं करता उसे उनुचित मानता है। इस वर्ग के अन्तर्गत वे सभी चिन्तक चले आते हैं जिनके अनुसार उचित तथा अनुचित का भेद एक मानवीय परम्परामात्र है। प्राचीन ग्रीस के सोफिस्ट्स तथा आधुनिक काल के संशयवादी इसी मत के मानने वाले हैं।

2. कुछ चिन्तकों ने बतलाया कि उचित तथा अनुचित का भेद अन्तःअनुभूति के द्वारा ही जाना जा सकता है। सेफ्ट्सबरी तथा हचीसन का नैतिक इन्द्रियवाद तथा रीड का सामान्य इन्द्रियवाद इस मत का समर्थक है।

3. कुछ विचारकों के अनुसार नैतिक गुणों का भेद नियम पर आधारित है। इस नियम के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। ग्रीस के एस्टोइक्स के अनुसार नैतिक नियम प्राकृतिक नियम तथा बौद्धिक नियम दोनों है। मध्ययुग के प्रसिद्ध दार्शनिक सन्त

1. Casuisty or applied ethics.

टोमस एक्वीनस भी इसी मत को मानते हैं। आधुनिक काल में इस सम्बन्ध में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। एक मत से अनुसार नैतिक नियम मानवीय प्रकृति का एक नियम है। अतः इसका ज्ञान मनुष्य की मनोवैज्ञानिक बनावट के अध्ययन से ही हो सकता है। बटलर इस मत के प्रमुख समर्थक हैं। ऐडम स्मिथ तथा ह्यूम के विचार भी इसी प्रकार के हैं। इन सभी नैतिक चिन्तकों ने नैतिक इन्द्रिय या अन्तरात्मा के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयास किया है और इस तरह नैतिकता के आधार को प्राप्त करने की कोशिश की है। दूसरे मत के अनुसार नैतिक नियम बौद्धिक नियम है। कैम्ब्रीज प्लेटोनिस्ट, क्लार्क, बोलेस्टन, कांट आदि इस मत के समर्थक हैं। इस मत का विकास हीगेल तथा उनके अनुयायियों के प्रत्ययवाद में हुआ है। इन लोगों के अनुसार नैतिक नियम बौद्धिक नियम है और फलतः प्राकृतिक नियम क्योंकि उनलोगों के तात्त्विक मत के अनुसार विश्व की बनावट पूर्णतः बौद्धिक है।

4. कुछ चिन्तकों के अनुसार उचित-अनुचित का भेद हमारे कर्मों के परिणाम पर निर्भर करता है। यह भेद विशेषकर इस बात पर निर्भर करता है कि हमारे कर्म हमारी इच्छाओं की सन्तुष्टि किस हद तक करते हैं और हमें तथा दूसरों को कहाँ तक सुख दे पाते हैं। इस मत का समर्थन ग्रीक दार्शनिक सीरीनेक्स तथा एपीक्यूरियन्स के सिद्धान्तों में पाया जाता है। आधुनिक दार्शनिक मिल, सिजविक आदि भी इस मत का समर्थन करते हैं।

सभी प्रकार के आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों पर उनके विकास-क्रम के अनेक प्रभाव पड़ते रहे हैं। अठारहवीं शताब्दी में एसोसियेसनिस्ट मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण ही बटलर ह्यूम, स्मिथ आदि नैतिक दार्शनिकों ने आचारशास्त्र का अध्ययन अन्तःकरण के विश्लेषण द्वारा प्रारम्भ किया। उन्नीसवीं शताब्दी में जीवशास्त्र के विकासवाद के सिद्धान्त ने अनेक प्रकार के आचारशास्त्रीय सिद्धान्तों को प्रभावित किया तथा शुभ-अशुभ की प्रकृति की शुद्ध विकासात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई। सुखवाद की व्याख्या हर्बर्ट स्पेन्सर ने विकासवादी आधार पर की। इसी कारण उनके सिद्धान्त को विकासात्मक सुखवाद कहा जाता है। हीगेल तथा टी० एच० ग्रीन ने विकासवादी ढंग से ही प्रत्ययवाद की स्थापना की। नैतिक मूल्य तथा अन्य प्रकार के मूल्यों के सादृश्य ने आज के आचारशास्त्रीय अध्ययन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। नैतिक इन्द्रियवाद ने शुभ और सौन्दर्य में सादृश्य दिखलाया है। अर्थशास्त्र एवं कला के विकास ने हमें मूल्य की प्रकृति को ठीक से समझने में मदद की है। आज बहुत से नैतिक शुभ की प्रकृति को जानने के लिए मूल्यों की व्यवस्था में इसके स्थान को जानने का प्रयास करते हैं। आज का नैतिक चिन्तन इस तरह के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हो रहा है। अगले अध्याय में हम समकालीन आचार-शास्त्र-सम्बन्धी विचार उपस्थित करेंगे।

इक्कीसवाँ अध्याय

समकालीन नैतिक विचार

मूर, स्टीवेन्सन तथा हेअर

प्रकृतिवादिता का दोष

1. मूर

जी० ई० मूर की पुस्तक 'प्रिन्सिपिया एथिका' सर्वप्रथम 1903 ई० में प्रकाशित हुई। ऐसा माना जाता है कि बाद की नैतिक चिन्तनधारा उसी पुस्तक का प्रतिफल है। या ऐसा कहा जा सकता है कि नैतिक चिन्तन पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। यह निःसन्देह एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इस पुस्तक की प्रस्तावना में मूर ने लिखा है कि मैंने दो नैतिक समस्याओं के बीच भेद करने का प्रयास किया है। इन समस्याओं के समाधान करने का प्रयास नैतिक विचारकों ने किया है, पर ये विचारक इन समस्याओं को स्पष्ट रूप से अलग नहीं कर सके हैं।[1] ये दो प्रश्न निम्नलिखित हैं :

1. किन वस्तुओं का अस्तित्व अपने लिए होना चाहिए ?[2]
2. किस प्रकार के कर्म को हमें करना चाहिए ?[3]

व्यापक रूप से मूर का उत्तर यह है कि साध्य मूलक शुभ का निजी अस्तित्व है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा कि हमें ऐसा कर्म करना चाहिए जिससे शुभ परिणाम निकलने की सम्भावना हो। इसे अनुभव के द्वारा प्रमाणित या अप्रमाणित किया जा सकता है।

इसके बाद मूर नीति शास्त्र के आलोच्य विषय को निरूपित करना चाहते हैं। इनके अनुसार, शुभ क्या है ? यही नीतिशास्त्र का आलोच्य विषय है। इस कथन के तीन अर्थ हो सकते हैं—शुभ क्या है ? इसका विशिष्ट उत्तर हो सकता है, जैसे—अच्छा भाषण कैसे शुरू करना चाहिए, अच्छी दूकान कौन-सी है ? मूर के अनुसार नीतिशास्त्र का यह आलोच्य विषय नहीं हो सकता।

1. "I have tried to distinguish clearly two kinds of question which moral philosophers have always professed to answer, but which... ...they have almost always confused both with one another and with other question."—Principia Ethica.
2. What kind of things ought to exist for their own safe ?
3. What kind of actions ought we to perform ?

इस कथन का दूसरा अर्थ हो सकता है कि किस प्रकार की वस्तु शुभ है। सुख शुभ है। मूर अपनी पुस्तक के अन्त में इस समस्या का उत्तर देते हैं। इस अर्थ को भी मूर स्वीकार नहीं करते हैं।

इस कथन का तीसरा अर्थ हो सकता है कि शुभ हम किसे कहेंगे ? मूर के अनुसार यही नीतिशास्त्र का मूल प्रश्न है।

मूर के अनुसार शुभ क्या है ?—इसका एक सरल उत्तर है। उत्तर यह है कि शुभ अपरिभाषेय है। मूर परिभाषा का प्रयोग एक विशेष अर्थ में करते हैं। इस पुस्तक में विभाजन के रूप में विश्लेषण का प्रयोग किया गया है। इसके अनुसार किसी वस्तु की परिभाषा उसके लिए निर्मायक अवयवों के विश्लेषण द्वारा की जाती है। विधेय के द्वारा उद्देश्य में छिपे हुए विचार अभिव्यक्त होते हैं। अतः मूर परिभाषा का अर्थ किसी वस्तु को उसके अंगों में विभाजन करने को ही मानते हैं। रिचार्ड रॉबिन्सन इसे विश्लेषणात्मक परिभाषा[1] के नाम से पुकारते हैं। इस परिभाषा के द्वारा किसी संश्लिष्ट वस्तु के विभिन्न अंगों के विषय में आसानी से जानकारी हासिल होती है।

मूर का कहना है कि शुभ एक सरल प्रत्यय है। अतः इसका विभाजन सम्भव नहीं है और चूँकि इसका विभाजन नहीं हो सकता है, इसलिए यह अपरिभाषेय है। मूर का कहना है कि जिस तरह से पीले रंग की परिभाषा नहीं हो सकती है उसी तरह से शुभ की भी परिभाषा नहीं हो सकती है। जब मूर शुभ को अपरिभाषेय मानते हैं तो उनका अभिप्राय साध्यमूलक शुभ से है, न कि साधनमूलक शुभ से। शुभ दो तरह का होता है : साध्यमूलक शुभ तथा साधनमूलक शुभ। साध्यमूलक शुभ अपने आप में शुभ होता है। साधनमूलक शुभ किसी उच्च साध्य को प्राप्त करने में सहायक होता है। मूर का विचार है कि अगर कोई विचारक इस सरल, अविश्लेष्य और अपरिभाषेय शुभ की परिभाषा देता है तो उसकी परिभाषा दोषपूर्ण मानी जाएगी और उस दोष को ये प्रकृतिवादिता दोष[2] के नाम से पुकारते हैं।

मूर प्रकृतिवादिता दोष का प्रयोग दो अर्थों में करते हैं :

1. यदि कोई विचारक तथ्यात्मक वाक्य[3] के आधार पर कोई मूल्यात्मक[4] निष्कर्ष निकालता है तो वह प्रकृतिवादिता दोष का भागी होता है। तथ्यों के आधार पर मूल्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

1. Analytical definition.
2. Naturalistic fallacy.
3. Factual statement.
4. Value-judgment.

2. पुनः यदि कोई विचारक इस सरल, अविश्लेष्य और अपरिभाषेय शुभ की परिभाषा किसी पद के द्वारा करता है, तो उसकी परिभाषा में प्रकृतिवादिता का दोष माना जाएगा।

इस 'प्रकृतिवादिता दोष' का मूर के नैतिक सिद्धान्त में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इसी के आधार पर मूर ने तत्कालीन नैतिक सिद्धान्तों की आलोचना की है और अपने अन्तःप्रेरणावादी सिद्धान्त[1] का समर्थन किया है। इनके सिद्धान्त को अप्रकृतिवाद[2] भी कहा जाता है क्योंकि ये शुभ को अप्राकृतिक मानते हैं। इसी के आधार पर मूर प्रकृतिवादी सिद्धान्त, तात्विक सिद्धान्त तथा सुखवाद की आलोचना करते हैं। इनके अनुसार इन सभी सिद्धान्तों में प्रकृतिवादिता दोष है।

मूर के अनुसार प्रकृतिवादी सिद्धान्त शुभ को प्राकृतिक पदों के द्वारा परिभाषित करता है। शुभ एक अ-प्राकृतिक[3] पद है। इसे कभी भी प्राकृतिक पदों के द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता है। स्पेन्सर विकासवाद के समर्थक हैं। विकासवाद का प्रयोग इन्होंने नीति-दर्शन के क्षेत्र में किया है। इनके अनुसार 'शुभ' वह है जो अधिक विकसित है। अतः शुभ की परिभाषा 'अधिक विकसित' के रूप में की जाती है। लेकिन मूर के अनुसार अधिक विकसित एक प्राकृतिक पद है और शुभ एक नैतिक पद। अतः ज्योंही स्पेन्सर शुभ को पद के द्वारा परिभाषित करने का प्रयास करते हैं, उनके विचार में प्रकृतिवादिता का दोष आ जाता है।

प्रकृतिवादी सिद्धान्त दो तरह का होता है : सुखवादी और असुखवादी। स्पेन्सर असुखवादी प्रकृतिवाद के समर्थक हैं। बेन्थम और मिल सुखवाद का समर्थन करते हैं। इस पुस्तक में मूर मिल के सुखवाद की आलोचना करते हैं और बताते हैं कि उसमें भी प्रकृतिवादिता का दोष है। मिल 'शुभ' को 'सुख' के द्वारा परिभाषित करते हैं। पर सुख एक प्राकृतिक पद है। अतः इसके द्वारा शुभ को, जो एक अप्राकृतिक है, परिभाषित नहीं किया जा सकता है।

मिल के अनुसार सुख साध्यमूलक शुभ है। यही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। सुख के अलावे कोई वस्तु शुभ नहीं है।[4]

मूर के अनुसार मिल प्रकृतिवादिता दोष के लिए एक-दूसरे कारण से भी दोषी हैं। मूर के अनुसार तथ्यों के आधार पर मूल्यों का अनुमान नहीं किया जा सकता

1. Intuitionism.
2. Non-naturalism.
3. Non-natural.
4. "Happiness is desirable, and the only thing desirable as an end; all other things being only desirable as means to that end." —Mill

है। तथ्यात्मक आधार वाक्य के द्वारा मूल्यात्मक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। ऐसा करने से विचार में प्रकृतिवादिता का दोष आ जाता है। मिल अपने सुखवादी सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए ऐसा करते हैं। उनके अनुसार हम सुख की इच्छा करते हैं इसलिए सुख एषणीय है।[1] लेकिन हम ऐसा नहीं कर सकते हैं। यहाँ पर प्रकृतिवादिता का दोष है, क्योंकि मिल तथ्यात्मक आधार वाक्य से मूल्यात्मक निष्कर्ष निकालते हैं। मनुष्य सुख की इच्छा करता है—एक तथ्यात्मक आधार-वाक्य है और सुख एषणीय है, एक मूल्यात्मक वाक्य है।

इसके बाद मूर तात्त्विक सिद्धान्त की मीमांसा करते हैं। उनके अनुसर तात्त्विक सिद्धान्त में भी यही दोष पाया जाता है। तात्त्विक सिद्धान्त नैतिक पदों की व्याख्या तात्त्विक पदों के द्वारा करता है। लेकिन शुभ को तात्त्विक पदों के द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता है। तात्त्विक सिद्धान्त भी शुभ की परिभाषा अतीन्द्रिय-तत्त्वों के द्वारा करता है। इसलिए यदि कोई विचारक शुभ का अर्थ 'ईश्वर का आदेश' ले तो उसका सिद्धान्त दोषपूर्ण होगा।

मूर का सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। फ्रैन्काना ने बताया है कि जो प्रत्यय हो उसे किसी भी प्रत्यय के द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता है। मूर का कहना है कि एक नैतिक प्रत्यय को दूसरे नैतिक प्रत्यय के द्वारा परिभाषित किया जा सकता है, लेकिन यह भी दोषपूर्ण है। इस दोष को वे डिफिनिस्ट फैलेसी[2] के नाम से पुकारते हैं।

पुनः मूर शुभ को एक सरल प्रत्यय मानते हैं, लेकिन ऐसा वे क्यों मानते हैं, इसके लिए कोई तर्क नहीं देते हैं। यह मूर की हठवादिता नहीं तो ओर क्या है?

फिर, मूर के अनुसार शुभ की परिभाषा प्राकृतिक तथा तात्त्विक पदों के द्वारा नहीं हो सकती है। प्राकृतिक और तात्त्विक—दोनों पद भिन्न हैं। अतः जब शुभ को परिभाषा इन भिन्न पदों से की जाती है तो उसे अलग-अलग दोष के नाम से पुकारना चाहिए, लेकिन मूर ऐसा नहीं करते हैं। यह उनकी कमजोरी है।

2. स्टीवेन्सन : संवेगात्मवाद[3]

स्टीवेन्सन एक अमरीकी नैतिक विचारक हैं। इनकी महत्वपूर्ण पुस्तक 'एथिक्स

1. "The only proof capable of being given that an object is visible is that people actually see it the only proof that a sound is audible is that people hear it; the sole evidence that anything is desirable is that people do actually desire it." —Mill.
2. Definist fallacy.
3. Emotivism.

ऐण्ड लैंग्वेज' 1944 ई० में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक अधिनैतिक शास्त्र[1] की बाइबिल मानी जाती है। स्टीवेन्सन के पूर्व नीतिशास्त्र का अर्थ केवल आदर्श निर्धारक नीतिशास्त्र[2] के रूप में लिया जाता था। लेकिन सर्वप्रथम स्टीवेन्सन ने ही पुस्तक रूप में नीतिशास्त्र के अन्तर्गत आदर्श निर्धारक शास्त्र और अधिनैतिक शास्त्र की चर्चा की है। अधिनैतिकशास्त्र की अनेक प्रमुख समस्याएँ हैं जिनका निदान ये प्रस्तुत करते हैं।

1. नैतिक प्रत्ययों जैसे उचित-अनुचित शुभ-अशुभ का अर्थ या परिभाषा क्या है ?

2. नैतिक निर्णय का अर्थ या परिभाषा क्या है ?

3. इन पदों के नैतिक प्रयोग एवं अनैतिक प्रयोग में क्या अन्तर है ?

4. नैतिक निर्णयों को प्रमाणित किया जा सकता है या नहीं, और यदि प्रमाणित किया जा सकता है तो किस अर्थ में ?

इस पुस्तक में स्टीवेन्सन का सम्बन्ध मूल रूप से पहले, दूसरे और तीसरे प्रश्नों से है।

स्टीवेन्सन को अ-बुद्धिवादी[3] विचारक माना जाता है क्योंकि इनके अनुसार नैतिक निर्णय वास्तविक वाक्य के समान नहीं होता। इसके अनुसार नैतिक निर्णय का अर्थ और तर्क बिल्कुल भिन्न है। इनका प्रयोग संवेगात्मक आग्रह के लिए किया जाता है। एअर[4] और कार्नप[5] भी अ-बुद्धिवादी हैं। एअर के अनुसार नैतिक निर्णय मात्र संवेगात्मक अभिव्यक्ति है। नैतिक निर्णय के सम्बन्ध में सत्य एवं असत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता है और इसलिए बौद्धिक रूप से इन्हें प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। "झूठ बोलना, छि !" कार्नप महोदय भी अ बुद्धिवादी हैं। इनके अनुसार नैतिक निर्णय आज्ञासूचक है—"झूठ बोलना अनुचित है,"=इसका अर्थ है "झूठ मत बोलो।" लेकिन स्टीवेन्सन के साथ यह बात नहीं है। ये अ-बुद्धिवादी हैं और एअर से भिन्न प्रकार के संवेगात्मवादी हैं। इनके अनुसार नैतिक निर्णय वक्ता की मनोवृत्ति अभिव्यक्त करते हैं और साथ-ही-साथ श्रोताओं में भी अनुरूप मनोवृत्ति उभारने का प्रयास करते हैं।

स्टीवेन्सन के अनुसार नैतिक असहमति का स्वभाव द्वैत है, जिसमें मनोवृत्ति और आस्था दोनों की असहमति विद्यमान रहती है। मूँर महोदय नैतिक असहमति को केवल आस्था की असहमति मानते हैं और एअर इसे केवल मनोवृत्ति की असहमति मानते हैं। स्टीवेन्सन के अनुसार नैतिक असहमति में करीब-करीब दोनों प्रकार

1. Meta-ethics. 2. Normative ethics, 3. Noncognitivist 4, Ayer 5. Carnap.

की असहमति रहती है।[1] लेकिन ऐसी भी स्थिति हो सकती है जहाँ एक ही प्रकार की असहमति हो। स्टीवेन्सन के अनुसार वह असहमति मनोवृत्ति की होगी। अतः इसके अनुसार मनोवृत्ति की असहमति ही नैतिक असहमति का आवश्यक कारण मानी जाती है।

स्टीवेन्सन के अनुसार नैतिक म प अत्यन्त ही जटिल है। एक ही नैतिक प्रत्यय से कई प्रकार के व्यापार सम्पन्न होते हैं। अतः नैतिक प्रत्यय एवं नैतिक निर्णय का विश्लेषण उपस्थित करना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता कि यही एकमात्र विश्लेषण है। "यह अशुभ है" को "मैं इसे अस्वीकार करता हूँ तुम भी ऐसा ही करो"[2] वाक्य में परिभाषित किया जा सकता है। अनूदित वाक्य में दो अंश हैं :

1. जब हम 'अशुभ' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य अस्वीकृति व्यक्त करना होता है।

2. जब हम किसी वस्तु को अस्वीकार करते हैं तो हम चाहते हैं कि अन्य व्यक्ति भी ऐसा ही करें। हमारी यह इच्छा आदेश रूप में प्रकट होती है। इसीलिए ये नैतिक निर्णय को आदेशात्मक मानते हैं। इस तरह यह स्पष्ट है कि परिभाषक[3] के दो भाग हैं : (i) "मैं अस्वीकृति व्यक्त करता हूँ" जो वक्ता की मनोवृत्ति व्यक्त करता है और (ii) दूसरा आदेशात्मक वाक्य "आप भी वैसा करें।" स्टीवेन्सन के अनुसार 'i' के लिए प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं लेकिन 'ii' के लिए कोई भी प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

इनके अनुसार अधिकांश शब्दों के दो अर्थ होते हैं : वर्णनात्मक और संवेगात्मक। किसी भी शब्द का संवेगात्मक अर्थ हमारी मनोवृत्ति, भावना या आकांक्षा को प्रभावित करता है जबकि वर्णनात्मक अर्थ हमारे ज्ञान-पक्ष को प्रभावित करता है।[4]

1. "When ethical issues become controversial, they involve disagreement that is of a dual nature."
—Ethics and Language, p. II

2 "This is wrong 'means' I disapprove of this; do so as well."
—Ibid p 81

3. Definiens

4. "It is evident that a sign may have both kinds of meaning. That is to say, it may once have a disposition to affect feeling of attitudes and a disposition to affect cognition " —Ibid. p. 7

इनके अनुसार 'शुभ' प्रत्यय अपरिभाष्य[1] है। मूर भी इसी निष्कर्ष की स्थापना अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्सिपिया एथिका' में करते हैं। इनके अनुसार भी 'शुभ' अपरिभाष्य है। लेकिन दोनों के तर्क अलग-अलग हैं। मूर के अनुसार 'शुभ' अपरिभाष्य है क्योंकि यह सरल और अविश्लेष्य है। स्टीवेन्सन के अनुसार 'शुभ' अपरिभाष्य है क्योंकि इसका संवेगात्मक अर्थ भी होता है और संवेगात्मक अर्थ की परिभाषा नहीं हो सकती। नैतिक प्रत्ययों के वर्णनात्मक अर्थ की परिभाषा हो सकती है लेकिन उसके संवेगात्मक अर्थ की परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि भाषा में संवेगात्मक अर्थ के लिए पर्यायवाची शब्द नहीं होते।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता कि नैतिक प्रत्ययों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। विश्लेषण का अर्थ केवल परिभाषा नहीं है। मूर और रसेल के लिए विश्लेषण का अर्थ परिभाषा है। स्टीवेन्सन के अनुसार शुभ अपरिभाष्य है—इसका यह अर्थ नहीं कि इसका विश्लेषण नहीं हो सकता है। इनके अनुसार विश्लेषण का अर्थ लक्षण-निर्धारण[2] होता है। विश्लेषण का आधुनिक अर्थ में प्रयोग सर्वप्रथम स्टीवेन्सन ने ही अपनी इस पुस्तक में किया है। इसके पहले भी उन्होंने 'दि परसुएसिव डिफिनिशन' शीर्षक निबन्ध में इस ओर संकेत किया था।

अब स्टीवेन्सन के समक्ष यह प्रश्न है कि नैतिक निर्णय को प्रमाणित किया जा सकता है या नहीं। इनके अनुसार नैतिक निर्णय के दो अंश हैं: वर्णनात्मक और संवेगात्मक। वर्णनात्मक पक्ष आस्था या विश्वास का द्योतक है और संवेगात्मक पक्ष मनोवृत्ति का। अगर मनोवृत्ति की असहमति का कारण आस्था की असहमति हो तो इसका बौद्धिक अनुशीलन हो सकता है। हम देख चुके हैं कि स्टीवेन्सन के अनुसार नैतिक असहमति किसी वस्तु के प्रति मनोवृत्ति की असहमति और साथ-ही-साथ आस्था की भी असहमति है और जहाँ एक ही प्रकार की असहमति हो वहाँ मनोवृत्ति की असहमति को ही मानना पड़ेगा। अतः नैतिक असहमति को हम दूर कर सकते हैं जब उस वस्तु के प्रति हमारी एक ही प्रकार की मनोवृत्ति हो जाए। किसी भी नैतिक असहमति को हम बौद्धिक पद्धति से बदल भी सकते हैं। इसके लिए किसी भी प्रकार के वर्णनात्मक तर्कों का सहारा लिया जा सकता है।[3] नैतिक असहमति को हम बौद्धिक पद्धति से नहीं सुलझा सकते हैं, यदि मनोवृत्ति के

1. Indefinable.
2. Characterization.
3. Any statement about any matter of fact which any speaker considers likely to alter attitudes, may be adduced as a reason for or against an ethical judgment." —Ibid; p. 114

कारण असहमति हो। इस स्थिति में बौद्धिक पद्धति हमारी मदद नहीं कर सकती है।[1] यह हमारी मनोवृत्ति को विश्वास के माध्यम से बदलती है। लेकिन जहाँ मनोवृत्ति विश्वास पर आधारित न हो वहाँ बौद्धिक पद्धति हमारी मनोवृत्ति को प्रभावित नहीं कर सकती। लेकिन असहमति को यहाँ भी सुलझाना आवश्यक है और वह अ-बौद्धिक विधि से सम्भव है। यह विधि तर्क के द्वारा नहीं, अपितु शब्दों के संवेगात्मक अर्थ को उभार कर मनोवृत्ति को प्रभावित करती है। आग्रह करने की प्रणाली का सहारा लेकर असहमति को दूर किया जा सकता है।[2]

अतः किसी नैतिक निर्णय को प्रमाणित करने का अर्थ होता है, अपने इच्छानुसार उस वस्तु के प्रति श्रोता के मन में अनुकूल या प्रतिकूल मनोवृत्ति उभारने का प्रयास करना, यह बौद्धिक पद्धति तथा आग्रह-विधि द्वारा ही सम्भव है।

3. हेअर : सामान्य : आदेशवाद[3]

समकालीन नीतिशास्त्र की यह विशेषता मानी जाती है कि यहाँ आदर्श निर्धारक नीतिशास्त्र और अधि-नैतिकशास्त्र के बीच भेद किया जाता है। आदर्श निर्धारक नैतिक शास्त्र के अन्तर्गत मानव जीवन के चरम लक्ष्य को निरूपित किया जाता है लेकिन अधि-नैतिक शास्त्र के अन्तर्गत नैतिक प्रत्यय और नैतिक निर्णय के अर्थ का निरूपण किया जाता है। यहाँ पर, नैतिक निर्णय को प्रमाणित किया जा सकता है या नहीं—इस समस्या का समाधान किया जाता है। इसलिए आधुनिक नैतिक विचारक उन समस्याओं को नीतिशास्त्र का मौलिक प्रश्न नहीं मानते हैं, लेकिन परम्परावादी नैतिक विचारक मौलिक प्रश्न मानते हैं। ऑक्सफोर्ड के नैतिक विचारक हेअर इसी परम्परा का निर्वहन करते हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि लेंग्वेज ऑफ मोरल्स' में इन्होंने नैतिक भाषा के स्वरूप और

1. If any ethical dispute is rooted in disagreement in belief, it may be settled by reasoning and inquiry to whatever extent the beliefs may be so settled. But if any ethical dispute is not rooted in disagreement in belief, then no reasoned solution of any sort is possible." —Ibid. p. 131
2. It depends on the sheer, direct emotional impact of words—on emotive meaning; rhetorical cadence, apt metaphor, stentorian, stimulating or pleading tones of voice, dramatic gestures care in establishing rapport with the hearer or audience, and so on' —Ibid., p. 139.
3. Universal Prescriptivism.

व्यापार का वर्णन किया है। इस पुस्तक में इन्होंने नैतिक भाषा का तार्किक विवेचन किया है।

हेअर के अनुसार नैतिक भाषा एक प्रकार की आदेशात्मक भाषा है। आदेशात्मक भाषा दो वर्गों में बाँटी जा सकती है (i) प्रकट आदेश और (ii) मूल्यात्मक शब्द। 'चाहिए' एवं 'उचित' शब्दों का प्रयोग प्रकट आदेश के लिए किया जाता है। 'शुभ', 'वांछनीय' शब्दों का प्रयोग मूल्यात्मक शब्दों के लिए किया जाता है। इनके अनुसार नैतिक शब्द किसी-न-किसी रूप में आदेशात्मक हैं। हेअर के अनुसार मूल्यात्मक निर्णय को आदेशात्मक इसलिए माना जाता है, क्योंकि उनके द्वारा हमारा मार्गदर्शन होता है। 'यह अच्छी कलम है', एक प्रकार का मूल्यात्मक निर्णय है। इसके आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'इसे खरीदो'।

हेअर के अनुसार नैतिक प्राक्कथनों के द्वारा आदेश दिया जाता है। आदेश देने का व्यापार तथ्यात्मक प्राक्कथन के द्वारा नहीं हो पाता है। नैतिक प्राक्कथन के द्वारा आदेश देने का व्यापार उसी तरह होता है जिस तरह आज्ञासूचक वाक्यों के द्वारा होता है। हर आदेशात्मक वाक्य के अनुरूप हमें एक तथ्यात्मक प्राक्कथन मिल सकता है—जैसे 'कृपया रोशनी गुल कर दें' आदेश के अनुरूप यह प्राक्कथन हो सकता है, 'रोशनी गुल हो गई।' हेअर इसे निम्नलिखित उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करते हैं।

1. 'कृपया दरवाजा बन्द करें।—आदेशात्मक[1]
2. 'जी हाँ, दरवाजा बन्द है।—तथ्यात्मक[2]

स्टीवेन्सन के अनुसार आदेश के द्वारा संवेग को उभारा जाता है या श्रोता की मनोवृत्ति को प्रभावित किया जाता है। लेकिन हेअर के अनुसार ऐसी बात हर परिस्थिति में नहीं होती है। किसी-किसी परिस्थिति में ऐसी बात हो सकती है। परन्तु आदेश देना किसी प्रकार की मनोवृत्ति का प्रकाशन नहीं माना जा सकता। प्राक्कथन और आदेश के बीच अन्तर होता है। किसी प्राक्कथन से अगर कोई सहमत है तो इसका अर्थ यह होगा कि उसमें उसकी आस्था है। इसका अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि निश्चयपूर्वक इसका पालन करना है। लेकिन अगर किसी आदेश से कोई सहमत है, तो इसका अर्थ यह होगा कि निश्चयपूर्वक इसका पालन करना है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक आदेश देने का अर्थ उस आदेश को स्वयं स्वीकार करना होता है।

---

1. 'The door being closed, please.'
2. 'The door being closed, yes,'

हेअर के अनुसार सामान्य नैतिक प्राक्कथन को सामान्य आदेश कहा जाता है। यहाँ 'शोरगुल मत कीजिए' एक आदेश है। लेकिन वह वाक्य 'शोरगुल करना अच्छा नहीं है' से बिल्कुल भिन्न है। 'शोर-गुल करना अच्छा नहीं है', का अर्थ होता है—'किसी समय किसी के द्वारा कहीं भी कृपा-पूर्वक शोर-गुल नहीं हो'। नैतिक आदेश भूत, वर्तमान और भविष्य के लिए दिया जाता है। नैतिक आदेश का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही नहीं रहता है। सामान्य नैतिक प्राक्कथन की दूसरी विशेषता यह है कि इसकी रचना बिना किसी व्यक्ति-विशेष को सम्बोधित किये की जाती है। "हर कोई हर समय ऐसा काम करे कि मुझे प्रसन्नता हो।" एक सामान्य आदेश के रूप में नहीं लिया जा सकता है जब कि "हर कोई हर समय ऐसा काम करे कि सामान्यतया सुख की वृद्धि हो" एक सामान्य आदेश माना जा सकता है। इस पृष्ठभूमि में विशिष्ट नैतिक प्राक्कथनों को सामान्य आदेश नहीं माना जा सकता।

हेअर के अनुसार नैतिक आदेशों के लिए प्रमाण दिये जा सकते हैं। अतः उनके अनुसार तर्कों के आधार पर किसी भी नैतिक आदेश की अवहेलना की जा सकती है और किसी एक नैतिक आदेश को अधिक युक्तिपूर्ण मानकर स्वीकार किया जा सकता है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने 'शुभ' के अर्थ और आधार में भेद किया है। इसके अनुसार 'शुभ' के दो अर्थ होते हैं : प्राथमिक और गौण। प्राथमिक अर्थ में इसका प्रयोग प्रशंसात्मक अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है—सभी परिस्थितियों में समान होता है। लेकिन गौण अर्थ में इस पद के प्रयोग का आधार विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होता है। 'अच्छी पेन्सिल', 'अच्छी गाड़ी', 'अच्छा पंखा' से अलग-अलग सूचना मिलती है। इनसे जिन तथ्यों की सूचना मिलती है उनके लिए प्रमाण दिये जा सकते हैं। 'शुभ' शब्द के भी दो अर्थ होते हैं : मूल्यात्मक तथा वर्णनात्मक। 'शुभ' शब्द का प्रयोग नैतिक एवं अनैतिक अर्थों में भी किया जाता है। हम घड़ी के लिए 'शुभ' शब्द का प्रयोग करते हैं और मनुष्य के लिए भी। जब हम कहते हैं कि 'यह घड़ी अच्छी है' तो इसका अर्थ होता है कि यह घड़ी दूसरी घड़ी से तुलना में श्रेयस्कर है। इसके लिए प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। इसकी पुष्टि इस आधार पर की जाती है कि यह ठीक समय देती है।

इसी आधार पर हेअर इस कथन की स्थापना करते हैं कि नैतिक निर्णय की पुष्टि के लिए कुछ आधार उपस्थित किये जा सकते हैं। हेअर का कहना है कि तर्क केवल तथ्यात्मक नहीं होना चाहिए क्योंकि 'चाहिए' निष्कर्ष की स्थापना 'है'

आधार वाक्य पर नहीं हो सकती। प्रत्येक नैतिक निर्णय 'शुभ' शब्द के प्राथमिक अर्थ के कारण आदेशात्मक होता है तथा गौण अर्थ के कारण उसका सामान्यीकरण करना सम्भव होता है।

हेअर नैतिक निर्णय को सामान्य आदेश के रूप में स्वीकार करते हैं। कांट के अनुसार भी कोई आचरण नैतिक माना जाएगा यदि वह सामान्य नियम के रूप में स्वीकार करने के योग्य हो। हेअर के अनुसार नैतिक निर्णय केवल एक सामान्य आदेश है। उस सामान्य आदेश के रूप में एक सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होती है और उसके अनुरूप आचरण करने के संकल्प की भी घोषणा होती है।

बाईसवां अध्याय

भारतीय आचारशास्त्र के मूल सिद्धान्त

विषय-प्रवेश (Introduction)

मनुष्य ने जब से सोचना-विचारना आरम्भ किया, दुःख से निवृत्ति और सुख की उपलब्धि के साधनों पर विचार किया तथा व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्ध में ध्यान दिया, तभी से देश, काल एवं परिस्थिति के अनुकूल वह अपने आचार-व्यवहार का नियमन और संयोजन करता रहा है। अपने जीवनोद्देश्य को लेकर वह आगे बढ़ा और उसकी प्राप्ति के लिए, चिंतन-मनन के आधार पर, अपना कर्म-पथ प्रशस्त किया। आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र इसी क्रम की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

भारत के ऋषियों, संतों और आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने और जीवन को सुखी-समृद्ध बनाने के लिए जिस नैतिकता का आधार लेकर मानव को कर्त्तव्यारूढ़ होने के आदेश और उपदेश दिए, वे हमारे लोकहितकारी जीवन-दर्शन तथा आचारशास्त्र के सुदृढ़ आधार हैं।

अपनी आचारशास्त्र को पुस्तक के विशिष्ट अंश के रूप में भारतीय आचारशास्त्र के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत कर हमने पाठकों को भारतीय नीतिशास्त्र के अध्ययन की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया है।

प्राचीन भारतीय नीतिज्ञों ने नैतिक जीवन के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। मनु ने कहा :

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषां भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।।"

अर्थात् न मांस खाने में दोष है, न शराब पीने में और न मैथुन में, क्योंकि इनमें प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति देखने में आती है। किन्तु यदि इन विषयों से मनुष्य को निवृत्ति मिल जाए, तो इसे बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जाएगी।

भारत के समस्त नीतिशास्त्र स्वाभाविक प्रवृत्तियों और शारीरिक तथा मानसिक तथ्यों को भली-भाँति समझकर ही नैतिक जीवन का निर्माण करना सिखाते हैं। वे केवल आदर्शवादी ही नहीं हैं, अपितु व्यावहारिक जीवन में वास्तविकता और आदर्श का किस प्रकार समन्वय हो, इस उद्देश्य के भी पूर्णरूप से समर्थक हैं।

उपर्युक्त तथ्यों की जानकारी निम्नलिखित विषयों के विवेचन से प्राप्त होगी। ये विषय हैं :

प्रवृत्ति, निवृत्ति, निष्काम कर्म, पुरुषकार, स्वधर्म, वर्णाश्रम धर्म, पुरुषार्थ एवं गीता का आचारशास्त्र। ये इस अध्याय के वर्ण्य विषय हैं। इस छोटे अध्याय में इन सबका विस्तृत वर्णन सम्भव नहीं है। इन पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। अतः प्रस्तुत अध्याय में हमने इन विषयों का संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट वर्णन करने का प्रयास किया है। यदि पाठकों को इससे भारतीय आचारशास्त्र को समझने में थोड़ी भी सहायता मिले, तो हम अपने प्रयत्न को सार्थक समझेंगे।

लेखकद्वय

1. प्रवृत्ति

कर्म के आन्तरिक स्वरूप के विचार-क्रम में प्रवृत्ति और निवृत्ति पर विचार किया गया है। प्रवृत्ति और निवृत्ति मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ हैं। अतः इनका वर्णन भारतीय आचारशास्त्र को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करता है। साथ ही इस अध्ययन से आचारशास्त्र में मनोविज्ञान के महत्त्व पर भी प्रकाश पड़ता है।

मानवीय कर्म दो प्रकार के होते हैं : भावात्मक और अभावात्मक। प्रवृत्ति में भावात्मक प्रेरणा रहती है। मनुष्य का अपने कर्म-पथ पर आरूढ़ रहना ही प्रवृत्ति-मार्ग का आदर्श है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार कर्म सुनिश्चित होता है। अपने सुनिश्चित कर्म के सम्यक् पालन से ही जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है।

हमारे कर्म दो प्रकार के होते हैं : ऐच्छिक (Voluntary) और अनैच्छिक (Non-voluntary)। जो कर्म हम इच्छा या संकल्प से करते हैं, उसे ऐच्छिक कर्म कहते हैं। ऐसे कर्म के मूल में हमारी प्रवृत्ति प्रच्छन्न रहती है। प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भारतीय आचारशास्त्रियों ने भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं।

प्रशस्तपाद के अनुसार प्रवृत्ति उद्देश्य की चेतना से पूर्ण और चयनात्मक है। यह किसी प्रयत्न की आन्तरिक सक्रियता का बल है। यह वह झुकाव है जो प्रयत्न को जारी रखता है।

विश्वनाथ के "सिद्धान्त मुक्तावली" के टीकाकार महादेव एवं उनके पुत्र दिनकर भट्ट के मतानुसार प्रवृत्ति भावात्मक अर्थ में शुभ का चेतनात्मक चयन है अर्थात् शुभ के प्रति आकर्षण है।

संकीर्ण अर्थ में कृति (कर्म) के लिए 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रवृत्ति को ऐच्छिक कर्म भी इसी अर्थ में कहते हैं। इसमें भावात्मक और अभावात्मक दोनों कर्म समाहित हैं।

विश्वनाथ और प्रभाकर का विचार एक-सा है। कुछ करने की चेतना और इसके साथ ही उसे करने की इच्छा, जिसे तकनीकी भाषा में कार्यताज्ञान और

चिकीर्षा कहते हैं, संकल्प या प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। प्रभाकर ने प्रवृत्ति का विश्लेषण इस प्रकार किया है। सर्वप्रथम हमारे अन्तःकरण में किसी क्रिया की चेतना अथवा कार्यताज्ञान या प्रेरणा (Motive) का उद्‌भव होता है। इसके बाद उस कार्य विशेष को करने के लिए हममें तीव्र इच्छा का प्रादुर्भाव होता है। इसे चिकीर्षा कहते हैं। चिकीर्षा (Desire) में आकर्षण और विकर्षण, राग और द्वेष, रति और विरति साथ-साथ सन्निविष्ट रहते हैं। इसके बाद कृति-साध्यताज्ञान (Volition) की स्थिति आती है जब कर्त्ता के मन में विशेष कर्म को करने की स्थिति आती है और कर्त्ता के मन में विशेष कर्म को करने की अपने में योग्यता अथवा क्षमता का आभास होता है। इसके बाद चेष्टा आरम्भ होती है, जिसमें कर्त्ता में शारीरिक क्रियाएँ होने लगती हैं। अंत में क्रिया आती है जिसमें प्रवृत्ति के सारे व्यापारों का पूर्णतया सम्पादन हो जाता है।

न्याय के अनुसार प्रवृत्ति के अन्तर्गत दो बातें पाई जाती हैं : शुभ का आकर्षण और अशुभ की अनुपस्थिति की चेतना। जब हम किसी कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो हममें केवल शुभ का आकर्षण ही नहीं होता, बल्कि अशुभ की अनुपस्थिति की चेतना भी होती है। किसी कर्म की ओर हम तभी प्रवृत्त होते हैं जब उसके करने से शुभ की प्राप्ति की आशा करते हैं और यह भी उम्मीद करते हैं कि इसके करने से किसी प्रकार का अशुभ नहीं होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रवृत्ति क्रिया या कर्म की एक आन्तरिक या मानसिक स्थिति है। कर्म के नैतिक मूल्यांकन में प्रवृत्ति पर विचार करना आवश्यक है। हम जानते हैं कि नैतिक निर्णय का उचित विषय कर्म का आन्तरिक पक्ष होता है। इससे प्रवृत्ति का महत्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

प्रवृत्ति को मोक्ष-प्राप्ति का एक मार्ग भी माना जाता है। मनु ने कहा है कि ऐहिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति की कामना से जो यज्ञादि तथा तत्सम्बन्धी कर्म किए जाते हैं, उनको प्रवृत्ति की संज्ञा दी जाती है।

2. निवृत्ति

निवृत्ति कर्म-परित्याग की अवस्था है। विशेष अर्थ में यह कर्म-संन्यास है। इस अर्थ में यह मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है। किन्तु साधारण अर्थ में निवृत्ति का अर्थ बुरे कर्मों का परित्याग है।

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥"

अर्थात् मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है, किन्तु उनका पालन नहीं कर पाता। इसी तरह मैं यह भी जानता हूँ कि अधर्म क्या है, किन्तु उससे अपने को बचा नहीं पाता।

यहाँ स्पष्ट है कि 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग कर्म करने के प्रति झुकाव के अर्थ में किया गया है, और 'निवृत्ति' का प्रयोग कर्म करने से अलग रहने की मानसिकता के अर्थ में किया गया है। यही 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' शब्दों के साधारण अर्थ हैं।

इस तरह निवृत्ति का साधारण अर्थ है, अनैतिक कर्मों का परित्याग। नैतिकता बतलाती है कि मनुष्य को नैतिक कर्मों को करना चाहिए और अनैतिक कर्मों को नहीं करना चाहिए। यही हमारा कर्त्तव्य है। मानव की सबसे बड़ी उपलब्धि, नैतिकता की दृष्टि से, अच्छा आदमी बनना है (To be a good man)। सद्गुणों को ग्रहण करने और दुर्गुणों से अलग रहने से ही मनुष्य जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य, आत्म-पूर्णता या आत्म-सिद्धि की प्राप्ति कर सकता है। इस तरह प्रवृति जितनी आवश्यक है, निवृत्ति भी उतनी ही आवश्यक है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों मिलकर नैतिक जीवन का निर्माण करते हैं।

विशेष अर्थ में निवृत्ति संन्यास-मार्ग है। यह योगियों का मार्ग है। सांसारिक माया-जाल से मुक्त होकर साधना-तपस्या का जीवन व्यतीत करना निवृत्ति-मार्ग है। योगी इस मार्ग का अनुसरण मोक्ष की प्राप्ति के लिए करता है।

भारतीय आचारशास्त्र में दोनों, प्रवृत्ति और निवृत्ति, मोक्ष के मार्ग माने गए हैं। निवृत्ति-मार्ग को ही दृष्टि में रखकर पाश्चात्य आलोचक भारतीय नीतिशास्त्र की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह पलायनवादी है। यह सं ार से भागने की शिक्षा देता है। किन्तु सच्ची नैतिकता संसार में रहकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करना है।

किन्तु पाश्चात्य विचारकों का आक्षेप सही नहीं है। भारतीय आचारशास्त्र में निवृत्ति-मार्ग के साथ-साथ प्रवृत्ति-मार्ग का भी प्रतिपादन किया गया है। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार किसी एक मार्ग का चुनाव करता है। प्रत्येक मनुष्य की रुचि एक प्रकार की नहीं होती है। अतः अपनी रुचि के अनुसार ही मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग का चुनाव करना श्रेयष्कर है।

समकालीन भारतीय दार्शनिक प्रवृत्ति-मार्ग को निवृत्ति-मार्ग से श्रेष्ठ मानते हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "निवृत्ति-मार्ग से मुक्ति की प्राप्ति की सलाह नहीं देता। मेरे मतानुसार असंख्य सांसारिक बन्धनों के बीच रहकर अपने कर्त्तव्य के पालन से मोक्ष प्राप्त करना अधिक आनन्ददायक और श्रेयष्कार है।"

हम ऊपर कह चुके हैं कि निवृत्ति का साधारण अर्थ बुरे कर्मों का परित्याग है। इस अर्थ में निवृत्ति मोक्ष-प्राप्ति की आवश्यक शर्त्त है। अनैतिक कर्मों को त्याग कर ही कोई योगी बन सकता है। इस अर्थ में निवृत्ति संन्यास-मार्ग का सोपान है। संन्यासी या योगी अति मानव (Superman) होता है। ऐसा बनने के लिए सर्वप्रथम

उसे अच्छा आदमी बनना पड़ता है। साधारण मानव से गलती हो जाया करती है (To err is human)। साधारण मनुष्य सतत प्रयास के बाद भी यदा-कदा जाने-अनजाने बुरे कर्म कर डालता है। किन्तु योगी अनैतिकता से ऊपर उठ जाता है। वह कभी बुरा कर्म नहीं करता। उसकी प्रकृति ही ऐसी हो जाती है कि वह स्वभावतः सदा अच्छा कर्म करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे एक-दूसरे के पूरक हैं।

3. निष्काम कर्म

निष्काम कर्म को कर्मयोग भी कहते हैं। निष्काम कर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच, कर्मवाद और संन्यास के बीच, सुन्दर सामंजस्य स्थापित करता है।

गीता के दूसरे अध्याय में कर्मयोग की व्याख्या की गई है। निम्नलिखित श्लोक कर्मयोग का सारांश प्रस्तुत करता है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
माकर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि॥ (2/47)

अर्थात् कर्म करना ही मनुष्य के अधिकार में है। कर्म का फल मनुष्य के अधिकार में नहीं है। मनुष्य को कर्म-फल की वासना से कर्म नहीं करना चाहिए। साथ-ही-साथ अकर्मण्यता भी नहीं आनी चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर कर्म करना चाहिए, कर्म फल की भावना से प्रेरित होकर नहीं। कर्म-फल पर कर्त्ता का पूर्ण अधिकार नहीं होता। फल की कामना किए बिना मात्र कर्त्तव्य समझकर कर्म करना ही कर्मयोग है। योग का अर्थ है, कर्म में कुशलता—"योगः कर्मसु कौशलम्।" कुशलपूर्वक कर्म करनेवाला योगी या कर्मयोगी कहा जाता है। कुशलता के साथ कर्म करने का अर्थ है, कर्म-फल की वासना से रहित होकर कर्म करना। अपने सभी कर्मों तथा उनके परिणामों को ईश्वर को अर्पित कर अनासक्त भाव से कर्म करना ही निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म का सिद्धान्त बतलाता है कि मनुष्य को कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करना चाहिए, फल-बुद्धि से नहीं।

अनासक्त भाव से कर्म करने पर मनुष्य ईश्वर को प्राप्त करता है। निष्काम कर्म बन्धन उत्पन्न नहीं करता। जिस तरह बीज को भूंज देने से उसे पौधे उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार आसक्ति-रहित कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डालते बल्कि वे मोक्ष-प्राप्ति के साधक होते हैं।

गीता के निष्काम कर्म की तुलना जर्मन दार्शनिक कांट के सिद्धान्त 'कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिए' (Duty for duty's sake) से की जाती है। कांट भी मानते हैं कि मात्र कर्त्तव्य की भावना से किया गया कर्म ही सच्चा नैतिक कर्म होता है। फल की कामना से किया गया कर्म अनैतिक है। कांट तो यहाँ तक कहते हैं कि कर्त्तव्य के अतिरिक्त किसी भी उच्च भावना, जैसे-प्रेम, करुणा, दया, सहानुभूति आदि से किया गया कर्म भी अनैतिक है। कांट अपने सिद्धान्त तथा वैयक्तिक जीवन में कर्त्तव्य के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित रहे हैं। उनका कहना है कि 'यदि आकाश धरातल पर भी चला आए, तो भी मैं अपने कर्त्तव्य का पालन अवश्य करूँगा।' गीता में भगवान कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि युद्ध करना उनका कर्त्तव्य है। अतः युद्ध का परिणाम जो भी हो, अपने कर्त्तव्य का पालन ही धर्म है और अपने धर्म के पालन में मृत्यु को प्राप्त करना भी श्रेयस्कर है—"स्वधर्मे निधनं श्रेयः।" इस तरह गीता और कांट के सिद्धान्त में बहुत साम्य है, यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से दोनों में भेद भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

निष्काम कर्म के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि यह अव्यावहारिक है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म किसी लक्ष्य या उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही होता है। ऐच्छिक कर्म का विश्लेषण भी इस बात की पुष्टि करता है। प्रत्येक ऐच्छिक कर्म का प्रारंभ इच्छा से होता है। इच्छा अभाव का सूचक है। अभाव की पूर्ति जिस लक्ष्य की सिद्धि से होती है, वही लक्ष्य कर्म की प्रेरणा होता है। अत: लक्ष्य या फल का विचार ही कर्म की प्रेरणा है। इससे स्पष्ट होता है कि फल या परिणाम की कामना किए बिना कर्म करना सम्भव नहीं है। दूसरी बात है कि फल-प्राप्ति की एषणा कर्म के सम्पादन में उत्साह और बल प्रदान करती है। एक छात्र परीक्षा की तैयारी कर रहा है, किन्तु परीक्षा-फल की कामना नहीं करता। एक दूसरा छात्र प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करने के लक्ष्य से परीक्षा की तैयारी कर रहा है। निश्चय ही इस दूसरे छात्र को कर्म करने में विशेष उत्साह प्राप्त होगा और यह उत्साह सर्वोत्तम परीक्षा-फल की कामना से ही प्राप्त होगा। अतः फल-प्राप्ति की कामना कर्म को पूरे जोश के साथ करने की प्रेरणा प्रदान करती है।

निष्काम कर्म के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। शुभ फल की कामना से कर्म करना किसी भी मापदण्ड के आधार पर अनुचित नहीं कहा जा सकता। विश्व-शांति, विश्व-बन्धुत्व आदि अच्छे फल की कामना से किया गया कर्म अवश्य ही शुभ कहा जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि निष्काम कर्म साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। यह मनुष्य का आदर्श है। योगी या स्थितप्रज्ञ ही निष्काम कर्म कर

सकता है। सभी मनुष्य स्थितप्रज्ञ या कर्मयोगी नहीं बन सकते। बनने की क्षमता या सैद्धान्तिक सम्भवता है, किन्तु आजतक का अनुभव इस बात का प्रमाण है कि सभी मनुष्यों के लिए कर्मयोगी बनना व्यावहारिक रूप से वास्तविक नहीं हो सकता। किन्तु प्रत्येक मनुष्य को यथासम्भव कर्मयोग के आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। इस आदर्श की ओर हम जितना अधिक अग्रसर होंगे, हमारा जीवन उतना ही अधिक सुखी और आनन्दमय होगा और हम अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के उतना ही करीब पहुँच पायेंगे। इसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। माता-पिता अपनी संतान का लालन-पालन, उसकी शिक्षा-दीक्षा अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार करते हैं। इस कर्म के पीछे इस फल की कामना रहती है कि उनका बच्चा बड़ा होकर उन्हें सुख पहुँचाएगा, उनकी सेवा सुश्रूषा करेगा और बुढ़ापे का सहारा बनेगा। जब बच्चा योग्य बनकर माता-पिता के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, तो माता-पिता को असह्य कष्ट होता है और उनका जीवन दुःखी हो जाता है। किन्तु यदि माता-पिता यह सोचकर बच्चे का पालन-पोषण करें कि यह उनका कर्त्तव्य है; बच्चा बड़ा होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करेगा या नहीं, यह उसका दायित्व है, तो माँ-बाप को थोड़ा कष्ट तो अवश्य होगा किन्तु कष्ट सह्य होगा और उनका जीवन दुःखी नहीं होगा। उन्हें आत्म-सन्तोष होगा कि उन्होंने अपने कर्त्तव्य का सम्यक् पालन किया है। यह आत्म-सन्तोष उनके जीवन को आनन्दित करेगा।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि यद्यपि निष्काम कर्म के आदर्श की पूर्ण प्राप्ति साधारण मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है, किन्तु इसके अंश मात्र की प्राप्ति भी मानव-जीवन को सुखी और आनन्दमय बनाने में बहुत अधिक सहायक है।

4. पुरुषकार

पुरुषकार से तात्पर्य है पौरुष, पराक्रम, उद्यम, प्रयत्न और चेष्टा। पुरुषकार के माननेवाले कर्मों के क्षेत्र में किन्हीं बाह्य शक्तियों का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। प्रयत्न ही सब कुछ है। डॉ॰ इकबाल ने कहा है :

"खुदी को कर बुलन्द इतना हर इकबाल से पहले
खुदा बन्दा से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है।"

कहने का तात्पर्य है कि मनुष्य को अपने पौरुष से स्वयं को इतना उठाना चाहिए कि खुद खुदा उसके भाग्य को लिखने में उसकी सलाह ले।

पुरुषकार का अर्थ मानवीय कर्म या कर्त्तव्य है। मनुष्य कर्म के द्वारा देवत्व को प्राप्त करता है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति का

दैव कुछ बिगाड़ नहीं सकता। "योगवासिष्ठ" में कहा गया है कि आत्मा ही आत्मा का मित्र है, आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। यदि कोई मनुष्य स्वयं कार्य-सिद्धि के लिए प्रयत्न नहीं करेगा, तो ईश्वर भी उसकी सहायता नहीं कर सकते : "God helps those who help themselves" इस संसार में सभी प्रकार के दुःखों के अन्त के लिए पुरुषकार के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। कार्य-सिद्धि उद्यम से ही सम्भव है—"उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि।" आलसी भाग्य के भरोसे बैठा रहता है : "दैव दैव आलसी पुकारा।" उसे किसी लक्ष्य की कभी प्राप्ति नहीं होती।

उद्यमी कठिन-से-कठिन कार्य का सम्पादन कर डालता है और इस तरह ऊँचे-से-ऊँचे उद्देश्य की प्राप्ति कर लेता है। "मार्कण्डेय पुराण" में कहा गया है कि ध्रुव ने स्व प्रयत्न से वैकुण्ठ को प्राप्त कर लिया। भर्तृहरि ने अपने "नीतिशतक" में लिखा है कि आलस्य से बढ़कर मनुष्य का कोई शत्रु नहीं है—"आलस्य हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।" इसी तरह उद्यम से बढ़कर मनुष्य का कोई दूसरा मित्र नहीं है। "हितोपदेश" में लिखा है कि उद्योगी पुरुष को ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। कायर पुरुष दैव या भाग्य के आधार पर बिना उद्योग के ही लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे पुरुष के पास कभी लक्ष्मी नहीं आती।

नैतिकता तभी सम्भव है जब हम पुरुषकार को स्वीकार करें। नैतिकता की यह पूर्व मान्यता है कि मनुष्य अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। इसी आधार पर अच्छे कर्मों की प्रशंसा तथा बुरे कर्मों की निन्दा की जाती है। उचित कर्मों के लिए पुरस्कार और अनुचित कर्मों के लिए दण्ड का विधान भी इसी आधार पर किया जाता है। अतः नैतिक जीवन की वास्तविकता के लिए पुरुषकार को स्वीकार करना अनिवार्य है। मनुष्य की सम्पूर्ण उपलब्धि उसके ही प्रयत्न का प्रतिफल है।

पुरुषकार के विवेचन के सम्बन्ध में दैव की चर्चा भी आवश्यक हो जाती है। भारतीय नीतिशास्त्र में दैव या भाग्य की अवधारणा भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। भाग्य के अनुसार ही मनुष्य फल प्राप्त करता है, विद्या और पुरुषार्थ से कुछ नहीं होता : "भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्।" जैसी भवितव्यता होती है मनुष्य की बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है और परिस्थिति उसी के अनुकूल बन जाती है। इस विचार के अनुसार मनुष्य बिल्कुल विवश जान पड़ता है। उसके हाथ में कुछ भी नहीं है। अच्छा या बुरा बनना, सत्कर्म या दुष्कर्म करना उसके हाथ में नहीं है। अपने को सुखी या दुःखी बनाना मनुष्य के अधीन नहीं है।

यदि हम दैव-सम्बन्धी उपर्युक्त विचार को स्वीकार करते हैं, तो नैतिकता समाप्त हो जाती है। संकल्प-स्वतन्त्रता नैतिकता की एक आवश्यक मान्यता है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह एक व्यक्ति है अर्थात् उसमें व्यक्तित्व है। अतः

सन्मार्ग और कुमार्ग में से किसी एक को चुनने में वह स्वतन्त्र है। उसमें ऐसी क्षमता या सामर्थ्य है कि वह या तो अच्छा आदमी बनकर प्रशंसा और पुरस्कार प्राप्त करे अथवा बुरा बनकर निन्दा और दण्ड का पात्र बने।

दैव-सम्बन्धी उपर्युक्त मत को स्वीकार करने से कर्म के सिद्धान्त का खण्डन होता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है : "As you son, so you reap।" न 'कृतप्रणाश' है और न 'अकृताभ्युपगम।' अर्थात् प्रत्येक कर्म के फल को भोगना ही है और जो कर्म हम नहीं करते उसके फल को कभी भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता।

ऐसा प्रतीत होता है कि दैववाद और कर्मवाद एक-दूसरे के विरोधी सिद्धान्त हैं। किन्तु सूक्ष्म तथा गहरी दृष्टि से विचार करने पर दोनों में विरोध नहीं रह जाता। दैव या भाग्य या प्रारब्ध भी मनुष्य द्वारा किया गया कर्म ही है। भारतीय दर्शन में तीन प्रकार के कर्म माने गए हैं : प्रारब्ध कर्म, संचित कर्म और क्रियमाण कर्म या संचीयमान कर्म। पूर्वजन्म के जिन कर्मों का फल इस जन्म में मनुष्य पा चुका है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रारब्ध या दैव हमारे द्वारा किए गए कर्म ही हैं।

इस तरह कर्म या पुरुषार्थ या पुरुषकार के महत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। दैव या भाग्य का निर्माण पुरुषकार से ही होता है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। ईश्वर भी कर्म के अनुसार ही मनुष्य को फल देते हैं।

5 स्वधर्म

श्रीमद्भगवद्गीता में स्वधर्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि स्वधर्म का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। परधर्म से सदा भयभीत रहना चाहिए अर्थात् परधर्म के पालन से बचने का प्रयास करना चाहिए। गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम और परम कल्याणकारक है। अतः गीता का स्पष्ट उपदेश है कि स्वधर्म के पालन से ही मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। तीसरे अध्याय में इस बात को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है :

"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥" (3/35)

प्रश्न है, स्वधर्म क्या है? गीता में स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म है। दूसरे अध्याय में यह बिल्कुल स्पष्ट रूप से वर्णित है। हम जानते हैं कि वर्णाश्रम धर्म हिन्दूधर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वर्ण चार हैं : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य निर्धारित कर दिए गए हैं। इसी तरह मानव-जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है और प्रत्येक भाग की पवित्रता का

संकेत करने के लिए उसे आश्रम कहा गया है। ये आश्रम हैं : ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक आश्रम के कर्म निर्धारित हैं। गीता के अनुसार स्वधर्म का अर्थ वर्ण-धर्म और आश्रम धर्म है। भगवान कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने की सलाह इसलिए देते हैं कि धर्म-युद्ध करना अर्जुन का स्वधर्म है। वर्ण-धर्म के अनुसार धर्म-युद्ध करना प्रत्येक क्षत्रिय का कर्त्तव्य है। अर्जुन क्षत्रिय हैं, अतः धर्म-युद्ध करना उनका धर्म है। आश्रम-धर्म के अनुसार भी युद्ध करना अर्जुन का कर्त्तव्य है, क्योंकि वे गृहस्थ आश्रम में हैं। यदि अर्जुन अन्य आश्रम में होते, तो युद्ध करना उनका कर्त्तव्य नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि गीता के अनुसार स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म है। अठारहवें अध्याय में प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

स्मृतिग्रन्थों में भी स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म है। मनुस्मृति में इसकी विशद विवेचना मिलती है। लोकमान्य तिलक ने भी अपने "गीता रहस्य" में स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म ही स्वीकार किया है। जैन दर्शन में भी स्वस्थान के अनुसार कर्त्तव्य करने का निर्देश है। जैनदर्शन में एक शब्द आया है, 'प्रतिक्रमण'। इस शब्द की व्याख्या करते हुए 'प्रतिक्रमणसूत्र' में कहा गया है कि यदि साधक प्रमादवश स्वस्थान के कर्त्तव्यों को त्यागकर परस्थान के कर्त्तव्यों को अपना लेता है, तो पुनः परस्थान के आचरण के छोड़कर स्वस्थान के कर्त्तव्यों का आचरण करना ही प्रतिक्रमण है। संक्षेप में, परस्थान या परधर्म से स्वस्थान या स्वधर्म पर लौटना ही प्रतिक्रमण है। इस तरह जैन दर्शन भी स्वधर्म पालन का निर्देश देता है। शंकराचार्य के अनुसार भी स्वधर्म का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है। उनके अनुसार स्वधर्म का अर्थ राग-द्वेष से विमुक्त होना है।

पाश्चात्य दर्शन में भी नैतिक चिन्तकों ने स्वधर्म-पालन को मनुष्य का कर्त्तव्य माना है। प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रैडले (Bradley) ने 'स्वस्थान और उसके कर्त्तव्य' (My station and its duties) का सिद्धान्त दिया है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इथिकल स्टडीज' (Ethical Studies) में इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की है। उनका कथन है कि प्रत्येक मनुष्य को जीवन में प्राप्त अपने स्थान के कर्त्तव्यों का सम्यक् पालन करना चाहिए। ऐसा करने से ही वह अपने व्यक्तित्व का चरम विकास कर सकता है और जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य आत्म-पूर्णता या आत्म-सिद्धि की प्राप्ति कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह जीवन में प्राप्त अपने विशिष्ट स्थान के महत्त्व को भली-भाँति समझे और उस स्थान के कर्त्तव्यों को भी ठीक से जाने। उसे कभी नहीं सोचना चाहिए कि मेरा स्थान तो बहुत छोटा और महत्त्वहीन है। मैं अन्य उच्च स्थान प्राप्त लोगों की तरह अपने जीवन को महान और महत्त्वपूर्ण नहीं बना सकता। प्रो० ब्रैडले का कहना है कि संसार में

तथाकथित निम्नतम स्थान प्राप्त व्यक्ति भी महानतम उपलब्धि को प्राप्त कर सकता है, यदि वह उस स्थान के कर्त्तव्यों का सम्यक् पालन करे। जिस तरह किसी नाटक में नौकर का अभिनय करनेवाला सर्वश्रेष्ठ अभिनेता घोषित किया जा सकता है और पुरस्कृत हो सकता है, उसी तरह छोटे-से-छोटे स्थान को प्राप्त व्यक्ति भी महामानव बन सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों नीतिशास्त्रों में स्वधर्म पालन को मानव का नैतिक कर्त्तव्य माना गया है। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म को ठीक से जाने और उसका सम्यक् पालन करे तो धरती स्वर्ग में बदल जाए। विश्व में सर्वत्र सुख, शांति और बन्धुत्व का साम्राज्य स्थापित हो जाए। प्रत्येक मनुष्य को परधर्म से विमुख होकर स्वधर्म की ओर उन्मुख होने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। तभी हम मानवता को वर्तमान संकट से उबार सकते हैं, उसे सर्वनाश से बचा सकते हैं।

6. पुरुषार्थ

पुरुषार्थ का अर्थ है, पुरुष या मनुष्य का लक्ष्य। भारतीय दर्शन में मानव-जीवन के सभी पक्षों पर सम्यक् और सन्तुलित विचार उपलब्ध है। भारतीय नीतिशास्त्र जीवन के चार उद्देश्यों को स्वीकार करता है। ये चार उद्देश्य या पुरुषार्थ हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें मोक्ष सर्वोच्च पुरुषार्थ है, अन्तिम लक्ष्य है। अन्य तीन पुरुषार्थ इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं। इन चारों पुरुषार्थों की विस्तृत विवेचना भारतीय आचारशास्त्र में की गई है। हम यहाँ अलग-अलग उनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

धर्म

'धर्म' शब्द संस्कृत के 'धृ' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है, धारण करना—"धरति धारयति लोकं इति धर्मः।" अर्थात् जो संसार को धारण करे वह धर्म है। महाभारत में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की गई है : "धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः" अर्थात् धर्म का अर्थ धारण करना है, धर्म प्रजा को धारण करता है। कणाद ने धर्म के सम्बन्ध में लिखा है : "यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस-सिद्धि स धर्मः" अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो वह धर्म है। धर्म मनुष्य की सांसारिक उन्नति का भी साधन है और जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य, मोक्ष की प्राप्ति का भी।

धर्म वह है जो मनुष्य के स्वरूप की रक्षा करे : "स्वरूप रक्षको धर्मः"। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म उसे कहते हैं जो मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित रखे; वह अपने स्थान से नीचे न गिरकर आगे की ओर अग्रसर हो। इसी अर्थ में कहा

गया है कि जो अपने में गिरे हुए, गिरते हुए और गिरने वाले मनुष्यों को अवनति के मार्ग से बचाकर उन्नति की ओर ले जाने की शक्ति रखता है, वही धर्म है : "पतितं पतन्तं पतिष्यन्तं धरतीति धर्मः"। राधाकृष्णन् के अनुसार धर्म का अर्थ मनुष्य का सम्पूर्ण कर्त्तव्य है जिससे जीवन के लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। उन्होंने लिखा है—"We may define Dharma as the whole duty of man in relation to the fourfold purposes of life."

भारतीय आचारशास्त्र में धर्म मनुष्य के नैतिक कर्त्तव्यों को कहते हैं। मनु ने लिखा है : "आचारः परमो धर्मः" अर्थात् आचार सर्वश्रेष्ठ धर्म है। महात्मा गाँधी भी नैतिकता को ही धर्म मानते हैं। धर्म मनुष्य के उन सभी कर्त्तव्यों की समष्टि है जिसके द्वारा मनुष्य इस संसार में मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकता है। मनुष्य के समक्ष दो विकल्प हैं : वह कर्त्तव्यच्युत होकर पशुत्व की ओर नीचे गिरे अथवा कर्त्तव्यनिष्ठ होकर देवत्व की ओर अग्रसर हो। धर्म उन कर्मों या कर्त्तव्यों का समूह है जो मनुष्य को पशुत्व की ओर गिरने नहीं देता और उसे देवत्व की ओर ऊपर उठाता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने लिखा है—"Dharma gives coherence and direction to the different activities of life. It is the complete rule of life, the harmony of the whole man who finds right and just law of his being."

मनु ने धर्म के दस लक्षण बतलाया है : धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा अक्रोध—

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥"

धर्म से यहाँ तात्पर्य साधारण धर्म से है। धर्म यहाँ उन कर्त्तव्यों का संकेत करता है जिनका पालन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम के अलग-अलग कर्त्तव्य होते हैं : ये कर्त्तव्य विशेष धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

अर्थ और काम भी पुरुषार्थ हैं। अर्थ और काम की प्राप्ति धर्म-सम्मत साधन से ही होनी चाहिए। इस तरह भारतीय आचारशास्त्र में धर्म एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण पुरुषार्थ है। समाज का अस्तित्व और उन्नयन धर्म पर ही आश्रित है। धर्म-सम्मत आचरण से ही व्यक्ति और समाज दोनों का सर्वांगीण विकास सम्भव है। नैतिक कर्त्तव्य सांसारिक या भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक विकास दोनों का मूल आधार है। इसके बिना न सांसारिक सुख और शान्ति की प्राप्ति सम्भव है और न आध्यात्मिक साध्य, मोक्ष की ही।

अर्थ (Wealth)

अर्थ मनुष्य का दूसरा पुरुषार्थ है। अर्थ से तात्पर्य धन और सम्पत्ति से है। अर्थ पर मनुष्य का जीवन निर्भर करता है। अर्थ वह है जिससे सभी प्रयोजनों की सिद्धि होती है : "यतः सर्वप्रयोजन सिद्धि : स अर्थः"। कौटिल्य ने कहा है कि अर्थ ही धर्म और काम का मूल है : "अर्थ मूलौ धर्म कामौ।" इसी कारण भर्तृहरि कहते हैं कि अर्थ सभी गुणों की खान है : "सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ते।" धन से ही धर्म भी सम्भव है : "धनात् धर्मं ततः सुखम्।" जैनदर्शन में धन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं पवित्र माना गया है। धन को मनुष्य का बाह्य जीवन माना गया है, क्योंकि धन-सम्पत्ति पर ही मनुष्य का जीवन निर्भर करता है। धन का अपहरण हिंसा माना गया है।

इस तरह भारतीय आचारशास्त्र में अर्थ एक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ माना गया है। भोजन, वस्त्र, आवास आदि मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन-सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। मनुष्य के अस्तित्व और उसके विकास के लिए अर्थ अत्यन्त आवश्यक है। भौतिक और सांसारिक उन्नयन के लिए तो अर्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ही साथ ही मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए भी अर्थ का आधार आवश्यक है। भूखा मनुष्य दार्शनिक चिन्तन और आध्यात्मिक साधना नहीं कर सकता। इसी कारण भारतीय दर्शन में अन्न को भी ब्रह्म कहा गया है—'अन्नं ब्रह्म'। मध्यम-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए भगवान बुद्ध ने कहा है कि शरीर का पोषण इतना भर करना जरूरी है जिससे आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। आखिर शरीर के माध्यम से ही तो मोक्ष की प्राप्ति करनी है। अतः उसे इस लक्ष्य की प्राप्ति के योग्य रखना जरूरी है। शरीर के पोषण के लिए अर्थ आवश्यक है। अतः अर्थ के बिना मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है।

किन्तु धन-संचय नैतिक साधनों के द्वारा ही करनी चाहिए। 'येन-केन प्रकारेण' अर्थोपार्जन वर्जित है। महात्मा गाँधी कहते हैं कि धनोपार्जन शुभ साधनों के द्वारा ही करनी चाहिए, अशुभ साधनों के द्वारा नहीं। पुनः भारतीय आचारशास्त्र आवश्यकता भर ही धन-संचय का आदेश देता है। महाभारत में कहा गया है कि आवश्यकता से अधिक धन-संचय करनेवाला पाप का भागी होता है। अपरिग्रह को भारतीय आचारशास्त्र में एक प्रमुख सद्गुण माना गया है। आवश्यकता से अधिक धन संचय करनेवाला मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता। शायद इसी कारण ईसा मसीह ने कहा है कि धनी व्यक्ति का स्वर्ग जाना उतना ही असम्भव है जितना सुई के छिद्र से हाथी का प्रवेश करना। अतः धन आवश्यक है और धन-संचय

उचित भी, किन्तु आवश्यकता से अधिक नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर कबीर ने कहा है:

"साईं इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय॥"

काम (Enjoyment)

भारतीय आचारशास्त्र में काम को तीसरा पुरुषार्थ माना गया है। वात्स्यायन ने 'काम' शब्द के दो अर्थों का संकेत किया है, विस्तृत अर्थ और संकुचित अर्थ। विस्तृत या व्यापक अर्थ में 'काम' शब्द का प्रयोग सभी इन्द्रियों से प्राप्त सुख के लिए होता है। महाभारत में इसी अर्थ में 'काम' शब्द का प्रयोग किया गया है। "कामसूत्र" में कहा गया है कि अभिमान सहित रस से ओत-प्रोत सभी इन्द्रियों का आनन्द जिससे उत्पन्न होता है, वही काम है। स्पर्श के विषयों में स्वभावतः अभिमान होता है। व्यक्ति समझता है कि 'यह मेरा है और मैं इससे सुख प्राप्त करूँगा।' इस अभिमान से एक प्रकार की आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से इन्द्रियों को सुख मिलता है, वही काम है। संकुचित अर्थ में 'काम' शब्द का प्रयोग यौन-सुख (Sex pleasure) के लिए किया गया है। यौन-सुख के दो अंग हैं: यौन-सुख की प्राप्ति और सन्तान की उत्पत्ति। दूसरा अंग बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संसार की परम्परा इसी से चलती है।

भारतीय नीतिशास्त्र में यौन-सुख को अनैतिक नहीं माना गया है। हिन्दू-धर्म के देवता भी विवाहित जीवन व्यतीत करते हैं और सन्तान भी उत्पन्न करते हैं। राधाकृष्णन् ने लिखा है—"In Hindu Religion there is nothing unwholesome about the sex life."

व्यक्तित्व के सन्तुलित और समुचित विकास के लिए 'काम' या ऐन्द्रिय सुख बहुत आवश्यक है। व्यापक अर्थ में जीवन के अस्तित्व के लिए भी काम अनिवार्य है। किन्तु नियमित, नियन्त्रित और व्यवस्थित रूप से ही काम की प्राप्ति की जानी चाहिए। तभी व्यक्ति का नैतिक विकास सम्भव है और तभी समाज का भी सर्वांगीण विकास हो सकता है। तात्पर्य यह कि व्यक्ति और समाज दोनों के सामंजस्यपूर्ण उन्नयन के लिए धर्म-सम्मत रूप से काम की प्राप्ति अपेक्षित है। धर्म-सम्मत काम को ही पुरुषार्थ माना गया है। गीता में कहा गया है कि काम, क्रोध और लोभ प्र नियन्त्रण न रखने से नरक के द्वार खुल जाते हैं। महाभारत में कहा गया है कि धर्म की सहायता लिए बिना काम का अनुसरण करने से व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि नैतिकता और धर्म पर आधारित काम ही मनुष्य का पुरुषार्थ है।

मोक्ष (Liberation)

मोक्ष चौथा और अन्तिम पुरुषार्थ है। यह मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। यह सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। इसी कारण इसे निःश्रेयस भी कहते हैं। 'मोक्ष' शब्द की उत्पत्ति 'मुक्' धातु से हुई है जिसका तात्पर्य मुक्त करना है। अतएव मोक्ष का अर्थ आत्मा की मुक्ति है। मोक्ष के लिए मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है।

भारतीय आचारशास्त्र की मान्यता है कि इस संसार में मानव-जीवन दुःखपूर्ण है। इस दुःख का कारण बन्धन है। आवागमन के चक्र में फँसा रहना ही बन्धन है। मनुष्य जन्म-मरण के चक्र में फँसा हुआ है। जन्म लेना और मरना और पुनः जन्म-ग्रहण करना, यही भव-चक्र है। गीता में कहा गया है कि मनुष्य की मृत्यु जितनी निश्चित है, मृत्यु के बाद उसका जन्म-ग्रहण करना भी उतना ही निश्चित है: "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु, ध्रुवं जन्म मृतस्य च।" इस बन्धन से मुक्त होना ही मोक्ष है। गीता में कहा गया है कि यह लोक कर्म बन्धन जन्म है: "लोकोऽयं कर्म बन्धनः।" कर्म के शुभाशुभ फल भोगने के लिए ही बार-बार जन्म ग्रहन करना पड़ता है।

भारतीय नीतिशास्त्र के अनुसार बन्धन का मूल कारण अज्ञान है। अतः ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है: "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।" यह ज्ञान साधारण ज्ञान नहीं है, बल्कि तत्त्व-ज्ञान या आत्म-ज्ञान है। विद्या दो प्रकार की मानी गई है: अपरा और परा। परा विद्या (Higher knowledge) से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है—"नान्यः पन्थाः विद्यते" (श्वेताश्वतर उपनिषद्)। परा विद्या ही सच्ची विद्या है, क्योंकि इसी से मोक्ष मिल सकता है: "सा विद्या या विमुक्तये।"

प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन में तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग प्रस्तुत किया गया है। मन, वचन और कर्म को पवित्र करने से ही आत्म-ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। इसके लिए साधना की आवश्यकता होती है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में साधना की पद्धति की चर्चा है। किन्तु योग-दर्शन में इसकी विस्तृत व्याख्या मिलती है। साधना की इस पद्धति को योग कहते हैं। योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। बौद्ध-दर्शन में मोक्ष-मार्ग के आठ अंग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इसे "अष्टांगिक मार्ग" कहते हैं। जैन दर्शन में मोक्ष-मार्ग के तीन अंग हैं, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र जो 'त्रिरत्न' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

"सम्यक्‌दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" शंकर के अद्वैत वेदान्त में भी मोक्ष के तीन सोपान हैं : श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

मोक्ष दो प्रकार का माना गया है : जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति। इस संसार में इस शरीर को धारण किए हुए जो मोक्ष मिलता है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। जब जीवन्मुक्त शरीर का त्याग कर देता है तो उसे जिस मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसे विदेह मुक्ति कहते हैं।

प्रायः सभी भारतीय नैतिक चिन्तक मानते हैं कि मोक्ष आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति की अवस्था है और साथ-ही-साथ परम और अपूर्व शान्ति की भी। किन्तु कुछ विचारक मानते हैं कि मोक्ष मात्र निषेधात्मक स्थिति नहीं है, यह मात्र दुःख के पूर्ण विनाश की ही अवस्था नहीं है, बल्कि भावात्मक स्थिति भी है, परमानन्द की भी स्थिति है।

पुरुषार्थों में सम्बन्ध

चारों पुरुषार्थों में आवश्यक सम्बन्ध है। मनुष्य शरीर और आत्मा का संयोग है। अतः शारीरिक या भौतिक और आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति से ही उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव है। काम और अर्थ मनुष्य के भौतिक पुरुषार्थ हैं। उसके व्यक्तित्व के भौतिक पक्ष के विकास के लिए इन पुरुषार्थों की सिद्धि आवश्यक है। धर्म मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों विकास के लिए अनिवार्य है। सांसारिक सुख के लिए सामाजिक व्यवस्था आवश्यक है। धर्म से ही सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होती है। पुनः धर्म-सम्मत आचरण से ही मनुष्य का आध्यात्मिक उन्नयन सम्भव है। इस तरह धर्म भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पुरुषार्थों की प्राप्ति में सहायक होता है। अर्थोपार्जन तथा काम-तृप्ति धर्म-सम्मत साधन से ही प्राप्त करने का आदेश है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है कि चारों पुरुषार्थ मानवीय प्रकृति के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं; काम संवेगात्मक पक्ष का, धर्म नैतिक पक्ष का और मोक्ष आध्यात्मिक पक्ष का। उन्होंने लिखा है—"The four ends of life point to the different sides of human nature, the instinctive and the emotional, the economic, the intellectual and the ethical and spiritual."

अर्थात्, जीवन के चार लक्ष्य (चार पुरुषार्थ) मानवीय प्रकृति के विभिन्न पक्षों का संकेत करते हैं, स्वाभाविक और संवेगात्मक, आर्थिक, बौद्धिक तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक।

7. वर्णाश्रम धर्म

वर्णाश्रम धर्म हिन्दू धर्म की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। वर्णाश्रम धर्म का अर्थ है, वर्णधर्म और आश्रम-धर्म। दोनों की अलग-अलग व्याख्या अपेक्षित है।

वर्ण-धर्म

'वर्ण' शब्द के कई अर्थ होते हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि में वर्ण का अर्थ व्यवसाय का चुनाव है।

मनुष्य के चार वर्णों में विभाग को वर्ण-धर्म कहा गया है। वर्ण-व्यवस्था का प्रयोग न कर वर्ण-धर्म का प्रयोग जान-बूझकर किया गया है। वर्ण-धर्म साधारण व्यवस्था नहीं है। मानवीय सृष्टि के मूल में चार वर्णों का भेद निहित है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने स्वयं चारों वर्णों को अपने शरीर के विभिन्न अंगों से उत्पन्न किया। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में कहा गया है कि विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति है, राजन्य या क्षत्रिय की उत्पत्ति उसकी बाहु से, वैश्य की जंघा से और शूद्र की उत्पत्ति उसके पैर से हुई है। ऋग्वेद में कहा गया है :

"ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तद् अस्य यद् वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत॥"

इसका प्रतीकात्मक अर्थ है। पुरुष समाजरूपी शरीर का प्रतीक है। साथ-ही-साथ मुख, बाहु, जंघा और पैर का सादृश्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र से क्रमशः है। ब्राह्मण का कार्य शिक्षण है जो मुँह से होता है। क्षत्रिय का कार्य रक्षण है जो बाहु से होता है। वैश्य का कार्य अर्थोपार्जन है जो जंघा से होता है और शूद्र का कार्य सेवा है जो पैर से होता है। श्रेष्ठता के क्रम में पहले ब्राह्मण आता है, दूसरे स्थान पर क्षत्रिय या राजन्य, तीसरे स्थान पर वैश्य और चौथे स्थान पर शूद्र।

वर्ण-धर्म के अन्तर्गत भारतीय हिन्दू समाज को चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित किया गया और प्रत्येक वर्ण के कर्म निर्धारित किए गए। समाज में मुख्य रूप से चार प्रकार के कार्य हैं, शिक्षण, रक्षण, उपार्जन और सेवा। शिक्षण करनेवाले ब्राह्मण, रक्षण करनेवाले क्षत्रिय, उपार्जन करनेवाले वैश्य और सेवा करनेवाले शूद्र कहलाए। ये चार वर्ण कुछ लोगों के अनुसार जन्म पर निर्भर हैं और कुछ लोगों के अनुसार गुण और कर्म पर आश्रित हैं। शुक्रनीति और भगवद्‌गीता के अनुसार वर्ण-धर्म का आधार गुण और कर्म है। जो लोग जन्म को वर्ण-धर्म का आधार मानते हैं, वे भी गुण-कर्म को बहुत महत्त्व देते हैं। यदि ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न व्यक्ति शूद्रवत् आचरण करता है, तो उसे शूद्र के समान ही समझा जाता है और शूद्रवंश में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण के समान आचरण

करने पर ब्राह्मण की तरह पूज्य और आदरणीय समझा जाता है। ऐसा लगता है कि समाज की सुव्यवस्था के लिए तथा अपने-अपने कर्मों में सर्वाधिक दक्षता और कुशलता प्राप्त करने के लिए ही वर्ण-धर्म बनाया गया था।

वर्ण-धर्म सिर्फ भारतीय समाज में ही नहीं पाया जाता। ईरान में भी समाज को चार वर्गों में विभाजित किया गया है। मिस्र, रोम तथा कुछ अन्य देशों में भी सामाजिक व्यवस्था का वर्गीकरण भारतीय वर्ण-विभाग जैसा दृष्टिगोचर होता है।

विभिन्न वर्णों के कर्म

चारों वर्णों के कर्म निर्धारित किए गए हैं। प्रत्येक वर्ण के कुछ कर्म सामान्य हैं, कुछ विशिष्ट और कुछ आपत्कालीन। क्षमा, सत्य, अहिंसा, शौच आदि सभी वर्णों के कर्म हैं। ब्राह्मण का विशेष कर्म पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, दान देना और दान लेना है। आपत्काल में ब्राह्मण अन्य वर्णों के कर्म को कर सकता है, किन्तु शूद्र के कर्म को नहीं। क्षत्रिय का प्रमुख कर्त्तव्य आन्तरिक सुरक्षा और शान्ति की स्थापना के साथ-साथ बाह्य आक्रमण से समाज की रक्षा करना है। आपत्काल में क्षत्रिय केवल वैश्य के कर्म को ही कर सकता है : "राजन्यो वैश्यकर्म," ब्राह्मण या शूद्र के कर्म को नहीं। वैश्य वर्ण के विशेष कार्य धनोपार्जन एवं अन्य आर्थिक कार्य करके समाज का पालन-पोषण करना तथा उसे आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ और समुन्नत करना है। कृषि, वाणिज्य और पशु-पालन वैश्य के मुख्य कार्य हैं। शूद्र वर्ण का एक मात्र कर्म तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना है। "गौतम धर्मसूत्र" के कहा गया है कि यद्यपि सेवा शूद्र का ही विशिष्ट धर्म है, तथापि प्रत्येक वर्ण का धर्म है कि वह अपने से उच्च वर्ण की सेवा करे। वैश्य का धर्म है, क्षत्रिय और ब्राह्मण की सेवा करना तथा क्षत्रिय का धर्म है, ब्राह्मण की सेवा करना। किसी भी वर्ण की सेवा करना ब्राह्मण का धर्म नहीं है, क्योंकि वह सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ है।

वर्ण और जाति

प्रारम्भ में वर्ण-धर्म गुण-कर्म पर आधारित था। कर्म के आधार पर एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण में प्रवेश कर सकता था। जनक क्षत्रिय होते हुए भी गुण-कर्म के आधार पर ब्राह्मण हो गए। प्रारम्भ में वर्ण और जाति में भेद था। वर्ण गुण-कर्म पर आधारित था और जाति जन्म पर। गौतम ने लिखा है कि जाति वह है जिसका समान प्रसव हो अर्थात् जिसके संयोग से वंश चलता है : "समान प्रसवात्मिका जातिः।" J. H. Hutton ने अपनी पुस्तक "Caste in India" में लिखा है : "The word 'caste' comes from the Portuguese

word casta, signifying breed, race or kind." किन्तु बाद में वर्ण और जाति का प्रयोग एक ही अर्थ में होने लगा। आधुनिक काल में वर्ण और जाति का भेद समाप्त हो गया है। आज दोनों के लिए 'Caste' शब्द का प्रयोग प्रचलित है। इस तरह ऋग्वैदिक काल का वर्ण-धर्म जाति व्यवस्था में बदल गया है।

वर्ण का निर्धारण गुण-कर्म के आधार पर होता था : "जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।" किन्तु जाति का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है आज 'वर्ण' शब्द जाति का पर्यायवाची हो गया है। कर्म के आधार पर जाति-परिवर्तन की व्यवस्था भारतीय समाज में नहीं है।

आश्रम-धर्म

आश्रम-धर्म का अर्थ है, मानव-जीवन की चार अवस्थाओं (आश्रमों) के विशेष धर्म या कर्त्तव्य। मनुष्य की आयु प्रायः सौ वर्षों की मानी जाती थी। सम्पूर्ण आयु को चार भागों में बाँटा गया और प्रत्येक भाग को आश्रम की संज्ञा दी गई। 'आश्रम' शब्द पवित्रता का द्योतक है। प्रत्येक आश्रम 25 वर्षों का माना गया। इस तरह मानव-जीवन को निम्नलिखित ढंग से चार आश्रमों में विभक्त किया गया।

ब्रह्मचर्य आश्रम—25 वर्ष की आयु तक।
गृहस्थ आश्रम—26 वर्ष की आयु से 50 वर्ष की आयु तक।
वानप्रस्थ आश्रम—51 वर्ष की आयु से 75 वर्ष की आयु तक।
संन्यास आश्रम—76 वर्ष की आयु से 100 वर्ष की आयु तक।

आश्रम-धर्म अत्यन्त प्राचीन मालूम पड़ता है। वेदों और ब्राह्मणों में 'आश्रम' शब्द का प्रयोग तो नहीं मिलता, किन्तु विद्यार्थियों, गृहस्थों और संन्यासियों के उल्लेख अनेक स्थलों पर किये गए हैं। आश्रम-धर्म का प्राचीनतम संकेत ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। इसमें चारों आश्रमों का अप्रत्यक्ष उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में चारों आश्रमों का संकेत मिलता है। प्रत्येक आश्रम के चार भेदों की चर्चा की गई है। सूत्र ग्रन्थों में चारों आश्रमों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। महाभारत में आश्रम-धर्म की तुलना चार डंडोंवाली सीढ़ी से की गई है जिसपर चढ़कर व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करता है। इसमें कहा गया है कि ब्रह्मा ने धर्म की रक्षा के लिए चारों आश्रमों को बनाया :

> "पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहित मनुतिष्ठता,
> धर्म संरक्षणार्थमाश्रमाः चत्वारोऽभिनिर्दिष्टाः।"

कहीं-कहीं ऐसा भी संकेत मिलता है कि प्रारम्भ में केवल तीन आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ। संन्यास आश्रम का विकास बाद में हुआ।

भारतीय आचारशास्त्र में मोक्ष को सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन को सम्यक् रूप से व्यवस्थित कर सके और बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग कर सके। इसी उद्देश्य से मानव-जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया गया। इन आश्रमों की अलग-अलग व्याख्या अपेक्षित है।

ब्रह्मचर्य आश्रम

जीवन के प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा गया। इसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, है क्योंकि यह मानव-जीवन की नींव है। इस आश्रम में मनुष्य कौमार्य जीवन व्यतीत करते हुए सभी प्रकार की वासनाओं से अपने को अलग रखकर गुरु के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन करता है। वह गुरु की सेवा करता है और उनसे विद्या प्राप्त करता है : "गुरुशुश्रूषया विद्या।" 25 वर्ष की आयु तक पर्याप्त ज्ञान अर्जित करके व्यक्ति गुरुकुल से घर वापस आता है।

गृहस्थ आश्रम

तब जीवन का दूसरा भाग प्रारम्भ होता है जिसे गृहस्थ आश्रम कहते हैं। इस आश्रम में व्यक्ति विवाह करता है, संतान उत्पन्न करता है, माता-पिता और गुरुजनों की सेवा करता है तथा पारिवारिक जीवन के कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है। भारतीय जीवन में यौन-सम्बन्ध को कभी भी हेय दृष्टि से नहीं देखा गया है। काम भी हमारे जीवन का एक पुरुषार्थ है। किन्तु एक सीमा और मर्यादा के अन्दर ही यौन-तृप्ति की इजाजत है। यौन-सुख पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। हमारे देवता भी वैवाहिक जीवन व्यतीत करते हैं और संतान भी उत्पन्न करते हैं। इस आश्रम में मातृऋण, पितृऋण, गुरुऋण आदि से मुक्त होने का प्रयास किया जाता है।

वानप्रस्थ आश्रम

पचास की उम्र के बाद जीवन की तीसरी अवस्था शुरू होती है जिसे वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं। इस आश्रम को वन जाने की तैयारी की अवस्था कह सकते हैं। जंगल में व्यक्ति चौथी अवस्था अर्थात् संन्यास आश्रम में जाता है। संत तुलसीदास ने 'श्रीरामचरितमानस' में लिखा है : "चौथेपन नृप कानन जाहीं।" कितना ठोस मनोवैज्ञानिक आधार मानव-जीवन के इन आश्रमों का है। यदि व्यक्ति एकाएक गृहस्थ जीवन से संन्यास में प्रवेश कर जाए, तो वह टूट जाएगा। अतः पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए सांसारिक माया से धीरे-धीरे मुक्त होने को कोशिश करनी

चाहिए। घर-परिवार की जिम्मेदारी अपनी संतान को देकर, अपने मार्ग-दर्शन में उसे सुयोग्य गृहस्थ बनाकर, जंगल जाने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। घर को वन समझकर रहना ही वानप्रस्थ आश्रम की विशेषता है।

वानप्रस्थ आश्रम के सम्बन्ध में कहा गया है कि इसमें व्यक्ति जंगल में जाकर रहता है। "गौतम धर्मसूत्र" के अनुसार वानप्रस्थी को फल-मूल खाकर वन में रहना चाहिए तथा तप करना चाहिए। गाँव के फल-मूल को नहीं खाना चाहिए। प्रायः सभी ग्रन्थों में यह स्वीकार किया गया है कि वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति को जंगल में रहना चाहिए और तपस्या-साधना द्वारा सभी प्रकार के सांसारिक मोह-माया से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। "विदुर नीति" के अनुसार एक वानप्रस्थी को चाहिए कि वह अपने पुत्रों के लिए जीविका का प्रबन्ध करे और अपनी कन्याओं का विवाह कर दे, तब वह वनवासी होने की इच्छा करे।

संन्यास आश्रम

जीवन की चौथी और अंतिम अवस्था को संन्यास आश्रम कहते हैं। इस आश्रम में व्यक्ति सांसारिक मोह-माया से अलग होकर जंगल में रहता है। वहाँ संत-महात्माओं, ऋषि-मुनियों के सम्पर्क में रहकर आत्मचिन्तन, तपस्या, भजन आदि करता हुआ मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास करता है। इस अवस्था में वह आत्म-ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान या ईश्वर-ज्ञान प्राप्त करता है। वह अपने ज्ञान से लोक-कल्याण भी करता है। ऐसे ही तत्त्वज्ञानी ऋषियों द्वारा वेदों, उपनिषदों आदि की रचना हुई है।

चतुर्वर्णों में चारों आश्रमों की व्यवस्था द्विज, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ही है। शूद्र के लिए संन्यास आश्रम को छोड़कर अन्य तीनों आश्रमों की व्यवस्था है। इसका कारण शायद यह हो कि शूद्र को मोक्ष-प्राप्ति के लिए आत्म-ज्ञान या ब्रह्म-ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो मात्र सेवा-वृत्ति से ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है, क्योंकि सेवा सबसे कठिन धर्म माना गया है : "सबसे सेवक धर्म कठोरा।"

तपस्वियों की पर्ण-कुटि को आश्रम कहते हैं। इसका अर्थ है कि चार आश्रम तपस्वी-जीवन की चार अवस्थाएँ हैं। मनुष्य केवल वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में ही तपस्या नहीं करता, बल्कि ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम में भी तपस्वी का जीवन व्यतीत करता है। प्रत्येक आश्रम में शास्त्रविहित कर्त्तव्यों को करना तपस्या ही है।

मानव-जीवन की प्राप्ति एक बड़ी दुर्लभ बात है। यह संसार कर्मभूमि है। शुभ कर्मों द्वारा मोक्ष या ईश्वरत्व की प्राप्ति मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य है। विभिन्न आश्रमों में अपने कर्त्तव्य-पालन द्वारा व्यक्ति इस लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

निष्कर्ष

आज वर्णाश्रम धर्म का कहीं नामोनिशान नहीं है। भारतीय समाज विभिन्न जातियों और उपजातियों में विभाजित है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम लुप्त हो चुके हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम भी उस रूप में नहीं है। आज मृत्युपर्यन्त व्यक्ति गृहस्थ ही बना रहता है। मानव-जीवन आज दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में व्यक्ति ज्ञानार्जन करता है और दूसरे में गृहस्थ का जीवन व्यतीत करता है। किन्तु इन भागों को आश्रम कहना उचित नहीं होगा क्योंकि व्यक्ति तपस्वी का जीवन व्यतीत नहीं करता, योगी का जीवन जीता है।

8. श्रीमद्भगवद्गीता का आचारशास्त्र (Ethics of the Gita)

आचारशास्त्र में मनुष्य के सर्वोच्च लक्ष्य का निर्धारण किया जाता है और उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन की भी विवेचना की जाती है। इसमें मानवीय कर्मों का नैतिक मूल्यांकन किया जाता है, अर्थात् यह निर्णय किया जाता है कि कौन से कर्म शुभ या उचित हैं और कौन-से कर्म अशुभ या अनुचित। जीवन के परम लक्ष्य के आलोक में ही कर्मों की शुभता-अशुभता या उसके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय किया जाता है। जो कर्म मानव-जीवन के चरम लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हैं वे शुभ या उचित कहे जाते हैं, और जो बाधक हैं वे अशुभ या अनुचित।

गीता के अनुसार मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति है। इसे प्राप्त कर लेने पर परम सुख और शांति की प्राप्ति होती है। इस ब्राह्मी स्थिति का संकेत गीता में अनेक स्थलों पर किया गया है। ब्राह्मी स्थिति का अर्थ है, ब्रह्म में स्थित हो जाना, ब्रह्म में लीन हो जाना, ब्रह्म को प्राप्त कर लेना या ब्रह्म हो जाना। गीता में कहा गया है :

"कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥" (2/26)

अर्थात् काम-क्रोध से रहित जीते हुए चित्तवाले परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किए हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है।

गीता की ब्राह्मी स्थिति को भारतीय दर्शन में मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति या कैवल्य कहते हैं। भारतीय आचारशास्त्र में मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष को ही माना गया है। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्राह्मी स्थिति प्राप्त

कर लेने पर मनुष्य आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। गीता कहती है :

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥" (8/16)

ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने पर दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है, जरा-मरण से मुक्ति मिल जाती है। साथ-ही-साथ परम शांति और आनन्द की भी प्राप्ति होती है। गीता में कहा गया है :

"जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।" (14/20)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गीता के अनुसार ब्राह्मी स्थिति ही मनुष्य का परम लक्ष्य है। गीता में इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों की भी विवेचना गई है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि गीता के अनुसार कौन-सा साधन सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि प्रत्येक साधन की स्थान-स्थान पर प्रशसा की गई है और उसको सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। वास्तव में, गीता में बतलाए गए सभी साधन समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मनुष्यों को साधनों का अभ्यास करना चाहिए।

गीता के अनुसार मोक्ष के तीन साधन या मार्ग हैं : ज्ञान, भक्ति और कर्म। मनुष्य किसी एक साधन को अपना कर ईश्वर-प्राप्ति कर सकता है। जनक आदि महापुरुषों ने निष्काम कर्म से ईश्वर को प्राप्त किया, प्रह्लाद आदि भक्तों ने भक्ति से भगवान को प्राप्त किया। शुकदेव आदि आत्मज्ञानियों ने ज्ञान से ईश्वर की प्राप्ति की। ब्राह्मी स्थिति या ईश्वर की प्राप्ति के लिए ज्ञान, भक्ति और कर्म समानतः महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान ने स्वयं कहा है :

"मार्गस्थ्योमया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिञ्च नोपायोऽन्योस्ति कर्हिचित्॥"

अपनी रुचि या प्रकृति के अनुसार मनुष्य को किसी एक मार्ग को अपनाना चाहिए। उसी पर चलकर मनुष्य जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

इन तीनों मार्गों या योगों की अलग-अलग व्याख्या अपेक्षित है।

कर्मयोग

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक आदि विद्वान् गीता को कर्मयोग प्रधान ग्रन्थ मानते हैं। तिलक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "गीता रहस्य" में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि कर्मयोग ही गीता का मुख्य विषय है। अर्जुन मोह के कारण कर्म-योग से हट रहे थे। श्रीकृष्ण ने उन्हें कर्मयोग का पाठ पढ़ाया। भगवान के

उपदेश से प्रभावित हो अर्जुन कर्मपथ पर प्रवृत्त हुए। भगवान ने स्वयं कहा है कि कर्म-मार्ग बड़ा कठिन है : "गहना कर्मणोगति ।" (4/17)

हम जो कर्म करते हैं उसका कर्त्ता हम स्वयं को मानते हैं। यही कर्त्तापन का अभिमान है। जो व्यक्ति इस अभिमान से रहित होकर कर्म करता है, वह कर्मयोगी है। साधारणतः मनुष्य आसक्ति के कारण ही कोई कर्म करता है। हम सुख-प्राप्ति तथा दुःख-परिहार के लिए ही कर्म करते हैं। अनासक्त होकर कर्म करना कर्मयोग है। कर्मयोगी को सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय से ऊपर उठकर कर्म करना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण इसी कर्मयोग का उपदेश देते हुए अर्जुन को कहते हैं कि वह सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर युद्ध में प्रवृत्त हो :

"सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥" (2/38)

कर्मयोगी को स्वधर्म का पालन करना चाहिए। गीता कहती है : "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।" स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्मों का पालन करना कर्मयोग है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं : सकाम और निष्काम। सकाम कर्म ही बन्धन उत्पन्न करता है निष्काम कर्म नहीं। कर्मयोग का अर्थ निष्काम कर्म है। भगवान अर्जुन से कहते हैं :

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्याते संगोस्त्वकर्मणि ॥" (2/47)

अर्थात् कर्म करने में ही हमारा अधिकार है, उसके फल में कभी नहीं। हमें कर्मों के फल का हेतु नहीं होना चाहिए और उसमें आसक्ति भी नहीं होनी चाहिए। इस तरह फलाफल की चिन्ता किए बिना अपने कर्त्तव्य का पालन करना कर्मयोग है। जिस प्रकार भूंजे हुए बीज से पौधे उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार कामना रहित कर्म से बन्धन उत्पन्न नहीं होता। अनासक्त हो कर्म करनेवाला व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त करता है।

ज्ञानयोग

शंकराचार्य आदि विद्वान् गीता को मुख्य रूप से ज्ञानयोग का ग्रन्थ मानते हैं। ज्ञानयोग ईश्वर को प्राप्त करने का आध्यात्मिक मार्ग है। ज्ञानयोगी परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करता है। उसके अनुसार आत्मा परमात्मा से अभिन्न है। इस अभेद का ज्ञान ही ज्ञानयोग है। विश्व और ईश्वर अभिन्न हैं। सब कुछ ईश्वर ही है : "सर्वं खलु इदं ब्रह्म ।" विश्व मिथ्या है— "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या ।" ईश्वर ही विश्व के रूप में अभिव्यक्त है।

ज्ञानयोग की सबसे बड़ी विशेषता समत्वयोग है। समत्वयोगी को गीता में स्थित-प्रज्ञ कहा गया है। स्थितप्रज्ञ वह है जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है। स्थितप्रज्ञ के तीन लक्षण बतलाएँ गए हैं :

1. वह मन में रही हुई सभी कामनाओं और वासनाओं को सब प्रकार से छोड़ देता है। "प्रगहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।"

2. अपने आप में सन्तुष्ट रहता है —"आत्मन्येवात्मनातुष्टः ।"

3. वह दुःख में उद्विग्न नहीं होता और न सुख में लिप्त होता है। वह राग, भय और क्रोध से मुक्त रहता है। गीता कहती है :

"दुःखेष्वनेद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरूच्यते ॥" (2/56)

संसार को असार और आत्मा को परमात्मा समझना ही ज्ञानयोग है। ज्ञानी आत्मा को सब भूतों में स्थित देखता है और सब भूतों को आत्मा में स्थित। गीता में कहा गया है :

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।" (6/29)

भगवान कृष्ण कहते हैं कि जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में मुझ वासुदेव को व्याप्त देखता है, और सम्पूर्ण भूतों को मेरे अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है :

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥" (6/30)

गीता में ज्ञानयोगी को समदर्शी कहा गया है। वह सम्पूर्ण चराचर प्राणी को समभाव से देखता है।

भक्तियोग

भक्ति या सेवा के द्वारा भगवान से सम्बन्ध स्थापित करने का नाम भक्तियोग है। श्री रामानुजाचार्य आदि विद्वान् गीता को भक्ति प्रधान ग्रन्थ मानते हैं। श्री रामानुज ने गीता की भक्तिपरक व्याख्या की है। भगवान के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है। इसी कारण भक्तियोग प्रेमयोग भी कहा जाता है। भगवान से सम्बन्ध स्थापित करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति है। भक्तियोग का अर्थ शरणागति है। रामानुज के अनुसार गीता का आदि और अन्त शरणागति है। गीता में भगवान के उपदेश का प्रारम्भ तब होता है जब अर्जुन को मोह उत्पन्न होता है और वे उचित मार्ग के ज्ञान के लिए भगवान की शरण में जाते हैं। गीता का अन्त भगवान के इस उपदेश से होता है

कि व्यक्ति के लिए जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने का सरलतम साधन है भगवान की शरण में चले जाना : "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"

अनन्यभाव से ही परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है। अनन्यभाव को ही अनन्यचित्त भी कहा गया है। अनन्यचित्त का अर्थ है, अन्य किसी वस्तु में चित्त न लगाकर अनन्य प्रेम से भगवान में चित्त लगाना।

अनन्यचेता और शरणागत भक्त की सारी जिम्मेदारी उसके उपास्य पर रहती है। जिस तरह शिशु की सारी जिम्मेदारी माता-पिता पर रहती है, उसी तरह भक्त भी भगवान के भरोसे बिल्कुल निश्चित रहता है। भक्त के उद्धार के लिए निर्गुण ब्रह्म को सगुण साकार रूप धारण करना पड़ता है। भक्त के कल्याण के लिए ही भगवान ने राम, कृष्ण आदि रूपों में अवतार लिया। गीता में कहा गया है कि भक्त की नौका को भगवान ही भवसागर से पार करते हैं :

"तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥" (12/7)

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग में से अपनी रुचि के अनुसार किसी एक मार्ग को अपनाकर व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। किन्तु किसी भी मार्ग पर चलना साधारण मनुष्य के लिए अत्यन्त ही कठिन है। किन्तु यथासाध्य प्रयास करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।

पारिभाषिक शब्दों के अँग्रेजी पर्याय

पहला अध्याय

पारिभाषिक शब्द	अँग्रेजी पर्याय
आचारशास्त्र	Ethics
परिभाषा	Definition
आचरण	Conduct
शुभ	Good
सर्वोच्च या परम शुभ	Highest Good
परम लक्ष्य	Summum Bonum
वस्तुवादी	Positive
आदर्शवादी	Normative
ऐच्छिक कर्म	Voluntary action
अभ्यासजन्य कर्म	Habitual action
इच्छा	Desire
प्रयोजन	Motive
स्वरूप	Nature
आदर्श	Ideal
सत्य	Truth
शिव	Good
सौन्दर्य	Beauty
आचरण की कला	Art of Conduct
क्षेत्र	Scope or Province
नैतिक चेतना	Moral Consciousness
नैतिक बाध्यता या दायित्व	Moral obligation
नैतिक भावना	Moral sentiment
राज्य	State
लक्ष्य तथा उपयोग	End and utility
नैतिक सूझ	Moral insight

दूसरा अध्याय

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी पर्याय
नैतिकता का विकास	Development of morality
विकास की सतहें	Levels of development
जन्मजात प्रवृत्ति की सतह	The level of instinct
रीति-रिवाज की सतह	The level of custom
अन्तःकरण की सतह	The level of Conscience
समूह	Group
जनमत का बल	The force of public opinion
निषेध या टैबू	Tabu
सभ्यता	Etiquette

तीसरा अध्याय

मनोविज्ञान	Psychology
चाहिए	Ought
नैतिक तथ्य	Moral facts
समाजशास्त्र	Sociology
नैतिक बनावट	Moral constitution
विकासवादी सुखवादी	Evolutionary hedonist
सामूहिक मन	Social or collective mind
वैयक्तिक मन	Individual mind
मानसिक परिणाम	Mental product
आत्मनिष्ठ विज्ञान	Subjective scie ce
राजनीतिशास्त्र	Politics
सामाजिक उपयोगिता	Public utility
बाह्य कर्म	Outward act
अभिप्राय	Intention
मापदंड	Standard
नैतिक पूर्णता	Moral perfection
पुण्यात्मा	Virtuous
पापात्मा	Vicious
निर्भरता की भावना	Fecling of dependence
परमसत्ता	Ultimate reality

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी पर्याय
परम मूल्य	Absolute value
मानवीय शुभ	Human good
विश्व शुभ	Cosmic good

चौथा अध्याय

मनोवैज्ञानिक या विश्लेषणात्मक पद्धति	Psychological or analytical method
सुख	Pleasure
सुखवाद	Hedonism
उपयोगितावाद	Utilitarianism
अन्तःअनुभूति	Intuition
कठोरतावाद	Rigorism
प्रज्ञा	Reason
आगमनात्मक या परीक्षात्मक विधि	Inductive of empirical method
अमनोवैज्ञानिक या निगमनात्मक पद्धति	Unpsychological or deductive method
भौतिक जैविक पद्धति	Physical and biological method
ऐतिहासिक पद्धति	Historical or genetic method
तात्त्विक निगमनात्मक विधि	Metaphysical deductive method
निरपेक्ष सत्ता	Absolute reality

पाँचवाँ अध्याय

नैतिक कर्म	Moral action
अनैतिक कर्म	Immoral action
नीति-शून्य कर्म	Non-moral action
सहज क्रियाएँ	Instinctive activities
आकस्मिक क्रियाएँ	Accidental activities
सामान्य मनुष्य	Normal human being
मानसिक स्थिति	Mental stage
शारीरिक स्थिति	Bodily or organic stage

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी पर्याय
बाह्य स्थिति	External or extra-organic stage
इच्छाओं का संघर्ष	Conflict of desires
विवेचन	Deliberation
चुनाव या निर्णय	Choice or decision
निश्चयीकरण	Resolution or determination
उद्देश्य	End or object
साधन	Means
प्रत्याशित	Foreseen
साध्यों की श्रृंखला	Hierarchy or gradation of ends
ज्ञानात्मक	Cognitive
रागात्मक	Affective
क्रियात्मक	Conative
वेगयुक्त मनोवृत्ति	Iucipient tendency
एषणाएँ	Cravings or yearnings
इच्छा का क्षेत्र	Universe of desire
संवेग	Emotion
रागात्मक भावना	Feeling
समीकरण	Equation
साधारण मत	Popular view
तात्कालिक	Immediate
दूरस्थ	Remote
आन्तरिक	Inner
बाह्य	Outer
प्रत्यक्ष या साक्षात्	Direct
परोक्ष	Indirect
चेतन	Conscious
अचेतन	Unconscious
सैद्धान्तिक	Formal
वास्तविक	Material
रूढ़िवादी	Conservative
चरित्र	Character

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी शब्द
स्थायी प्रवृत्ति	Permanent bent of mind
अर्जित	Acquired
सहजात प्रवृत्ति	Innate tendency
संकल्प-स्वातन्त्र्य	Freedom of the will
अभ्यास	Habit
धर्म	Virtue
नैतिक अशुभ	Moral evil
प्राकृतिक अशुभ	Natural evil
पाप	Sin
भूल	Error

छठा अध्याय

विशेषताएँ	Characteristics
क्रियाशील	Active
दायित्वपूर्ण	Obligatory of authoritative
नैतिक चेतना के तत्त्व	Contents or elements of moral consciousness
नैतिक कर्त्तव्य	Moral duty
नैतिक अधिकार	Moral right
नियामक	Regulative or imperative
नैतिक निर्णय	Moral Judgment
नैतिक इन्द्रियवाद	Moral sense theory
बुद्धिवाद	Rationalism
अन्तःकरण की ध्वनि	Voice of conscience

सातवां अध्याय

नैतिक शक्ति	Moral faculty or power
विषयी	Subject
विषय	Object
वस्तु-सम्बन्धी निर्णय	Judgment of fact
मूल्य-सम्बन्धी निर्णय	Judgment of value
वर्णनात्मक	Descriptive

पारिभाषिक शब्द	अँग्रेजी पर्याय
मूल्यात्मक	Appreciative
है-निर्णय	Is-Judgment
चाहिए-निर्णय	Ought-Judgment
तार्किक निर्णय	Logical Judgment
सौन्दर्य-बोधक निर्णय	Aesthetic Judgment
अन्त:अनुभूतिजन्य	Intuitive
विचारजन्य	Reflective
उचित	Right
अनुचित्	Wrong
सही	Correct
गलत	Incorrect
अनैच्छिक	Non-voluntary or non-intentional
कर्म का स्रोत	Spring of action
परिणाम	Consequcnce
अन्त भला तो सब भला	All's well that ends well
प्रेरक शक्ति	Motivating force
आत्मनिर्णय	Self-Judgment or self-reflection
निष्पक्ष द्रष्टा	Impartial spectator
नैतिक आलोचक	Moral connoisseur
आत्मा	Self

आठवाँ अध्याय

व्यक्तित्व	Personality
विवेक	Reason
नैतिकता की आवश्यक मान्यताएँ	Postulates of morality
स्वयंसिद्धियाँ	Axioms
अंधप्रवृत्ति	Blind impulse
संवितवादी	Sensationistic
एकत्व	Unity
गुणवाचकता	Connotation

पारिभाषिक शब्द	अँग्रेजी पर्याय
आत्म-निर्धारण	Self-determination
अवश्यम्भाविता	Necessity
संकल्प-स्वातंत्र्य-विवाद	Free-will-controversy
नियतिवाद	Determinism
स्वतंत्रतावाद	Libertianism
आनुवंशिकता	Heredity
वातावरण	Environment
भौतिकवाद	Materialism
मस्तिष्क	Brain
सर्वेश्वरवाद	Pantheism
प्रकार	Modes
ईश्वरविज्ञान	Theology

नवाँ अध्याय

मौलिक नैतिक प्रत्यय	Fundamental ethical concept
अशुभ	Evil
आर्थिक शुभ	Economic good
सापेक्ष शुभ	Relative good
वैधानिक मत	Legal or Jurnal view
प्रयोजनवादी	Teleogist
आत्म-रक्षा	Self-preservation
आत्म-विकास	Self-development
उत्कृष्टता	Excellence
उपयुक्तता	Desert
सद्गुण	Merit
दोष	Demerits
पूर्णबाध्यतामूलक	Duties of perfect
कर्त्तव्य	Obligation
निर्धारित कर्त्तव्य	Determinate duties
आज्ञाकारिता	Obedience
अनाज्ञाकारिता	Disobedience
कर्त्तव्यपरायणता	Conscientiousness
अतिकर्त्तव्य परायणता	Over-conscientiousness

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी पर्याय
कर्त्तव्य-द्वन्द्व	Conflict of duties
कर्त्तव्यपरायण	Dutyful

दसवाँ अध्याय

प्रयोजनवादी सिद्धान्त	Teleological theory
ऐन्द्रिय आत्मा	Sensuous-self
बाह्य नियमवाद	External law as the standard of morality
सामाजिक नियम	Social law
दूरदर्शिता	Prudence
प्राकृतिक नियम	Law of nature
दलगत नियम	Law of the tribe
आत्म-संगति	Self-consistency
समरूप	Uniform
राजकीय नियम	Political law
दैवी या ईश्वरीय नियम	Divine law

ग्यारहवाँ अध्याय

मनोवैज्ञानिक सुखवाद	Psychological hedonism
स्थानान्तर दोष	Hysteron-Proteron
निमित्त कारण	Eficient cause
अन्तिम कारण	Final Cause
सुख का विचार	Idea of pleasure
सुखप्रद विचार	Pleasant idea
सुख का विरोधाभास	Paradox of hedonism
नैतिक सुखवाद	Ethical hedonism
स्वार्थमूलक सुखवाद	Egoistic hedonism
परार्थमूलक सुखवाद	Altruistic hedonism
निकृष्ट सुखवाद	Gross hedonism
उत्कृष्ट सुखवाद	Refined hedonism
परिमाण	Quantity
तीव्रता	Intensity

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी पर्याय
अवधि	Duration
सामाजिक समझौते का सिद्धान्त	Social contract theory
प्रत्येक अपने ही लिए	Everyone for himself
प्रकार भेद	Difference in kind
मात्रा-भेद	Difference in degree
इन्द्रिय तृप्तिवाद	Sensualism
खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ	Eat, drink and be merry
पुरुषार्थ	Ends of iife
अर्थ	Wealth
काम	Enjoyment
एपिक्यूरसवाद	Epicureanism
अधि तम व्यक्तियों का अधिकतम सुख	The greatest happiness of the greatest number
व्यापकता	Extensity
उत्पादकता	Fecundity
शुद्धता	Purity
निकटता	Proximity
निश्चितता	Certainty
बन्ध्यासुख	Barren-pleasure
सुख के मूल्य के माप	Dimensions of value of pleasure
सुखवादी परिगणना	Hedonistic calculus
नैतिक आदेश	Moral sanction
दृश्य	Visible
श्रव्य	Audible
वांछनीय	Desirable
रुचि-स्थानान्तर	Transference of interest from the end to the means
वाह्य आदेश	External sanction
आन्तरिक आदेश	Internal sanction

पारिभाषिक शब्द	अँग्रेजी पर्याय
गुणात्मक भेद	Qualitative difference
योग्य निर्णायकों का निर्णय	The verdict ot eompetent judges
मनमानी	Arbitrary
गरिमा की भावना	The sense of dignity
आलंकारिक भाषा-दोष	Fallacy of figure of speech
संकलन-दोष	Fallacy of composition
विग्रह-दोष	Fallacy of division

बारहवाँ अध्याय

विकासात्मक सुखवाद	Evolutional hedonism
अनुभववादी सुखवाद	Empirical hedonism
प्रक्रिया	Process
नैतिकता का प्राकृतिक विज्ञान	Natural science of morals
आनुवंशिक नियम	The law of heredity
सावयात्मक	Organic
निकटतम	Proximate
सामाजिक संस्थान का स्वास्थ्य	The health of the social organism
जैविक तथा सामाजिक नियम	Biological and sociological law
शून्य से किसी वस्तु की सृष्टि नहीं होती	Ex-nihilo nihil fit
सन्निकट लक्ष्य	Proximate end
स्वस्थ्य तथा दीर्घ जीवन	Length and breadth of life
जाति-रक्षा	Race-preservation
प्रभुता	Authoritativeness
दबाव	Cocrciveness
सामाजिक भावना	Social sentiment
व्यक्तिवादी	Individualist

पारिभाषिक शब्द	अँग्रेजी पर्याय
समाजवादी	Socialist
उपमा	Analogy or metaphor
सामाजिक व्यवस्था की साम्यावस्था	Equilibrium of the social order
समाजरूपी शरीर	Social organism

तेरहवाँ अध्याय

बुद्धिमूलक उपयोगिता वाद	Rational utilitarianism
स्वतः मूल्यवान	Intrinsically valuable
साधन के रूप में मूल्यवान	Extrinsically valuable
सुख	Pleasure
आनन्द	Happiness
बुद्धिमूलक सुखवाद	Rational hedonism
सहजबोध	Intuition
वितरण के सिद्धान्त	Principles of distribution
बुद्धि के सहज बोध	Rational intuition
अनुभववादी उपयोगितावाद	Empirical utilitarianism
प्राग्अनुभविक	Apriori
परोपकारिता	Benevolence
न्याय	Justice
सब मिलाकर अधिकतम सुख	The greatest pleasure On the whole
संवेदनशील	Sentient
विचारशील	Rational
ऐन्द्रिय	Sentient
व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत	Dualism of Practical Reason
परिमाणात्मक पक्ष	Quantitative side
असंगत मिश्रण	Incoherent blending
सुखप्रदता	Pleasurableness
युक्तियुक्तता	Reasonableness

चौदहवाँ अध्याय

पारिभाषिक शब्द	अंग्रेजी पर्याय
अन्तः अनुभूतिवाद	Intuitionism
अनुपम	Unique
वस्तुनिष्ठ	Objective
सरल	Simple
अव्युत्पन्न	Underived
प्रभुत्वसम्पन्न	Authoritative
सहज रूप में	Intuitively
सहजबोध	Intuitive knowledge
सामान्य	Universal
युक्तसंगत	Rational
प्रत्याशित परिणाम	Foreseen consequences
अनुमानजन्य	Inferential
विधायक	Legislator
रूढ़िवादी	Dogmatic
नैतिक इन्द्रियवाद	Moral sense theory
सौन्दर्य इन्द्रियवाद	Asthetic sense theory
ऐन्द्रिय गुण	Sensible quality
दुःखात्मक भावना	Disagreeable feeling
नैतिक अनुमोदन	Moral approbation
प्रतिकात्मक	Symbolical
सानुपातिक	Proportionate
सामंजस्यपूर्ण	Harmonious
सामान्यवादी	Universalistic
सौन्दर्य-रस	Aesthetic-taste
अभ्यस्त नैतिक रुचि	Cultivated moral taste
दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद	Philosophical intuitionism
तर्कवाद	Dianoetic theory
साधारण बुद्धि	Theoretical reason
आकारिक	Formalistic
अमूर्त्त	Abstract

पारिभाषिक शब्द	अँग्रेजी पर्याय
विरोध	Conflict
विविधता	Variation
आनुभविक	Empirical
शाश्वत	Eternal
अपरिवर्तनशील	Immutable

पन्द्रहवाँ अध्याय

बुद्धिवाद	Rationalism
आत्म-विजय	Self-conquest
ग्रीस का निराशावाद	Cynicism
ग्रीस का हठवाद	Stoicism
संन्यासवाद	Asceticism
व्यक्तिवाद	Individualism
शुभ-संकल्प	Good will
निरपेक्ष आदेश	Categorical imperative
सापेक्ष आदेश	Hypothetical imperative
संकल्प की उचित दिशा	Right direction of the will
स्वतः स्पष्ट	Self-evident
स्वतंत्र	Autonomous
परतंत्र	Heteronomous
कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिए	Duty for duty's sake
शुद्ध बौद्धिक जीवन	Life of pure reason
नैतिक शुद्धतावाद	Moral purism
सूत्र	Maxim
आत्मा की अमरता	Immortality of the soul
मनोवैज्ञानिक द्वैतवाद	Psychological dualism
भावना	Sensibility
कृत्रिम	Artificial
शर्त्त	Concrete
अनर्गल	Absurd
आत्म-त्याग	Self-denial
आत्म-नियंत्रण	Self-restraint

सोलहवाँ अध्याय

पारिभाषिक शब्द	अँग्रेजी पर्याय
आत्मपूर्णतावाद	Perfectionism
व्यक्तित्व	Personality or individuality
आत्म-सिद्धि	Self-realisation
परमानन्द	Blessedness
आत्मप्रसादवाद	Eudaemonism
आदर्श आत्मा	Ideal self
वैयक्तिक आत्मा	Individual self
जीने के लिए मरो	Die to live
व्यक्ति बनो	Be a person
सीमित	Finite

सत्रहवाँ अध्याय

मूल्यवाद	The standard as value
अर्थशास्त्रीय प्रत्यय	Economic concept
तात्त्विक मूल्य	Intrinsic value
साधक मूल्य	Instrumental value
स्थायी मूल्य	Permanent value
अस्थायी मूल्य	Transient value
उत्पादक मूल्य	Productive value
अनुत्पादक मूल्य	Unproductive value
मूल्यों का वर्गीकरण	Classification of values
जैविक मूल्य	Organic value
अति जैविक मूल्य	Hyper-organic value
सामाजिक मूल्य	Social value
आध्यात्मिक मूल्य	Spiritual value
शारीरिक मूल्य	Bodily value
आर्थिक मूल्य	Economic value
मनोरंजक मूल्य	Value of recreation
साहचर्य मूल्य	Value of association
चारित्रिक मूल्य	Character value
सौन्दर्यबोधक मूल्य	Aesthetic value

पारिभाषिक शब्द	अँग्रेजी पर्याय
बौद्धिक मूल्य	Intellectual value
धार्मिक मूल्य	Religious value
निम्न मूल्य	Lower value
मूल्य के संगठन के सिद्धान्त	Principles of organisation value

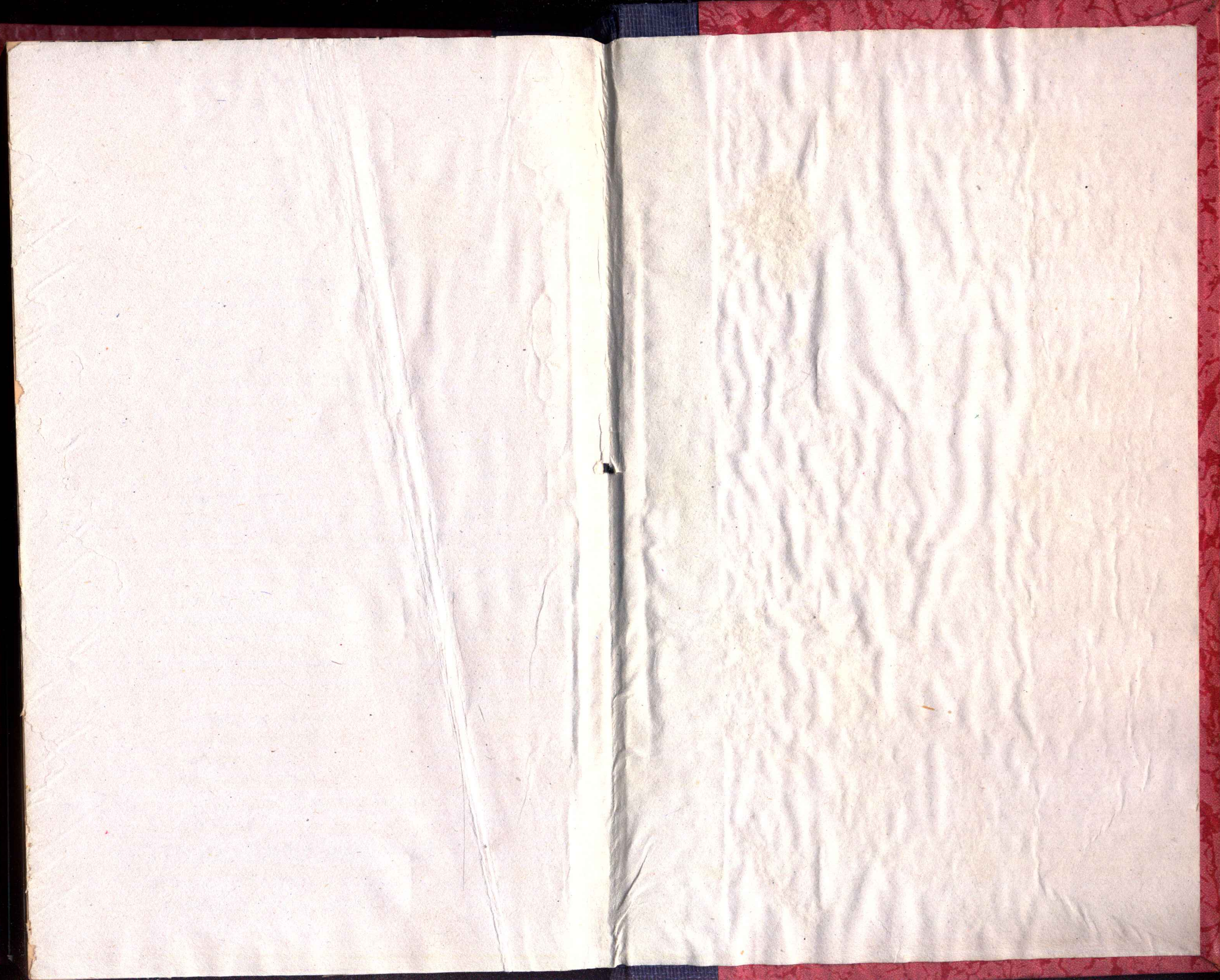
अठारहवाँ अध्याय

दंड के सिद्धान्त	Theories of punishment
अपराध	Crime
निवर्त्तनवाद	Preventive or deterrent theory
सुधारवाद	Reformative or educative theory
प्रतिकारवाद	Retributive theory
फाँसी की सजा	Capital Punishment
अपराध मानव विज्ञान	Criminal Anthropology
अपराध समाज विज्ञान	Criminal Sociology
दबी इच्छाएँ	Suppressed wishes
अचेतन	Unconscious
यौन-संबंधी इच्छाएँ	Sex-wishes
पुरस्कार	Reward
लक्ष्यहीन विचार	Deontological view
शांतवाद	Mollified view
अननुमोदन	Disapproval

उन्नीसवाँ अध्याय

व्यक्ति और समाज	Individual and society
व्यक्तिवाद	Individualism or Mechanical theory of society
यांत्रिक योग	Mechanical aggregate
पृथक	Isolated

पारिभाषिक शब्द	अँग्रेजी पर्याय
समाजवाद	Socialism or Collectivism or organic theory
सामान्य भाषा	Common language
सामाजिक संस्थान	Social institution
आदर्शवाद	Idealistic view of society
जैविक एकता	Organic unity





बाह्य शक्ति द्वारा नियंत्रित नहीं हैं। हम अपने ही द्वारा नियंत्रित हैं, अपने चरित्र द्वारा। इस तरह हम पाते हैं कि मनुष्य विभिन्न विकल्पों में से किसी एक को चुनने में स्वतन्त्र है। यदि वह स्वतन्त्र नहीं रहता तो कर्मों की जिम्मेदारी उस पर नहीं होती। पर कर्मों का दायित्व कर्त्ता पर रहता है। हम कर्मों की प्रशंसा या निन्दा करते हैं। कर्मों के लिए पुरस्कार या दण्ड है। कर्मों को अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ कहते हैं। ये सारी बातें तभी अर्थपूर्ण होंगी जब हम मानव में संकल्प-स्वातन्त्र्य को मान लें। संकल्प-स्वातन्त्र्य के अभाव में नैतिकता का अर्थ ही नहीं रह जाता। डी० आर्की ने ठीक ही कहा है कि संकल्प-स्वातन्त्र्य नैतिकता का आधार है।

कुछ नैतिक चिन्तकों के अनुसार हमारे कर्म बाह्य परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित होते हैं। उनका होना निश्चित है, हमारी इच्छा पर नहीं। इस विचार को नियतिवाद कहते हैं। यह सिद्धान्त नैतिकता का अन्त कर देता है। यदि हम वातावरण एवं बाह्य परिस्थितियों के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते, यदि कर्म करने में हम स्वतन्त्र नहीं हैं, तो कर्मों का दायित्व या उसकी जिम्मेदारी हम पर नहीं रहती। वैसी हालत में हम निर्जीव वस्तुओं तथा यन्त्रों से श्रेष्ठ नहीं हैं। हमारे कर्म तब नीति-शून्य हो जाते हैं। उन्हें अच्छा-बुरा कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। हमें अपने कर्मों के लिए प्रशंसा या निन्दा नहीं मिलनी चाहिए। कर्मों के लिए पुरस्कार या सजा देना भी तब निरर्थक हो जाता है। कर्मों की प्रशंसा सिर्फ उसी अर्थ में की जा सकती है जिस अर्थ में हम प्राकृतिक वस्तुओं के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं। नैतिक अर्थ में कर्मों की प्रशंसा या निन्दा अर्थहीन हो जाती है। किसी व्यक्ति को दण्ड देना भी तब न्याय-संगत नहीं लगता; क्योंकि कार्य के लिए वह उत्तरदायी नहीं है। जो कुछ उसने किया उसने अपनी स्वतंत्र इच्छा से नहीं किया बल्कि वैसा होना तो पूर्व निश्चित था। कर्मों पर उसका अधिकार नहीं रहता।

मानव आचरण के नियंत्रण एवं सुधार का प्रश्न भी निरर्थक हो जाता है। हम कहते हैं कि हमें अपने आचरण को सुधारना चाहिए। पर यदि कर्म करने में हम स्वतंत्र नहीं हैं तब हम अपने आचरण को कैसे सुधार सकते हैं ?

नियतिवाद पश्चात्ताप को भी निरर्थक कर देता है। बुरे कर्म करने के बाद हम पश्चात्ताप करते हैं। इसका अर्थ है कि हम सोचते हैं कि जैसा हमने किया वैसा हम नहीं भी कर सकते थे। यदि हम चाहते तो बुरे कर्म को नहीं करते। इसी विचार के कारण हम अपने बुरे कर्मों के लिए पश्चात्ताप करते हैं। इसका अर्थ है कि कर्म करने में हमारी स्वतंत्र इच्छा रहती है। पर नियतिवाद को मान लेने से पश्चात्ताप का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मनिर्धारण या संकल्प-स्वातंत्र्य नैतिकता की एक आवश्यक मान्यता है। डॉ० मार्टिन्यू का कहना है कि नैतिक निर्णय के लिए मानव में दो विकल्पों में से एक को चुन लेने की शक्ति होनी चाहिए। यदि संकल्प-स्वातंत्र्य सत्य नहीं है तो नैतिक निर्णय एक भ्रम हो जाता है।[1] कांट भी नैतिकता के लिए संकल्प-स्वातंत्र्य को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार 'चाहिए' के साथ 'सकना' जुटा रहता है।[2] हमें ऐसा करना चाहिए का अर्थ है कि यदि हम चाहें तो ऐसा कर सकते हैं। अर्थात् हम ही अपने कर्म के निर्धारक हैं। हम चाहें तो किसी कार्य को कर सकते हैं और चाहें तो नहीं भी कर सकते। 'चाहिए' का यही अर्थ है। यदि हम यह स्वीकार करें कि मनुष्य संकल्प या इच्छा करने में स्वतन्त्र नहीं है तो कर्त्तव्य, जिम्मेदारी, न्याय आदि प्रत्यय अर्थहीन हो जाते हैं जैसा कि वे मानवेत्तर प्राणियों के लिए अर्थहीन हैं। अतः नियतिवाद नैतिकता का अन्त कर देता है। नैतिकता तभी सम्भव है जब हम संकल्प-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करें।

संकल्प-स्वातन्त्र्य का अर्थ अनियतिवाद नहीं है। अनियतिवाद के अनुसार मनुष्य में विभिन्न विकल्पों में से अकारण किसी एक को चुन लेने की शक्ति है। आत्मा बिल्कुल स्वतन्त्र है। हमारा संकल्प अकारण होता है। किसी भी पूर्वगामी स्थिति से उसका कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता। मनुष्य का संकल्प आन्तरिक या बाह्य किसी शक्ति द्वारा नियन्त्रित नहीं होता। किसी समय कोई मनुष्य किस विकल्प को चुनेगा यह नहीं कहा जा सकता। विभिन्न विकल्पों में से किसी एक को चुनने में मनुष्य अन्तः या बाह्य किसी शक्ति द्वारा नियंत्रित नहीं होता। हम किसी मनुष्य के चुनाव के सम्बन्ध में भविष्यवाणी नहीं कर सकते। उसका संकल्प बिल्कुल स्वतंत्र एवं अकारण होता है।

स्वतंत्रता का यह अर्थ नैतिकता के लिए घातक है। यदि मनुष्य अकारण अनियंत्रित रूप से संकल्प करता है तो उसका जिम्मेदारी उस पर नहीं रहती और जब उस पर संकल्प की जिम्मेदारी नहीं होती तो उस पर नैतिक निर्णय भी नहीं किया जा सकता। रैशडेल ने ठीक ही कहा है कि अनियतिवाद जिम्मेदारी को समाप्त कर देता है।[3] इस मत के अनुसार स्वतन्त्र कार्य एक बिल्कुल नवीन कर्म

1. "Either free will is a fact, or moral judgement is a delusion."
—Martineau : Types of Ethical Theory, Vol II, P. 40
2. "Thou oughtest, therefore, thou canst."—Kant.
3. "Not only is Determinism not inconsistent with responsibility, but it may even be maintained with much force that it is Indeterminism which really undermines responsibility".
—Rashdal : Theory of Good & Evil, vol II, P. P. 335-36